सूची

पुस्तक लेखक का अन्तिम-निवेदन

इस ससाररूपी गहन वन में इस ससारी जीव को भला-करने-वाला केवल एक धर्म है। धर्म अवलम्बन से ही आत्मा में अच्छे गुणो का विकास होता है और अशान्ति, अधीरता, ईर्ष्या, दम्भ कपट आदि कुत्सित भाव भाग जाते हैं व शाति, धैर्य, सत्य, उपकार आदि उज्ज्वल गुणो प्रादुर्भाव होता है। इस कारण आत्मिक उन्नति करने के लिए **धर्म का साधन** एक बहुत कार्य है।

ससार की अनेक योनियो की अपेक्षा इस मनुष्य योनि के भीतर आकर आत्मा को साधना के लिए सबसे अच्छा, सुलभ मौका मिलता है क्योकि धर्म साधन के सभी साधन जीव इस योनि में मिल जाते हैं जो कि देवयोनि में भी दुर्लभ हैं। इस कारण मानव शरीर पाकर साधन सरीखा आवश्यक कार्य अवश्य करना चाहिये।

किंतु जहाँ पर जिस वस्तु की बिक्री बहुत होती है वहाँ पर असली माल के साथ झूठे भी सस्ते भाव में बिकने के लिए आ जाते हैं। सस्तेपन का प्रलोभन लोगों को अन्धा बना दे है। इस कारण असली माल को छोडकर झूठे माल को भी लोग खरीदने लग जाते हैं। धर्म विषय में भी ठीक ऐसी ही बात है। धर्म की खपत (बिक्री) भी मानव शरीर धारियो में ही बहुत है है।इस कारण धर्म के नाम पर नकली माल भी यहाँ बिकता रहता है।

इस दशा में बुद्धिमान् पुरुष का मुख्य कार्य यह होता है कि वह प्रलोभन जाल में न फसे, खोटे की परीक्षा करे, सदा प्रकाशमान उज्ज्वल जवाहिरात का ग्राहक बने, वह चाहे उसको पु महगा ही क्यो न दीखे। हाँ ! यदि शक्ति न हो तो थोडा ही खरीद करे किंतु खरीद सच्चे की ही करे जिससे कभी छोडने, पछताने, धोखा खाने की आवश्यकता न हो।

परख करने पर जब धर्मों में जैन धर्म सच्चा जवाहिर ठहरता है तो बुद्धिमान का काम है इसी धर्म का अनुयायी बने। कठिन आचरण प्रतीत हो तो थोडा शक्ति अनुसार पालन करे।

विकराल काल प्रवाह से इस उज्ज्वल जैन धर्म के भीतर भी विभाग हो गये हैं जो कि में तो केवल साधुओ के नग्न रहने तथा वस्त्र पहनने के ही पक्ष पर खडे हुए थे किन्तु आगे-होने वाले कुछ महाशयो की ऐसी कृपा हुई कि उन्होंने जैन ग्रथों को निन्दापात्र बनाने के अनेक जैनग्रथों में उन खराब बातों को मिला दिया जो कि न केवल जैन धर्म की दृष्टि से ही इतर धर्मों की दृष्टि से भी अनुचित ठहरती हैं।

अब बुद्धिमान पुरुष वह है जो जैन ग्रथो में से उन बातों को खोज निकाले जिनसे जैन को धब्बा लगता है।

हमने यह पुस्तक इसी कारण तैयार की है कि हमारे श्वेताम्बर भाई जो बहुत दिनों बिछुडे हुए हैं वे, अपने उन ग्रन्थो का ध्यान से निष्पक्ष होकर अवलोकन करें। जो बातें उन्हें अनुचित दीखें, पाखण्ड प्रेमियो की मिलाई हुई मालूम हो उन्हें ग्रथो में से दूर करने का उद्योग करें यदि किसी बात को हमने गलत समझा हो तो हमको समझावे।

लेखक का परिचय दिगबंर जैन समाज को है। हाल में वे मुलतान रहते हैं और व्यापार करते हैं। आपका जन्म स्थान आगरे के पास चावली ग्राम है। आपने धर्म शास्त्र का अध्ययन मोरेना में रहकर अच्छा किया है और सस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान् हैं। कुछ दिन जैन गजट का सपादन किया है और कुछ दिन बबई में रहकर एक मासिक पत्र स्वतन्त्रता से चलाया था। मुलतान की तरफ श्वेताबर साधुओ का आना-जाना अधिक रहता है। उनके द्वारा दिगम्बर सम्प्रदाय पर झूठे आक्षेप किये जाते हैं और कुछ श्वेताबर ग्रथकारों ने भी दिगबर मत की बहुतसी बातों का यद्वा-तद्वा खडन कर सकुचित बुद्धि का परिचय दिया है। यह बात इस पुस्तक के बाचने से मालूम होगी। इसलिए भी यह समीक्षा लिखने का कारण उपस्थित हो गया जान पडता है। परंतु इस निमित्त से सारे ही समाज को लेखक ने जो वह उपकार पहुचाया है यह स्तुत्य है।

वशीधर पडित

प्रास्ताविक दो शब्द

श्रीमान् प अजितकुमारजीने इस पुस्तक को तैयार कर समाज की एक कमी को बहुत अशों में पूरा कर दिया है। इसमें कौन–कौन सी बातों पर प्रकाश डाला गया है यह ज्ञान प्रकरण सूची के देखने से हो जायगा, उन प्रकरणो को पृष्ठवार आगे दिखाया है। उन प्रकरणों के बीच–बीच में और भी उपप्रकरण हैं वे पुस्तक पढते समय नजर आवेंगे। इस परिश्रम के लिए हम लेखक को धन्यवाद देते हैं और इस धार्मिक नि स्वार्थ सेवा का आदर समाज में भी हुए बिना न रहेगा ऐसी हमें आशा है।

आजकल प्रेम के और एकता के गीत बहुत कुछ गाये जाते हैं तथा हम भी खास कर श्वेताबर समाज के साथ अपना प्रेमपूर्ण व्यवहार रखने की आवश्यकता समझते हैं। परतु गलती को जताना भी प्रेम के बाहिर का कर्तव्य नही है। दिखाये बिना, गलती अपने आप नजर में नही आती। इसलिए गलती को दिखाना एक सुधार का तरीका है। हम आशा करते हैं कि इस पर से समाज नाखुश न होकर लेखक के श्रम का आदर ही करेगा।

* * *

लेखक की इच्छा है कि जो प्रमाद से अथवा अज्ञान वश लिखने में गलती हुई हो उन्हें जो भाई सूचित करेंगे उनको हम आगामी सस्करण में सुधार देगे। लेखक की इस सदिच्छा का भी विद्वान् लोग सदुपयोग करेंगे ऐसी हमें आशा है। **"सर्व सर्व ञानाति"** यह ठीक है, परन्तु इस पुस्तक पर से यह भी पता चल जायेगा कि श्वेताबर समाज ने जैन धर्म के उच्च आदर्श को मलिन कर दिया है, इसमें सदेह नही है।

उत्कृष्ट ध्येय में अपवाद रहना भी सभव है, परतु अपवादो की भी सीमा होती है। अपवाद के नाम पर विरुद्ध आचार का समावेश कर डालना निष्पक्ष वृत्ति नही कहावेगी। जैन साधु को उत्कृष्ट दर्जे का जिनकल्पी नाम दिया वह तो स्वरूपानुरूप है परतु दूसरे स्थविर कल्प की कल्पना को खडी कर उसको गृहस्थ से भी अधिक कपडे और आहार व्यवहार में घेर देना यह सीमा का अतिरेक है। इसका पुस्तक मे काफी खुलासा किया गया है।

वाणभट्ट नें "श्रीहर्षचरित" काव्य लिखा है, उसके दूसरे उच्छ्वास पृष्ठ ३१ में, क्षमा धारियों में जिन को श्रेष्ठ दिखाते हुए "जिन क्षमासु" ऐसा लिखा है। और आगे ८ वें उच्छवास पृष्ठ ७३ में श्वेताबर तथा दिगम्बर साधुओ को दिखाते हुए श्वेताम्बरों को "श्वेतपट" शब्द से लिखा है और दिगम्बरो को "अर्हत्" शब्द से लिखा है। देखो, "तेषा तरूणा मध्ये नानादेशीयै स्थानस्थानेषु स्थाणूनाश्रितै तरूमूलानि निपेवमाणैर्वीतरागैरार्हतैर्मस्करिभि श्वेतपटै पाण्डुरभिक्षुभिर्भागवतैर्वर्णिभि "

अर्थात् राजा ने जगल में जुदे–जुदे धर्म वाले तपस्वियों को देखा, उनमें वीतराग आर्हत थे और श्वेतपट भी थे। अर्हत तथा श्वेतपट के बीच में मस्करी नाम आ जाने से "अर्हत" साधु श्वेत पटों से एक जुदे ठहरते हैं। अर्थात् वाणभट्ट के समय में श्वेताम्बर भी थे परन्तु वे अर्हत न कहाकर श्वेतपट कहाते और अर्हंत का वारसा दिगम्बरो को ही प्राप्त था, यह अर्थ सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है। विद्वानों की अब भी यही समझ है।

यह समय धार्मिक प्रचार के लिए अच्छा उपयुक्त है, इस समय मिलकर प्रचार करें जैन धर्म को एक बार फिर से विश्व धर्म बनाने का शुभ उद्योग करें।

मेरी स्वल्प बुद्धि में जो कुछ आप श्वेताम्बर भाइयो को सुधारने और विचारने के उपयुक्त एव आवश्यक दीख पडा वह आपके सामने रखा है। मेरे लिए भी यदि आपको प्रकार की कोई सुधारणीय एव विचारणीय बात मालूम हो तो आप मेरे सामने रखें। दृष्टिगो भूलों को सुधारना और सुधरवाना ही बुद्धि और हितैषी विचार का सदुपयोग है।

इति शम्

■

श्रीजिनदेवाय् नम ।

श्वेताम्बर मत समीक्षा

* * *

देव वंदना

गद्वेष क्षुधा तृषादिक ध्यान से खलु कर्म हन,
अर्हन्तपद पाया अतुल जो अरु अनन्त सुशर्मधन।
र रस से पूर्ण केवलज्ञान युत अभिराम है,
उस अजितवीर जिनेश को मम बार–बार प्रणाम है ।।१।।

शारदाविनय

युक्तियों से जो अखडित दयाधर्म प्ररूपिणी,
पूर्वपर अविरोध भूषित सर्व तत्त्व निरूपिणी।
भ्रात सुभव्य जनको दे सदा शुभ धाम है,
उस वीरवाणी शारदा को बार–बार प्रणाम है ।।२।।

गुरुस्तवन

व्याधि उपाधि सब आमूल से जो त्याग कर,
निज आतम में लवलीन रहते श्रेय समता भाव धर।
श भी जिनके परिग्रह का नही सपर्क है,
वो ही दिगम्बर वीतरागी पूज्य गुरु आदर्श है ।।३।।

आचार्य श्री शान्तिसागर

ष्ट तप चारित्र धारी ज्ञानसिन्धु अगाध हैं,
मुनिरत्न जिनके शिष्य निरूपधित् वीर सागर आदि हैं।
न्धुतारक तमनिवारक शान्ति के आगार हैं,
आचार्य वर श्री शान्ति सागर धर्म के पतवार हैं ।।४।।

उद्देश्य

असत् निर्णय हेतु इस सद् ग्रथ का प्रारम्भ है,
निन्दा प्रशसा से न मतलब, नही द्वेष दभ है।
र्ग तो आदेय अरु है हेय जो उत्पथ सदा,
कर्तव्य सज्जनका यही ,जो गहै शु'र मग सर्वदा ।।५।।

■

प्रथम परिच्छेद

पीठिका

समस्त ससार के वदनीय, समस्त जगत के कल्याण विधाता, अनत शक्ति सम्पन्न, विश्वदर्शक बोध विभूषित, अनुपमसुखमडित, अनन्तगुण गण कलित, जिनेन्द्र, अर्हन्त, भगवान, परमेश्वर आदि अनेक नामो से सम्बोधित परमपवित्र आत्मधारक देवका अन्त करण से स्मरण, वन्दना करके मैं ग्रथ प्रारम्भ करता हू।

इस विकट ससार अटवी के भीतर जन्म, जरा, मरण आदि व्याधियो के द्वारा रात-दिन सताये गये सासारिक जीवो का उद्धार करने के लिए यद्यपि शरणदायक अनेक धर्म विद्यमान है, किन्तु वे सभी एक दूसरे से विरुद्ध मार्ग बतलाते है इस कारण उनमे से सच्चा कल्याणदायक धर्म कोई एक ही हो सकता है, सभी नही। धर्मो की सत्यता की परीक्षा कर लेने पर मालूम होता है कि प्रत्येक जीव को सच्ची शान्ति, एव सच्चा सुख देने वाला यदि कोई धर्म है तो वह जैन धर्म है, इस कारण वह ही सच्चा धर्म है। "अहिसा" भाव जो कि समस्त ससार का माननीय प्रधान धर्म है, इसी जैन धर्म के भीतर पूर्ण तौर से विकसित रूप मे पाया जाता है।

काल की कराल कुटिल प्रगति से इस जैन धर्म के भी अनेक खड हो गये है और वे भी परस्पर दूसरे के विरुद्ध मोक्ष साधन की प्रक्रिया बतलाते हैं। इस कारण जैन धर्म के भीतर भी सत्य, असत्य मार्ग खोज करने की आवश्यकता सामने आ खडी हुई है। बिना परीक्षा किये ही यदि कोई मनुष्य जैन धर्म का धारक बन जावे तो सभव है कि वह भी सत्य मार्ग से बहुत दूर रह जावे।

इस कारण इस ग्रथ मे जैन धर्म परिपालक सप्रदायो की सत्यता, असत्यता का दिग्दर्शन कराया जायगा।

इन कारणो से बाध्य होकर ही यह ग्रथ लिखा गया है। जैन धर्म के सत्य स्वरूप के जिज्ञासु तथा निष्पक्ष हृदय से धार्मिक तत्त्व की खोज करने वाले हमारे दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के सज्जन शान्तिपूर्वक इस ग्रथ का अवलोकन करके गुण ग्रहण और दोष वर्जन करेगे, ऐसी प्रार्थना तथा आशा है।

इस ग्रंथ के निर्माण मे निम्नलिखित ग्रंथो से सहायता प्राप्त हुई है।

१- सशयवदन विदारण
२- गोम्मटसार
३- षटपाहुड
४- कल्पसूत्र- (श्वेताम्बरीय)
५- भगवती सूत्र "
६- आचाराग सूत्र "
७- प्रवचन सारोद्धार "
८- तत्वार्थाधिगमभाष्य "
९- तत्वनिर्णय प्रासाद "

१०- जैनतत्त्वादर्श
११- भगवान् महावीर आर महात्मा बुद्ध
१२- बगाल बिहार प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक
१३- जैन सिद्धान्त भास्कर

श्री ऐलक पन्नालाल दि जैन सरस्वती भवन का तथा उसके भूतपूर्व दशम प्रतिमाधारी ब्र ज्ञानचद जी, प्रबन्धक श्रीमान् प नन्दनलाल जी वैद्य का भी बहुत आभार है क्योकि आप की कृपा से ही भगवती सूत्र, तत्त्वार्थाधिगमभाष्य (श्वेताम्बर) ग्रथो के अवलोकन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अलीगज निवासी श्रीमान् बाबू कामताप्रसाद जी को भी अनेक धन्यवाद है। आपने भी समय पर प्राचीन जैन स्मारक पुस्तक भेजने का कष्ट उठाया था।

सबसे अधिक सहायता हम (स्थानीय) उस स्वर्गीय (श्रीमान् ला देवीदास जी गोलच्छ के उदार चेता सुपुत्र) ला शभु राम जी की समझते हैं जो कि स्थानीय दि जैन मदिर जी के शास्त्र भडार में प्रख्यात श्वेताम्बरीय ग्रथो को रख गये है और उन पर अनेक दृष्टव्य विषयो को चिह्नित कर गये हैं।

इन सबके सिवाय हम स्थानीय जैन सिद्धान्त के मार्मिक ज्ञाता श्रीमान् ला चोथराम जी सिधी का नाम भी नही भुला सकते जिनकी सतत तीव्र प्रेरणा से यह ग्रथ प्रारम्भ किया गया था। आप इस समय दिगम्बर जैन ओसवाल समाज के गणनीय नररत्न है। आपने दिगम्बर जैन ओसवाल समाज के प्रधान वृद्धिकर्त्ता स्वर्गीय प घनश्याम दास जी सिधी के अनुरोध से दिगम्बर जैन धर्म की परीक्षा की ; तदनन्तर श्वेताम्बर जैन धर्म को छोडकर दिगम्बर जैन धर्म धारण किया है।

यह ग्रथ सत्य-असत्य निर्णय के लिए लिखा गया है इस कारण प्रत्येक सज्जन, चाहे वह दिगबर हो या श्वेताबर, इस ग्रथ का एक बार अवश्य अवलोकन करे, परनिदा को हम दुर्गतिका कारण समझते है ओर असत्य निन्दा को अनन्त ससार का कारण घृणित कार्य मानते है किंतु सत्य असत्य का निर्णय सम्यग्ज्ञान एव सुगति का कारण मानते है, इसी लक्ष्य से इस ग्रथ को लिखा है। यदि कोई सदाशय विद्वान् किसी स्थल पर हमारी कोई त्रुटि बतला देगे, तो हम उनके कृतज्ञ होगे।

उस अनत सुख राशि में विराजमान, विश्व प्रकाशक, अचल ज्ञान ज्योति से विभूषित, अनतशक्ति सम्पन्न श्री १००८ जिनेंद्र भगवान् के भक्ति प्रसाद से एवं उनके स्मरण और ध्यान से प्रारम्भ ग्रथ समाप्त हुआ है।

ग्रथ का प्रारम्भ चैत्र शुक्लापचमी वीर स २४५३ के दिन श्री दि जैन मदिर डेरा गाजीखान में हुआ था और समाप्ति स्थानीय (मुलतान के) दि जैन मदिर मे आज मगसिर शुक्ला ५ मगलवार वीर स २४५४ के प्रात समय हुई है।

अजित कुमार शास्त्री

चावली- (आगरा), वर्तमान-मुलतान नगर

आद्य-वक्तव्य

विचारचतुरचेता पाठक महानुभाव! जैन धर्म का प्रखर प्रतापशाली सूर्य किसी समय न केवल इस भारतवर्ष में किन्तु अन्य देशों में भी कुपथ विनाशक प्रकाश पहुचा रहा था। जिस यूनान देश में आज जैन धर्म का नामोनिशान भी शेष नहीं, किसी समय उस यूनान देश में जैन ऋषिवरों ने जैन धर्म का अच्छा प्रचार किया था। जैन धर्म का वह मध्याह्न समय बीत चुका ।अब वह जैन धर्म की गरिमा पूर्ण महिमा केवल सत्यान्वेषी विद्वानों के निर्माण किये हुए ऐतिहासिक ग्रथों में ही नेत्र गोचर हो सकती है।

जैन धर्म का आधुनिक मद प्रकाश उसके सायकालीन प्रकाश को प्रकाशित कर रहा है। इस समय उस दिवाकर में इतना भी प्रताप नही दीख पडता कि वह अपने जैन मडल को भी पूर्ण तौर से अपने प्रकाश का परिचय दे सके। जैन धर्म के इस शोचनीय प्रसग के यद्यपि अनेक निमित्त पिछले समय में सफलता पा चुके हैं। किन्तु अध पतन का प्रधान एव प्रथम कारण यह हुआ कि आज से लगभग २१००-२२०० वर्ष पहले सगठित जैन समुदाय में द्वादशवर्षीय दुष्काल का निमित्त पाकर दिगम्बर तथा श्वेताबर रूप दो विभाग हो गये। कोई भी सगठित सघ जब पारस्परिक विरोध लेकर दो विभागो में उठ खड़ा होता है, उस समय उस सघ की गरिमा, महिमा, विस्तार, प्रचार, प्रभाव, प्रकाश, कीर्ति आदि गुण सदा के लिए कितने फीके पड जाते हैं इसको सब कोई समझता है। तदनुसार जैन समुदाय की क्रमश हीन अवस्था होते हुए यह अवनत दशा हो गई है कि जो अपने पहले समय में ससार के कलह, विवाद, झगडो को शान्त करने के लिए न्यायाधीश का काम करता था, विश्व को शान्ति प्रदान करता था वह जैन सघ आज , पारस्परिक अशान्ति का गणनीय क्षेत्र बना हुआ है। अपने धार्मिक अधिकारों का निर्णय कराने के लिए दूसरों के द्वार खटखटाता फिरता है।

अवनतिके इस (सघभेद) निमित्तपर प्रकाश डालने के लिए तथा श्वेताबर सम्प्रदाय के निष्पक्ष निर्णयेच्छु सज्जनो के अवलोकनार्थ कुछ लिखने की इच्छा पहले से ही थी जो कि तीन कारणों से और भी जाग्रत हो उठी है।

१- अनेक श्वेताबरीय विद्वानो ने निष्पक्ष युक्तियों से नही किंतु अनुचित, असत्य युक्तियो से दि जैन सिद्धातों पर अपने ग्रथो में आक्षेप किए हैं जो कि श्वेताबरी भोली जनता में भ्राति उत्पन्न कर रहे हैं।

२- कतिपय अजैन विद्वानों ने श्वेताबरीय ग्रथों में माँसभक्षण आदि अनुचित विधान देखकर जैन धर्मकी निंदा करना प्रारम्भ कर दिया था, जिनका कि खुलासा उत्तर देकर जैन धर्म से कलक दूर करना भी आवश्यक था।

३- हमारे अनेक दिगम्बरीय भ्राता भी, श्वेताबरीय-दिगम्बरीय सिद्धातों के विवादापन्न भेद से अनभिज्ञ हैं। उनको परिचय कराने के लिए स्थानीय दिगम्बरीय ओसवाल भाइयों की प्रबल प्रेरणा थी।

इनके सिवाय तात्कालिक कारण एक यह भी हुआ कि सोलापुर से वहाँ के प्रधान पुरुष धर्मवीर रा बा श्रीमान् सेठ रावजी सखाराम दोशी की सम्पादकीय में प्रकाशित होने वाले मराठी भाषा के जैनबोधक में (वीर स २४५३ चैत्र मास के अक में) श्रीमान् प जिनदासजी न्यायतीर्थ

सोलापुर का एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें उन्होने एक अजैन विद्वान् के लेख का प्रतिवाद करते हुए लिखा था कि "दिगम्बर जैन शास्त्रो में मॉस भक्षण विधान नही है"। उस अजैन विद्वान् ने अपनी लेखमाला मे एक स्थान पर श्वेताम्बरीय आचाराग सूत्र ग्रथ के ६२९ वें तथा ६३० वें सूत्र का प्रमाण देते हुए यह लिखा था कि अहिसा धर्म के कट्टर पक्षकार जैनधर्म के धारक साधु भी पहले समय में मॉसभक्षण करते थे।

अजैन विद्वानो द्वारा श्वेताम्बरीय शास्त्रो के आधार से जैन धर्म की ऐसी निन्दा होते देखकर हमारी वह इच्छा और भी प्रबल हो गई कि जनता के समक्ष सत्य समाचार रखना परम आवश्यक है जिससे कि सच्चे जैनधर्म का असत्य अपवाद न होने पावे।

जैन समाज इस समय तीन सम्प्रदायो में विभक्त (बँटा हुआ) है। दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी। इनमे से श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी सम्प्रदाय के भीतर सिद्धान्त की दृष्टि से कुछ विशेष भेद नही है। स्थूल भेद केवल यह है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय मूर्तिपूजक है अतएव जिनमदिर, जिनप्रतिमा तथा तीर्थक्षेत्रो को मानता है, पूजता है। किन्तु स्थानकवासी समाज जो कि लगभग ३०० वर्ष पहले श्वेताम्बर सम्प्रदाय से प्रथक हुआ है जिनमदिर, जिनप्रतिमा, और तीर्थक्षेत्र को न तो मानता है और न पूजता ही है, वह केवल गुरु और शास्त्र को मानता है।

किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय के साथ श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी सम्प्रदायो का सिद्धान्त की दृष्टि से बहुत भारी मतभेद है। इसलिए उसकी परीक्षा करना जरूरी है।

■

सच्चे देवका स्वरूप

धर्म की सत्यता, असत्यता की खोज करने के लिए तीन बातें जॉच लेनी आवश्यक हैं देव, शास्त्र और गुरु। जिस धर्मका प्रवर्तक देव, उस देवका कहा हुआ शास्त्र तथा उस धर्म का प्रचार करने वाला, गृहस्थ पुरुषों द्वारा पूजनीय गुरु सत्य साबित हो वह धर्म सत्य है और जिस के ये तीनों पदार्थ असत्य साबित हो वह धर्म झूठा है। इस कारण यहाँ पर इन तीनो जैन सम्प्रदायो के माने हुए देव, शास्त्र, गुरु की परीक्षा करते हैं। उनमें से प्रथम ही इस प्रथम परिच्छेद मे देवका स्वरूप परीक्षार्थ प्रगट करते हैं।

दिगम्बर, श्वेताबर, स्थानकवासी ये तीनो सप्रदाय अर्हत और सिद्ध को अपना उपास्य (उपासना करने योग्य) देव मानते हैं। तथा "आठ कर्मोंको नष्ट करके शुद्ध दशाको पाए हुए जो परमात्मा लोकशिखर पर विराजमान हैं वे सिद्ध भगवान है और जिन्होने ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अतराय इन चार घाती कर्मो का नाश करके अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतसुख और अनतबल यह अनतचतुष्टय पा लिया है ऐसे जीवन्मुक्तिदशाप्राप्त परमात्मा को अर्हन्त कहते हैं।" यहाँ तक भी तीनो सम्प्रदाय निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं।

किंतु साथ ही अर्हत भगवान् के विशेष स्वरूप के विषय में तीनो सम्प्रदायो का परस्पर मतभेद है। दिगम्बर सम्प्रदाय अर्हत भगवान् के भूख, प्यास, राग, द्वेष, जन्म, बुढ़ापा, मरण, आश्चर्य, पीडा, रोग, खेद, (थकावट) शोक, अभिमान, मोह, भय, नीद, चिता, पसीना ये १८ दोष नही मानता है और न उनपर किसी प्रकार के उपसर्ग का होना मानता है। यानी–दिगम्बर सम्प्रदाय का यह सिद्धात है कि अर्हत भगवान् में १८ दोषरूप बातें नही पाई जाती हैं और न उनपर कोई मनुष्य, देव, पशु किसी प्रकार का उपद्रव ही कर सकता है।

श्वेताबर तथा स्थानकवासी सम्प्रदाय मे अर्हत भगवान् पर यद्यपि सिद्धात की अपेक्षा उपसर्ग का अभाव बतलाया है यानी इन दोनो सम्प्रदायो के सिद्धात ग्रथ भी "अर्हत भगवान् पर कोई उपद्रव नही हो सकता है" ऐसा कहते है किन्तु प्रथमानुयोग के कथा ग्रथ इस नियम के विरुद्ध भी प्रगट करते हैं जिस को हम आगे बतायेगे तथा १८ दोषो का अभाव भी अर्हन्त भगवान के बतलाते है किन्तु वे उन दोषो के नाम दिगम्बर सम्प्रदाय से भिन्न कहते है। प्रवचनसारोद्धार (शा भीमसिह माणक द्वारा बबई से वि स १९३४ मे प्रकाशित तीसरा भाग) के १२० वे पृष्ठ पर उनका नाम यो लिखा है–

> अन्नाण कोह मय माण लोह माया रईय अरईय।
>
> निद्द सोय अलिय वयण चोरीया मच्छर भयाय।।४५७।।
>
> पाणिवह पेम कीला पसग हासाइ जस्स इय दोसा।
>
> आड्डारसवि पणहा, नमामि देवाहिदेव त ।।४५८।।

अर्थात् अज्ञान, क्रोध, मद, मान, लोभ, माया, (कपट) रति (राग) अरति, (द्वेष) नींद, शोक, असत्य वचन, चोरी, ईर्ष्या, भय, हिसा, प्रेम, क्रीडा और हास्य ये अठारह दोष अर्हन्त के नही होते हैं।

इस विषय में दिगम्बर सम्प्रदाय के मान्य १८ दोष इस कारण ठीक ठहरते है कि अर्हन्त भगवान् के ज्ञानावरणकर्म नष्ट होकर जो अनतज्ञान (केवलज्ञान) प्रगट हुआ है उसके निमित्त से

आश्चर्य (अचभा यानी कोई अद्‌भुत बात जान कर अचरज होना) दोष नही रहता है। दर्शनावरण कर्म का नाश होकर अनन्तदर्शन उत्पन्न होने के कारण नीद (निद्रा) दोष नही रहता है। मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने से अर्हन्त के मोह की सब दशाए नष्ट हो जाती है तथा अनत सुख प्रगट होता है जिससे कि रचमात्र दु ख नही रहने पाता है। इस निमित्त से जन्म, भूख, प्यास, पीडा, रोग, शोक, अभिमान, मोह, भय, चिन्ता, राग, द्वेष, मरण ये १५ दोष अर्हन्त के नही होते हैं और अन्तराय नष्ट होकर अर्हन्त के जो अनन्तबल प्रगट होता है उसके कारण खेद, स्वेद, बुढ़ापा ये दोष नही रह पाते हैं।

परन्तु-श्वेताम्बर, स्थानकवासी सप्रदाय के बतलाये हुए १८ दोषो के भीतर प्रथम तो मद, मान ये दोनो तथा रति, प्रेम ये दोनो एक ही हैं। मद तथा मान का एक ही "अभिमान करना" अर्थ है। रति (राग) और प्रेम इनमें भी कुछ अन्तर नही। इस कारण दोष वास्तव में १६ ही ठीक बैठते हैं तथा असत्य वचन, चोरी और हिसा ये तीन दोष ऐसे हैं जो कि अप्रमत्त नामक सातवें गुण स्थान में भी नही रहते हैं। वैसे तो मुनि दीक्षा ले लेने पर ही हिसा, झूठ बोलना, चोरी करना इन तीनो पापो को पूर्ण रूप से मुनि त्याग कर देते हैं किंतु प्रमाद विद्यमान रहने के कारण कदाचित् अहिंसा, सत्य, अचौर्य महाव्रत में कुछ दोष भी लगता हो तो वह प्रमाद न रहने से सातवें गुणस्थान में बिलकुल नही रह पाता है। इस कारण जब कि सातवें गुण स्थानवर्ती मुनि के ही मन, वचन, काय की अशुभ प्रवृत्ति का त्याग हो जाने से हिंसा, असत्य वचन और चोरी नही रहने पाती है तो इन तीनो बातों का अभाव अर्हत भगवान् में बतलाना व्यर्थ है। अर्हत भगवान के तो उन दोषो का अभाव बतलाना चाहिए जो कि उनसे ठीक नीचे के गुण स्थान वाले मुनियो के विद्यमान, मौजूद हो। जो बात सातवें गुण स्थान वाले छद्मस्थ (अल्पज्ञ) मुनियों के भी नही हैं उस बात का अभाव केवली भगवान् के कहना निरर्थक है तथा-अठारह दोषो में भूख, प्यास, रोग आदि दोषो की उद्‌भूति मानने के कारण श्वेताबर, स्थानकवासी सप्रदाय के माने हुए अर्हत भगवान् के अनत सुख, अनतबल नही हो सकते हैं। इनको आगे सिद्ध करेंगे। इस कारण १८ दोषो का श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ठीक नही बनता है।

अर्हन्त भगवान् में अनन्त चतुष्टय के सद्‌भाव और अठारह दोषो के अभाव होने से वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशकता प्रगट होती है।

यानी-अर्हन्त भगवान् राग, द्वेष, मोह, आदि दोष न रहने के कारण वीतराग कहलाते हैं। तदनुसार वे किसी पदार्थ पर राग, द्वेष यानी प्रेम और वैर नही करते हे। केवलज्ञान हो जाने से वे समस्त लोक, समस्त कालकी सब बातो को एक साथ स्पष्ट जानते हैं। इस कारण वे सर्वज्ञ कहलाते हैं और इच्छा न रहने पर भी वचन योग के कारण तथा भव्यजीवो के पुण्य कर्मों के निमित्त से उन जीवो को कल्याण करने वाला उपदेश देते हैं इस कारण **हितोपदेशी** कहलाते हैं।

ये तीनो बातें दिगम्बरीय अभिमत अर्हन्त में तो बन जाती हैं किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायानुसार अर्हन्त भगवान् में **वीतरागता** तथा सर्वज्ञता नही बनती है। सो आगे दिखलावेगे।

इस प्रकार अर्हन्तदेवका ठीक-सच्चा स्वरूप दिगम्बर सम्प्रदाय के सिद्धान्त अनुसार तो ठीक बन जाता है किन्तु श्वेताम्बर, स्थानकवासी सम्प्रदाय के सिद्धान्त के अनुसार अर्हन्तदेव का सच्चा स्वरूप ठीक नही बनता।

क्या केवली कवलाहार करते हैं?

अब यहाँ इस विषय पर विचार चलता है कि अर्हन्त भगवान् जो कि मोहनीय कर्म का समूल नाश करके वीतराग हो चुके हैं, केवलज्ञान हो जाने से जिनको केवली भी कहते हैं, कवलाहार (हमारे तुम्हारे समान ग्रासवाला भोजन) करते हैं या नहीं। इस विषय में दिगम्बर सम्प्रदाय का यह सिद्धान्त है कि केवली भगवान् वीतरागी और अनन्त सुखधारी होने के कारण कवलाहार नही करते हैं। क्योंकि उनके 'भूख' नामक दोष नही रहा है। श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी सम्प्रदाय का यह कहना है कि केवली भगवान् के वेदनीय कर्मका उदय विद्यमान है इस कारण उनको भूख लगती है जिससे कि उनको भोजन करना पडता है। बिना भोजन किये केवली भगवान् जीवित नही रह सकते।

ऐसा परस्पर मतभेद रखते हुए भी तीनों सम्प्रदाय केवली भगवान् को वीतरागी और अनतसुखी निर्विवादरूप से मानते हैं।

इस समय सामने आये हुए प्रश्न का समाधान करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि भूख लगती क्यों है? किन-किन कारणों से जीवों के उदर में भूख आकुलता को उत्पन्न कर देती है? इस विषय में सिद्धान्तग्रथ गोम्मटसार जीवकाण्ड में यों लिखा है-

आहारंदसणेण य तस्सुवजोगेण ओम्मकोठाए।

सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णाओ।।१३४।।

अर्थात्- अच्छे-अच्छे भोजन देखने से, भोजन का स्मरण कथा आदि करने से, पेट खाली हो जाने से और असाता वेदनीय की उदीरणा होने पर आहार सज्ञा यानी भूख पैदा होती है।

इन चार कारणों में से अतरग मुख्य कारण असाता वेदनीय कर्मकी उदीरा (अपक्वपाचन उदीरणा-यानी आगामी समय में उदय आने वाले कर्मनिषेकों को बलपूर्वक वर्तमान समय में उदय ले आना। जैसे वृक्ष पर आम बहुत दिन में पकता है उसे तोडकर भूसे के भीतर रखकर जल्दी पहले ही पका देना) है। बिना असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा हुए भूख लगती नही है।

इस कारण अर्हन्त भगवान् को यदि भूख लगे तो उनके असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा अवश्य होनी चाहिये। किन्तु वेदनीय कर्मकी-उदीरणा तेरहवें गुणस्थान में विराजमान अर्हन्त भगवान् के है नहीं। क्योंकि वेदमीय कर्मकी उदीरणा छठे गुणस्थान तक ही है, आगे नही है।

श्वेताम्बरीय ग्रथ प्रकरणरत्नाकर चतुर्थ भाग के षडशीतिनामक चौथे खड की ६४ वी गाथा ४०२ पृष्ठ पर लिखी है कि-

उइरंति पमत्तंता साङ्ग मीसट ट वेअ आड विणा।

छग अपमत्ताइ तऊ छ पच सुदुमो पण वसतो ।।६४।।

अर्थात्- मिश्र गुणस्थान के सिवाय पहले से छठे गुणस्थान तक आठों कर्मों की उदीरणा है। उसके आगे अप्रमत्त, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीन गुणस्थानों में वेदनीय और आयुकर्मके बिना ६ कर्मों की उदीरणा होती है। दशवें तथा ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीय, वेदनीय, आयु के बिना शेष पाँच कर्मों की उदीरणा होती है।

आगे की ६५ वीं गाथा इसी पृष्ठ पर यों है-

"पण दो खीण दुजोगीऽणुदीरगु अजोगिथोब उवसता।

यानी बारहवें गुणस्थान में अत समय से पहले ग्यारहवें गुणस्थान की तरह पाँच कर्मों की उदीरणा होती है। अत समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण,अतराय, मोहनीय, वेदनीय, आयु इन ६ कर्मों के सिवाय शेष नाम, गोत्र इन दो कर्मों की ही उदीरणा होती है। सयोग केवली १३ वें गुणस्थान में भी नाम, गोत्र कर्मकी ही उदीरणा होती है। १४ वें गुणस्थान में उदीरणा नही होती है।

इस प्रकार जब कि वेदनीय कर्मकी उदीरणा छटवें गुणस्थान तक ही होती है तो नियमानुसार यह भी मानना पडेगा कि भूख भी छठे गुणस्थान तक ही लगती है। उसके आगे के गुणस्थानो में न तो उदीरणा है और न इस कारण उनमें भूख ही लगती है।

तदनुसार जब कि तेरहवें गुणस्थानवर्ती अर्हन्त भगवान् को वेदनीय कर्म की उदीरणा न होने से भूख ही नही लगती फिर उस भूख को मिटाने के लिए वे भोजन ही क्यो करेंगे? यानी नही करेंगे,(क्योंकि कवलाहार (भोजन) भूख मिटाने के लिए ही भूख लगने पर ही किया जाता है। अन्यथा नही।)

इस कारण कर्मग्रथों के सिद्धान्त अनुसार तो केवली भगवान् के कवलाहार सिद्ध नही होता है। यदि फिर भी श्वेताम्बरी भाई वेदनीय कर्म के उदय से ही भूख लगती बतला कर केवली भगवान् के कवलाहार सिद्ध करेंगे क्यो कि केवली भगवान् के साता या असाता वेदनीय कर्म का उदय रहता है।यह सही नही है, क्योकि वेदनीय कर्मका उदय प्रत्येक जीव को प्रत्येक समय रहता है। सोते जागते कोई भी ऐसा समय नही कि वेदनीय कर्म का उदय न होवे, इस कारण आपके कहे अनुसार हर समय क्षुधा लगी ही रहनी चाहिये और इसको मिटाने के लिए प्रत्येक जीव को प्रत्येक समय भोजन करते ही रहना चाहिये। इस तरह सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवे गुणस्थान तक जो मुनियों के धर्मध्यान, शुक्लध्यान की दशा है उस समय भी वेदनीय कर्म के उदय होने मे आपके कहे अनुसार भूख लगेगी। उसको दूर करने के लिए उन्हें आहार करना आवश्यक होगा। इसीलिए उनके ध्यान भी नही बन सकेगा।

तथा केवली भगवान् के भी हर समय वेदनीय कर्म का उदय रहता है। इसलिए उनको भी हर समय भूख लगेगी जिसके लिये उन्हें हर समय भोजन करना आवश्यक होगा। बिना भोजन किये वेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हुई क्षुधा उन्हें हर समय व्याकुल करती रहेगी। ऐसा होने पर श्वेताम्बरी भाइयों का यह कहना ठीक नही रहेगा कि केवली भगवान् दिन के तीसरे पहर में एक बार भोजन करते हैं।

इसलिए मानना पडेगा कि भूख असाता वेदनीय कर्म की उदीरणा होने पर लगती है। यदि फिर भी इस विषय में कोई महाशय यह कहें कि वेदनीय कर्म का तीव्र उदय होने पर ही भूख लगती है। वेदनीय कर्म का जब तक मद उदय रहता है तब तक भूख नही लगती।

तो इसका उत्तर यह है कि भूख लगाने वाले वेदनीय कर्मका उदय केवली भगवान् के तीव्र हो नहीं सकता, क्योकि वे यथाख्यात चारित्र के धारक हैं तदनुसार उनके परिणाम परम विशुद्ध हैं। विशुद्ध-परिणामों में दुख देने वाले अशुभ कर्मों का उदय मद रहता है यह कर्म-सिद्धात अटल है। इसलिए केवली भगवान् के मोहनीय कर्म न रहने से परम पवित्र परिणाम रहते हैं और इस कारण से (आपके कहे अनुसार) भाव पैदा करने वाले अशुभ कर्म का बहुत मद उदय रहता है। इसलिए भी केवली भगवान् को भूख नही लग सकती जिससे कि वे कवलाहार भी नही कर सकते।

इसका उदाहरण यह है कि छठे, सातवें, आठवें तथा नवम गुण स्थान में (कुछ स्थानों में स्त्री, पुरुष, नपु सक भाव वेदो का मद उदय है, इस कारण उन गुणस्थान वाले मुनियों के विषय सेवन करने की इच्छा नही होती है। यदि वेदनीय कर्म के मद उदय से केवली भगवान् को भूख लग सकती है तो श्वेताम्बरी भाइयो को यह भी कहना पडेगा कि वेदो के मद उदय होने से छठे, सातवें आठवे, नवम, गुणस्थानवर्ती साधुओ के भी विषय सेवन की (मैथुन करने की) इच्छा उत्पन्न होती है। और इसी कारण उनके धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान नही है।

वेदनीयकर्म केवली के भूख उत्पन्न नहीं कर सकता. २

असाता वेदनीयकर्म के उदय से केवली भगवान को भूख इसलिए भी नही लग सकती कि उनके मोहनीय कर्म नष्ट हो चुका है। वेदनीय कर्म अपना फल मोहनीय कर्म की सहायता से ही देता है। मोहनीय कर्म के बिना वेदनीय कर्म वेदना उत्पन्न नही कर सकता। गोम्मटसार कर्म काड में लिखा है-

घादिव वेयणीय मोहस्स बलेण घाददे जीव।

इदि घादीण मज्झे मोहस्सादिम्मि पढिदतु ।।२८।।

अर्थात्- वेदनीय कर्म घाती कर्मो के समान जीव के अव्याबाध गुण को मोहनीय कर्म की सहायता से घातता है। इसी कारण वेदनीय कर्म मोहनीय कर्म के पहले एव घातिया कर्मो के बीच में तीसरी सख्या पर रखा गया है।

जबकि केवली भगवान् के मोहनीय कर्म बिलकुल नही रहा तब वेदनीय कर्म को सहायता भी कहाँ से मिल सकती है? और जब कि वेदनीय कर्मको मोहनीय कर्म की सहायता न मिले तब वह वेदना भी कैसे उत्पन्न कर सकता है? यानी-नही कर सकता।

मोहनीय कर्म जब रहता है तब साता वेदनीय के उदय से इन्द्रिय जनित सुख होता है जो कि राग भाव से वेदन किया जाता है और असाता वेदनीय कर्म के उदय से जो दुख होता है उसका द्वेष भाव से वेदन किया जाता है। केवली भगवान के जब कि राग द्वेष ही नही रहा तब इद्रिय सुख दुख रूप वेदन ही कैसे होवेगे? और जब दु ख रूप वेदन नही, फिर भूख कैसे लगे? जिससे कि केवली को भोजन अवश्य करना पडे। भूख का शुद्ध रूप बुभुक्षा है जिसका कि अर्थ "खाने की इच्छा" होता है। केवली के जब मोहनीय कर्म नही तब उनके खाने की इच्छा भी नही हो सकती। खाने की इच्छा उत्पन्न हुए बिना उनके भूख का कहना व्यर्थ तथा असभव है। इसलिए भी केवली के कवलाहार नही बनता है।

भूख लगे दुख होय अनतसुखी

कहिये किमि केवलज्ञानी ३

अन्य सब बातो को एक ओर छोड कर मूल बात पर विचार चलाइये कि अनत सुख के स्वामी अर्हत भगवान् को भूख लग भी कैसे सकती है? क्योकि भूख लगने पर जीवो को बहुत भारी दु ख होता है। केवल ज्ञानी को दु ख लेशमात्र भी नही है। इस कारण हमारे श्वेताम्बरी भाई या तो केवली भगवान् को "अनतसुखधारी" कहें-भूख वेदना से दुखी न बतलावें अथवा केवली को भूख की वेदना से दुखी होना कहें इसलिए अनन्तसुखी न कहें। बात एक बनेगी दोनो नही।

भूखकी वेदना कितनी तीव्र दु खदायिनी होती है इसको किसी कविने अच्छे शब्दों में यों कहा है–

आदौ रूपविनाशिनी कृशकरी कामस्य विध्वसिनी,
ज्ञानभ्रशकरी तप क्षयकरी धर्मस्य निर्मूलिनी।
पुत्रभ्रातृकलत्रभेदनकरी लज्जाकुलच्छेदिनी,
सा मा पीडति विश्वदोषजननी प्राणापहारी क्षुधा।

अर्थात्– (क्षुधा पीडित मनुष्य कहता है कि भूख पहले तो रूप बिगाड देती है यानी मुख की आकृति फीकी कर देती है, फिर शरीर कृश (दुबला) क्र देती है, काम वासना का नाश कर देती है, भूख से ज्ञान चला जाता है, भूख तपको नष्ट कर देती है, धर्म का निर्मूल क्षय कर देती है, भूख के कारण पुत्र, भाई, पत्नी में भेदभाव (कलह) हो जाता है, भूख लज्जा को भगा देती है, अधिक कहाँ तक कहें प्राणों का भी नाश कर देती है। ऐसे समस्त दोष उत्पन्न करने वाली क्षुधा (भूख) मुझे व्याकुल कर रही है।)

भूखे जीव की क्या दशा होती है, इसको एक कविने इन मार्मिक शब्दों में यों प्रगट किया है–

त्यजेत्क्षुधार्ता महिला स्वपुत्र,
खादेत्क्षुधार्ता भुजगी स्वमण्डम् ।
बुभुक्षित किं न करोति पापं,
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति।।

यानी – भूख से तडफडाती हुई माता अपने उदर से निकाले हुए प्रिय पुत्र को छोड देती है। भूख से व्याकुल सर्पिणी अपने ही अडो को खा जाती है। विशेष क्या कहें भूखा मनुष्य कौनसा पाप नही कर सकता? (यानी–सभी अनर्थ कर सकता है क्योकि भूखे मनुष्य निर्दय हो जाते हैं।

ऐसी घोर दुखदायिनी भूख परिषह यदि केवलज्ञानी को वेदनापन्न करे तो फिर केवली का अनन्तसुख क्या कार्यकारी होगा?

इसका उत्तर श्वेताम्बरी भाई देवें।

भूख अपनी दुखवेदना केवली को भी आपके अनुसार कष्ट तो देती है, क्योकि आप उनके क्षुधापरीषह नाम मात्र को ही नही किन्तु कार्यकारिणी भी बतलाते हैं। फिर जब कि केवली भूख की वेदना से दुखी होते हैं तब ठनको पूर्ण सुखी बतलाना व्यर्थ है। वे हमारे तुम्हारे समान अल्पसुखी ही हुए। जैसे हमको भूख, प्यास लगती है, खा पी लेने पर शान्त हो जाती है, आपके कहे अनुसार केवली की भी ऐसी ही दशा रही।

खात विलोकन लोकालोक,
देखि कुद्रव्य भखे किमि ज्ञानी ?

तथा अर्हंत भगवान् को समस्त लोक अलोक को हाथ की रेखा समान बिना उपयोग लगाये ही स्पष्ट जानने वाला केवल ज्ञान प्राप्त हो चुका है जिमके कारण वे लोक में भोजन के अन्तराय

उत्पन्न करने वाले अनन्त अपवित्र पदार्थों को प्रत्येक समय बिना कुछ प्रयत्न किये साफ देख रहे हैं फिर वे भोजन कर भी कैसे सकते हैं?

साधारण मुनि भी माँस, रक्त, पीव, गीला चमडा, गीली हड्डी, किसी दुष्ट के द्वारा किसी जीव का मारा जाना देखकर, शिकारी आततायी आदि द्वारा सताये गये जीवो का रोना विलाप सुनकर भोजन को छोड देते हैं फिर भला उनसे बहुत ऊँचे पद में विराजमान, यथाख्यात चारित्रधारी केवलज्ञानी अपवित्र पदार्थों को तथा दु खी जीवो को केवल ज्ञान से स्पष्ट जान कर भोजन किस प्रकार कर सकते हैं? अर्थात् अतरायें टालकर निर्दोष आहार किसी तरह नही कर सकते।

माँस, खून, पीव, निरपराध जीव का निर्दयता से कत्ल (वध) आदि देखकर भोजन करते रहना दुष्ट मनुष्य का कार्य है, क्या केवल ज्ञानी सब कुछ जान-देख कर भी भोजन करते हैं, सो क्या वे भी वैसे ही हैं?

केवलज्ञानी के असाता का उदय कैसा है?

कोई भी कर्म हो अपना अच्छा-बुरा फल बाह्य निमित्त कारणो के मिलने पर ही देता है। यदि कर्म की प्रकृति अनुसार बाहरी निमित्त कारण न होवें तो कर्म बिना फल दिये झड जाता है। जैसे किसी मनुष्य ने विष खाकर उसको पचा जाने वाली प्रबल औषध भी खा ली हो तो वह विष अपना काम नही करने पाता है।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार इस बात को यो समझ लेना चाहिये कि देवगति मे (स्वर्गों में) असाता वेदनीय कर्म का भी उदय होता है। अहमिन्द्र आदि उच्च पद प्राप्त देवो के भी पूर्व बँधे हुए असाता वेदनीय कर्म का स्थिति अनुसार उदय होता है किन्तु उनके पास बाहर के समस्त कारण-कलाप सुखजनक हैं इस कारण वह असाता वेदनीय कर्म भी दुख उत्पन्न नही करने पाता। साता वेदनीय रूप होकर चला जाता है।

तथा नरको में नारकी जीवो के समय अनुसार कभी साता वेदनीय कर्म का भी उदय होता है किन्तु वहाँ पर द्रव्य क्षेत्रादिकी सामग्री दु खजनक ही है इस कारण वह सातावेदनीय कर्म नारकीयों को सुख उत्पन्न नही कर पाता, दुख देकर ही चला जाता है।

एवं, तेरहवें गुण स्थान में यानी केवलज्ञानियो के ४२ कर्म प्रकृतियों का उदय होना जिनमें से अस्थिर, अशुभ, दु स्वर, अप्रशस्त विहायोगति तथा तैजसमिश्र आदि अनेक ऐसी अशुभ प्रकृतिया हैं जो कि उदय में तो आती हैं किन्तु बाहरी कारण अपने योग्य न मिल सकने के कारण बिना बुरा फल दिये चली जाती हैं। क्योकि अस्थिर प्रकृति के उदय से केवलज्ञानी के धातु उपधातु अपने स्थान से चलायमान होकर शरीर को बिगाडते नही हैं। (श्वेताम्बरीय सिद्धात के अनुसार) अशुभ नाम कर्मके उदय से केवलज्ञानी का शरीर खराब हो जाता है और दु स्वर प्रकृति के उदय से केवल ज्ञानी का असुन्दर स्वर हो जाता है। इत्यादि।

इसी प्रकार केवली भगवान् के यद्यपि असाता वेदनीय कर्म का उदय होता है किन्तु केवलज्ञानी के निकट दु ख उत्पन्न करने वाला कोई निमित्त नही होता है, सब सुख उत्पन्न करने वाले ही कारण होते हैं। अनन्त सुख प्रगट हो जाता है। इसी कारण वह असाता वेदनीय निमित्त कारणों के अनुसार सातारूप में होकर बिना दुख दिये चला जाता है।

श्री नेमिचन्द्राचार्य सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्ड ग्रंथ की २७३-२७५ वीं गाथाओ में कहा है कि-

समयट्ठिदगो बधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि।।२७४।।
तेण कारणेणदु सादस्सेव हु णिरंतरो उदओ।
तेणासादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि।।२७५।।

अर्थात्-[क्योंकि केवलज्ञानी के सिर्फ साता वेदनीय कर्म का बध एक समय स्थिति वाला होता है जो कि उस ही समय उदय आ जाता है। इस कारण उस साता वेदनीय के उदय के समय, पहले बध हुए असाता वेदनीय कर्म का यदि उदय हो तो वह भी साता वेदनीय के निमित्त से सातारूप होकर ही चला जाता है। इसी कारण केवलज्ञानी के सदा सातावेदनीय का उदय रहता है। अतएव असाता वेदनीय के उदय से होने योग्य क्षुधा आदि ११ परीषह नहीं हो पाते हैं।]

इस प्रकार कर्मसिद्धान्त से भी स्पष्ट सिद्ध हो गया कि केवलज्ञानी को न तो भूख लग सकती है और न वे उसके लिए भोजन ही करते हैं।

* * *

भोजन करना आत्मिक दुःख का प्रतीकार है

केवलज्ञान के प्रगट होने पर अर्हत भगवान् में अनन्त ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तबल यह अनन्त चतुष्टय प्रगट होता है जिससे कि केवलज्ञानी, अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शनधारी, अनन्तसुखी और अनन्त आत्मिकशक्ति सम्पन्न होते हैं। तदनुसार केवली भगवान् को कवलाहारी मानने वाले श्वेताबर सम्प्रदाय के समक्ष यह प्रश्न स्वयमेव खडा हो जाता है कि "जब केवलज्ञानी पूर्णतया अनन्त सुखी होते हैं तो फिर उनको भूख का दु-ख किस प्रकार हो सकता है जिसको कि दूर करने के लिए उन्हें विवश (लाचार) होकर साधारण मनुष्यों के समान भोजन अवश्य करना पडे?

इस प्रश्न का उत्तर यदि कोई श्वेताम्बरीय सज्जन यह दें जैसा कि कतिपय सज्जनों ने दिया भी है कि "केवली वास्तव में अनन्त सुखी ही होते हैं। उनके आत्मा को लेशमात्र भी दु-ख नहीं होता। अतएव वे उस दु ख का अनुभव भी नहीं कर सकते। हाँ केवली भगवान् को असाता वेदनीय कर्म के उदय से भूख अवश्य लगती है किन्तु वह भूख का दु ख शारीरिक होता है- उनके शरीरको दु ख होता है आत्मा को नही। इस कारण भूख लगने के समय भी केवली भगवान् अपने आत्मा के अनन्त सुख का अनुभव करते रहते हैं। जिस प्रकार ध्यान-मग्न साधु के ऊपर असह्य शारीरिक वेदना देने वाला उपसर्ग होता है किन्तु उनको वह दुख रंचमात्र भी नहीं मालूम होता। वे अपने आत्मा के अनुभव में लीन रहते हैं।"

श्वेताम्बरीय भाइयों का यह उत्तर भी नि सार है अतएव उपहासजनक है। क्योंकि भूख से यदि केवल ज्ञानी के आत्मा को असह्य कष्ट न होवे तो उनको भोजन करने की आवश्यकता ही क्या? भोजन मनुष्य तब ही करते हैं जब कि उनका आत्मा व्याकुल हो जाता है। किसी भी कार्य करने में समर्थ नहीं रहता। ज्ञान शक्ति विद्यमान रहने पर भी क्षुधा की असह्य वेदना से किसी विषय का विचार नहीं कर सकते।

इस कारण केवलज्ञानी को कवलाहारी माना जाय तो यह भी नि सन्देह मानना होगा कि उनको भूख का असह्य दु ख उत्पन्न होता है उसको दूर करने के लिए ही वे भोजन करते हैं। यह मानने से वे अनन्त, अविच्छिन्न सुख के अधिकारी नही माने जा सकते।

केवलज्ञानी को भूख कैसे मालूम होती है?

हम सरीखे अल्पज्ञ जीवों को तो भूख लगने पर बहुत भारी व्याकुलता उत्पन्न होती है। इस कारण हमारा मन हमको खबर दे देता है। उसकी सूचना पाते ही हम भोजन सामग्री एकत्र करने में लग जाते हैं। भोजन तैयार हो जाने पर आरम्भ कर देते हैं और तब तक खाते पीते रहते हैं जब तक हमारा मन शान्ति न पा ले। मनकी शान्ति देखकर हम खाना बद कर देते हैं।

इसी प्रकार केवल ज्ञानी को जब भूख लगे तब उन्हे मालूम कैसे हो कि उनको भूख लगी है? क्यों कि उनके मन (भावरूप) रहा नही है। इस कारण मानसिक ज्ञान नही। यदि वे केवल ज्ञान से अपनी भूख को जानकर भोजन करते हैं तो बात कुछ बनती नही क्योकि केवल ज्ञान से तो वे सब जीवों की भूख को जान रहे हैं। फिर वे औरो की भूख जानने के समय भी भोजन क्यो नही करते हैं? क्योंकि दोनों जानने बराबर हैं उनमें कुछ अतर नही, तथा जब उन्हें केवल ज्ञान से यह बात मालूम हो कि उन्हें भोजन अमुक घर का मिलेगा, फिर भिक्षाशुद्धि कैसे बनेगी ? एव भोजन ग्रहण करने वे स्वय जाते नही। दूसरो द्वारा लाये हुए भोजन को पा लेते हैं। फिर उनके भिक्षाशुद्धि कैसे बने? और भिक्षाशुद्धि के बिना निर्दोष आहार कैसे हो?

तथा--भोजन करते-करते केवली की उदरपूर्ति को मन बिना कौन बतलाये? केवलज्ञान तो सभी मनुष्यो के भोजन द्वारा पेट भर जाने को बतलाता है।

मोहके बिना खाना पीना कैसे? ६

मनुष्य अपने लिए कोई भी कार्य करता है वह बिना मोहके नही करता है। यदि वह अपने किसी इस लोक-परलोक सम्बन्धी लाभ के लिए कोई काम करता है तो वहाँ उसके राग भाव होते हैं। और जहाँ जान बूझकर अपने या दूसरों के लिए कोई बुरा कार्य करता है तो वहाँ द्वेष भाव होता है। तदनुसार जिस समय वह अपनी भूख मिटाने के लिए भोजन करने को तैयार होता है उस समय उसको अपने प्राणों से तथा उन प्राणों की रक्षा करने वाले उस भोजन से राग (प्रेम) होता है। वह समझता है कि यदि मैं भोजन नहीं करूँगा तो मर जाऊगा। इस कारण मरने के भय से भोजन करता है।

केवलज्ञानी जिनको लेश मात्र भी मोह नहीं रहा है, राग द्वेष जड मूल से दूर हो चुके हैं, उनके फिर भोजन करने की इच्छा किस प्रकार हो सकती है ? और बिना इच्छा के अपने प्राण रक्षणार्थ भोजन भी वे कैसे कर सकते हैं?

उन्हें अपने औदारिक शरीर रक्षा की इच्छा तथा मरने से भय होगा तो वे भोजन करेंगे। बिना इच्छा के भोजन को हाथ क्यों लगावें? भोजन का ग्रास (कौर-कवल) बनाकर मुख में कैसे रक्खें/ बिना इच्छा के उसे दातों से चबाने का श्रम (मेहनत) तथा कष्ट क्यों करें? औ र बिना इच्छा के उस चबाये हुए मुख के भोजम को गले के नीचे कैसे उतारें? यानी-ये सब कार्य इच्छा-रागभाव से ही हो सकते हैं।

यह तो है नही कि विहायोगति कर्म के उदय से तथा अन्यदेशवर्ती जीवो के पुण्यविपाक के निमित्त से जैसे उनके गमन होता है या वचनयोग के वश से तथा भव्य जीवो के पुण्य विपाक से जैसे-दिव्यध्वनि होती है उसी प्रकार केवली भगवान् के भोजन भी बिना इच्छा के वेदनीय कर्म के उदय से अपने आप हो जायगा, क्योकि आकाशगमन और दिव्यध्वनि में एक तो केवली भगवान् का कोई निजी स्वार्थ नही जिससे उनके उस समय इच्छा अवश्य होवे। दूसरे वे दोनों कार्य कर्म के उदय से परवश उन्हें करने पडते हैं, नाम कर्म कराता है। परतु वेदनीय कर्म तो ऐसा नही कर सकता।

वेदनीय कर्म यदि आपके कहे अनुसार कार्य भी करे तो अधिकसे अधिक यही कर सकता है कि असह्य (न सहने योग्य) भूख वेदना उत्पन्न कर दे किंतु वह भोजन करने की इच्छा तो किसी प्रकार भी उत्पन्न नही कर सकता, क्योकि इच्छा वेदनीयका कार्य नही है और न बलपूर्वक (जबरदस्ती) भोजन ही करा सकता है। क्योंकि वह तो (असाता वेदनीय) केवल दु ख उत्पादक है। दु ख हटाने की चेष्टा मोहनीय कर्म कराता है। इस कारण केवली भगवान् भोजन करें तो मोह अवश्य मानना पडेगा।

तथा-एक बात यह भी है कि केवल ज्ञानी यदि भोजन करें तो अपनी-अपनी जठराग्नि के (पेट की भोजन पचाने वाली अग्नि के) अनुसार कोई केवली थोडा भोजन करेंगे और कोई बहुत करेंगे, क्योंकि ऐसा किये बिना उनके पूर्ण तृप्ति नही होगी। पूर्ण तृप्ति हुए बिना उन्हें शान्ति, सुख नही मिलेगा। अत यदि वे पेट पूरा भरकर भोजन करें तो अव्रती लोगो के समान भोगाभिलाषी हुए। यदि भूख से कुछ कम भोजन करें तो दो दोष आते हैं, एक तो यह कि उनका पेट खाली रह जाने से पूरी तृप्ति नही होगी अत सुख में, कमी रहेगी। दूसरा यह कि-जब वे यथाख्यात चारित्र पा चुके हैं तब उन्हें ऊनोदर (भूख से कम खाना) तप करने की आवश्यकता ही क्या रही?

तथा-यदि भोजन कर लेने पर कुछ भोजन शेष रह जाय तो उसे क्या फिकवा देंगे? या किसी को खिला देंगे? यदि फेंकवा देंगे तो उस भोजन में सम्मूर्छन जीव उत्पन्न होंगे, हिंसा के साधन बनेंगे। यदि उस बचे हुए भोजन को कोई खालेगा तो उच्छिष्ट (जूठा) भोजन कराने का दूषण केवली को लगेगा।

साराश - यह है कि भोजन करने पर केवली भगवान मोही तथा दोष वाले अवश्य सिद्ध होगे। इसी कारण गोम्मटसार कर्मकाड में कहा है-

णट्ठा य रायदोसा इंदियणाण च केवलिस्स जदो।
तेणदु सातासातज सुहदुक्ख णत्थि इंदियज।।२२७।।

यानी- केवली भगवान् के राग, द्वेष तथा इंद्रियज्ञान नष्ट हो चुके हैं इस कारण साता वेदनीय तथा असाता वेदनीय के उदय से होने वाला इंद्रियजन्य सुख या दु ख केवली के नहीं है।

इस कारण मोहनीय कर्म बिलकुल नष्ट हो जाने से भी केवली भगवान् भोजन नहीं करते हैं।

केवली भोजन करें भी क्यों?

मनुष्य भोजन मुख्यतया चार कारणों से करते हैं- १-भूख लगने से दु ख होता है, उस दु ख को दूर करने के लिए भोजन करना आवश्यक है। २- भोजन न करने से भूख के मारे बुद्धि कुछ काम नहीं करती है। ३- भोजन न करने से बल घट जाता है। ४- भोजन न करने से मृत्यु भी हो जाती है। इन चार कारणों से विवश (लाचार) होकर मनुष्य भोजन किया करते हैं।

किन्तु केवली भगवान् में तो ये चारों ही कारण नही पाये जाते क्योंकि पहला कारण तो इस लिए उनके नही है कि उनके मोहनीय कर्म के अभाव से अनन्त सुख (अतीन्द्रिय सुख) प्रगट हो गया है इस कारण उनको किसी प्रकार का लेशमात्र भी दुख नही हो सकता। क्योकि अनत सुख वह है जिससे कि किसी तरह का जरा भी दुख न हो फिर भूख का बडा भारी दुख तो उनके होवे ही क्यों ? और जब कि उनको भूख का कुछ दुख ही नही लगता तब उन्हें भोजन करने की क्या आवश्यकता ? यानी कुछ आवश्यकता नही।

दूसरा कारण इसलिए नही है कि अर्हन्त भगवान् के ज्ञानावरण कर्म नष्ट हो जाने से अनन्त, अविनाशी केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया है। वह कभी न तो कम हो सकता है और न नष्ट हो सकता है जिससे कि उनको भोजन करना आवश्यक हो।

तीसरा कारण इसलिए नही है कि अतराय कर्म न रहने से उनके अनत बल उत्पन्न हो गया है इस कारण वे यदि भोजन न भी करें तो उनका बल कम नही हो सकता।

चौथा कारण इसलिए नही है कि वे आयु कर्म नष्ट होने के पहले किसी भी प्रकार शरीर छोड (मर) नही सकते क्योंकि केवली भगवान् की अकाल मृत्यु नही होती है। ऐसा आप श्वेताबरी भाई भी मानते हैं। फिर जब कि उनकी आयु पूर्ण होने के पहले केवली भगवान् की मृत्यु ही नहीं हो सकती तब भोजन करना व्यर्थ है। भोजन न करने पर भी उनका कुछ बिगाड नही।

इस कारण केवली भगवान् को कवलाहार मानना निरर्थक है। भोजन करने से उन्हें कुछ लाभ नहीं। फिर वे निष्प्रयोजन कार्य क्यों करें? क्योंकि "प्रयोजनमनुद्दिश्य मदोपि न प्रवर्तते" यानी बिना मतलब बिचारा मूर्ख (अल्पबुद्धि) आदमी भी किसी काम में प्रवृत्त नही होता है।

केवली की भोजन विधि

श्वेताम्बर भाई कहते हैं कि केवली भगवान् अपने लिए भोजन लेने स्वय नही जाते किन्तु उनके लिए गणधर या इतर कोई मुनि भोजन ले आते हैं। उस भोजन को अर्हंत भगवान् दिन के तीसरे पहर यानी १२ बजे के पीछे ३ बजे तक के समय में खाते हैं। अर्हन्त भगवान् के भोजन करने के लिए 'देवच्छन्दक' नाम का स्थान बना होता है उस पर बैठकर भोजन करते हैं। अतिशय से भोजन करते हुए वे इन्द्र या दिव्यज्ञान धारी मुनि के सिवाय किसी को दिखलाई नही देते।

इस प्रकार भोजन करने से केवली के एक तो भोजन करने की इच्छा सिद्ध होती है जिससे कि वे प्रत्येक दिन तीसरे पहर अपने स्थान (गन्धकुटी) से उठकर उस देवच्छदक स्थान पर जाकर बैठते हैं और भोजन करते हैं तथा भोजन करके फिर अपने स्थान पर चले आते हैं।

दूसरे- उनके परिणामों में व्याकुलता आ जाना सिद्ध होता है क्योंकि उनके परिणामों में जब भूख से व्याकुलता होती होगी तभी वे उठकर और कार्य छोड भोजन करने जाते हैं।

तीसरे- भोजन करना केवली के लिए इस कारण भी अनुचित सिद्ध होता है कि वे भोजन करते हुए साधारण जनता को दिखाई नही देते। जैसे उपदेश देते समय वे सबको दिखलाई देतेहैं।जो कार्य कुछ अनुचित होता है वह ही छिपकर किया जाता है। तथा लोग उस देवच्छन्दक स्थान को जानते तो होंगे ही। तदनुसार सिहासन खाली देखकर समझ भी लेते होगे कि भगवान् भोजन करने गये हैं।

चौथे- भोजन करने के पीछे साधुओ को भोजन सम्बन्धी दोष हटाने के लिए कायोत्सर्ग, प्रतिक्रमण करना पडता है सो केवली स्वय करते हैं या नही ? यदि करते हैं तो भोजन करना दोष ठहरा। यदि नही करते तो भोजन बनने में जो गृहस्थ से त्रस, स्थावर जीवका घात हुआ तथा भोजन लानेवाले मुनि से जाने- आने में जो हिंसा हुई, वे दोष केवली भगवान् ने कैसे दूर किये?

पाँचवे- भोजन करने से उनको नीहार यानी पाखाना और पेशाव भी आता है, ऐसा आप मानते हैं। किन्तु वे पाखाना तथा पेशाब करते दिखलाई नही देते,

इस प्रकार भोजन करने से उनके शरीर में टट्टी -पेशाब सरीखे गदे मैल पैदा हो सकते हैं जिनके कारण अनतसुखी केवली भगवान् को एक दूसरी घृणित आफत तैयार हो गई।

मुनि आत्मारामजी का उसी ५७१ वें पृष्ठ में यह भी कहना है कि "सामान्य केवलियों के तो विविक्त देश में (एकान्त में) मलोत्सर्ग करने से (टट्टी-पेशाब करने से) दोष नही है," इसलिए यह भी मालूम हुआ कि सामान्य केवलियो के टट्टी -पेशाब करने को मनुष्य उस एकान्त स्थान मे जाकर देख भी सकते हैं।

छठे- केवली भगवान् को भोजन कराने के लिए कोई मुनि पास में रहता होगा जो कि केवली भगवान् के हाथ में भोजन रखता जाता होगा क्योकि केवली पाणिपात्र (हाथ में) भोजन करने वाले होते हैं, पात्रो में भोजन नही करते। जेसा कि आत्मारामजी ने **तत्त्वनिर्णयप्रासाद के ५६७ पृष्ठ पर** लिखा है कि **"अर्हंत भगवतो को पाणिपात्र होने से"**। इसलिए भोजनपान कराने वाले एक मनुष्य की आवश्यकता भी हुई।

सातवें- वात, पित्त, कफ के विषम हो जाने से अथवा आहार रूखा, सूखा, ठडा, गर्म आदि मिलने से केवली के पेट में कुछ गडबड भी हो सकती है जिससे कि केवली भगवान् को पेचिश आदि रोग भी हो सकते हैं। तब फिर उन रोगो को दूर करने के लिए औषध लेने की आवश्यकता भी केवली को होगी जैसे कि आप श्वेतावरी भाइयों के कहें अनुसार महावीर स्वामी को हुई थी।

आठवें- नगर में या इधर- उधर अग्नि लगने, युद्ध आदि उपद्रव होने से अन्तराय हो जाने के कारण किसी दिन आहार नही भी मिल सकता है जिससे कि उस दिन केवली भगवान् भूखे भी रह सकते हैं।

नौवें- वैक्रियक शरीरी देव ३२।३३ पक्ष यानी सोलह साढे सोलह मास पीछे थोडासा आहार लेते हैं। औदारिक शरीर वाले भोगभूमिया मुनष्य तीन दिन पीछे बेरके बराबर आहार करते

---

१ देखो मुनि आत्मारामजी कृत वि स १०५८ के छपे हुए तत्त्वनिर्णय प्रासाद का ५७१ वा पृष्ठ "अतिशय के प्रभाव से भगवत का निहार भी माँस चक्षुओ वाले के अदृश्य होने से दोष नहीं है")

हैं और टट्टी –पेशाब आदि मल–मूत्र नही करते। किन्तु केवली भगवान् प्रतिदिन उनसे कई गुणा अधिक आहार करते हैं तथा प्रतिदिन टट्टी–पेशाब भी उन्हें करना पडता है। इसलिए अनत सुख वाले केवली भगवान् से तो वे देव और भोगभूमिया ही हजारों गुणे अच्छे रहे। वेदनीय कर्म ने केवली भगवान् को उनकी अपेक्षा बहुत कष्ट दिया।

दशवा–एक अनिवार्य दोष यह भी आता है कि केवली भगवान् मल–मूत्र करने के पीछे शौच (गुदा आदि मलयुक्त अगों को साफ) कैसे करते होंगे ? क्योंकि उनके पास कमडलु आदि जल रखने का बर्तन नही होता है जिसमें कि पानी भरा रहे।

इत्यादि अनेक अटल दोष केवली के कवलाहार करने के विषय में आ उपस्थित होते हैं जिनके कारण श्वेताम्बरी भाइयों का पक्ष बालूकी भीत के समान अपने आप गिरकर धराशायी हो जाता है। हमको दुख होता है कि श्वेताबरीय प्रसिद्ध साधु आत्मारामजी आदि ने केवली का कवलाहार सिद्ध करने में असीम परिश्रम करके व्यर्थ समय खोया। वे यदि केवली भगवान् के वीतराग पदका तथा उनके अनन्त चतुष्टयों का जरा भी ध्यान रखते तो हमारी समझ से निष्पक्ष होकर इतनी भूल कभी नहीं करते।

■

सारांश ९

यह सब लिखने का साराश यह है कि क्षुधा (भूख) एक असह्य दुख है जो कि अनन्त सुखधारक केवली के नही हो सकता, क्योकि या तो वे असह्य दु खधारी ही हो सकते हैं या अनन्त सुखधारी ही हो सकते हैं।

तथा–भोजन करना रागभाव से होता है। बिना राग भाव के भोजन करके अपना उदर तृप्त करना बनता नही। केवली भगवान् मोहनीय कर्म को नष्ट कर चुके हैं इस कारण रागभाव उनमें लेशमात्र भी नही रहा है। अत वे रागभाव के अभाव में भोजन भी नही कर सकते? इसलिए या तो उनके कवलाहार का अभाव कहना पडेगा अथवा वीतरागता का अभाव कहना पडेगा।

एव, भोजन न करने पर भी केवली भगवान् का ज्ञान न तो घट सकता है और न बल कम हो सकता है तथा न उनकी भोजन न करनेके कारण मृत्यु ही हो सकती है, एव न उन्हे कोई किसी प्रकार की व्याकुलता ही उत्पन्न हो सकती है। क्योकि वे ज्ञानावरण मोहनीय और अतराय कर्मो का बिल्कुल क्षय करके अविनाशी, अनतज्ञान, सुख और बल प्राप्त कर चुके हैं। इस कारण केवली को कवलाहार (सग्रासवाला भोजन) करना सर्वथा निष्प्रयोजन है।

वेदनीय कर्म विद्यमान रहता हुआ भी मोहनीय कर्मकी सहायता न रहने से केवली भगवान् को कुछ फल नहीं दे सकता। तथा--वेदनीय कर्म में स्थिति, अनुभाग (फल देने की शक्ति) कषाय के निमित्त से पडते हैं सो केवली भगवान् के कषाय बिलकुल न रहने से वेदनीय कर्म में बिलकुल स्थिति नही पडती है। पहले समय में आकर उसी समय में कर्म झड जाता है। वह एक समय भी आत्मा के साथ नही रहने पाता। दूसरे–उसमें अनुभाग शक्ति जरा भी नही होती इस कारण भस्म किये हुए (प्रयोग द्वारा मारे हुए) सखिया के समान वह कर्म अपना कुछ भी फल नही दे सकता। इसलिए वेदनीय कर्म का उदय कर्मसिद्धान्त के अनुसार क्षुधा, तृषा आदि परिषहो को उत्पन्न नही कर सकता। श्वेताबरीय ग्रथकार स्वय केवली के अक्षय, अतीन्द्रिय, अनुपम, अनन्त, अप्रतिहत, स्वाधीन सुख मानते हैं। फिर भला वे ही बतायें कि ऐसा सुख रहते हुए भी उन्हें क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि परिषहें किस प्रकार कष्ट दे सकती हैं।

इसके सिवाय एक बात यह भी हे कि अपने पक्ष में अटल दूषण आते देखकर भी हमारे श्वेताम्बरी भाई केवली भगवान् के वेदनीय कर्मके उदय से ११ ग्यारह परिषहो का होना हठकर बतलावें तो उन्हें इस बात का भी उत्तर देना होगा कि क्षुधा, तृषा परिषह मिटाने के लिए तो आपने सदोष कवलाहार करने की कल्पना कर ली **किन्तु शेष ९ परीषहो का कष्ट केवली भगवान् के ऊपर से टालने के लिए क्या प्रबन्ध कर छोड़ा है?**

क्या केवली भगवान् को शीत उष्ण परीषह से सर्दी– गर्मी का कष्ट होता रहता है, उसे हटाने का कोई उपाय नही ? क्या उन्हें दशमशक परीषह के अनुसार डास, मच्छर आदि कष्ट देते रहते हैं, कोई उन्हें बचाता नही है ? चर्या, शय्या परीषह के अनुसार क्या केवली भगवान् को चलने और लेटने का कष्ट सहना पडता है ? वध परीषह के अनुसार क्या कोई दुष्ट मनुष्य, देव, तिर्यञ्च उन्हें आकर मारता भी है ? रोग परीषह क्या उनके शरीर में रोग पैदा कर देता है ? तृणस्पर्श परीषह के निमित्त से क्या हाथ पैरो में तिनके, काटे आदि चुभते रहते हैं, मल परीषह उनके शरीर पर मैल उत्पन्न करके केवली को दुख देता रहता है।

इन दुखों के दूर करने का भी कोई प्रबन्ध सोचा होगा। यदि केवली के उक्त ९ परीषहों के द्वारा ९ प्रकार के कष्ट होते हैं तो उनके निवारण का उपाय क्या होता है ? यदि इन ९ परीषहों का कष्ट केवली महाराज को होता ही नहीं तो क्षुधा, तृषा का ही क्यों कष्ट उन्हें अवश्य होना माना जाय?

इसी कारण स्वर्गीय कविवर प द्यानतरायजी ने एक सवैया में कहा है–

भूख लगे दुख होय, अनन्तसुखी कहिये किमि केवलज्ञानी।
खात विलोकत लोकालोक देख कुदव्य भखे किमि ज्ञानी।।
खायके नींद करें सब जीव, न स्वामि के नींद की नाम निशानी,
केवलि कवलाहार करें नहिं साची दिगम्बर ग्रथ की वानी।

यानी– भूख लगने पर बहुत दु ख होता है फिर भूख लगने से केवलज्ञानी अनतसुखी कैसे हो सकते हैं? तथा केवली भगवान् भोजन करते हुए भी समस्त लोक, अलोक को स्पष्ट देखते हैं फिर वे मल, मूत्र, रक्त, पीव आदि अपवित्र घृणित लोक के पदार्थों को देखकर भोजन कैसे कर सकते हैं ? एव भोजन करने के पीछे सब कोई आराम करने के लिए सोया करते हैं किन्तु केवलज्ञानी सोते नहीं। इस कारण "केवली भगवान् के कवलाहार नहीं है" यह कथन दिगम्बर जैन ग्रथों में है, वह बिल्कुल ठीक है।

केवली भगवान् का स्वरूप

अब हम सक्षेप रूप से केवली भगवान् का स्वरूप उल्लेख करते हैं।

जिस समय दशवें गुण स्थान के अत में अथवा बारहवें गुणस्थान के आदि में मोहनीय कर्म का और उसके अत में ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अतराय कर्म का क्षय हो जाता है उस समय साधु तेरहवें गुण स्थान में पहुँच जाते हैं और उनके केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनतसुख और अनतवीर्य यह अनतचतुष्टय उत्पन्न हो जाता है। केवलज्ञान उत्पन्न होने से उन्हें केवली तथा सर्वज्ञ भी कहते हैं क्योंकि वे उस समय समस्त क़ाल और समस्त लोक के समस्त पदार्थों को एक साथ जानते हैं।

उस समय उनमें जन्म, जरा, तृषा, क्षुधा, आश्चर्य, पीडा, खेद, रोग, शोक, मान, मोह, भय, निद्रा, चिन्ता, पसीना, राग, द्वेष और मरण ये १८ दोष नही रहते हैं ? तथा १० अतिशय प्रगट होते हैं। उनके आसपास चारों ओर सौ योजन तक दुर्भिक्ष नहीं होता है, उनके ऊपर कोई केश नही बढते हैं, न उनके नेत्रों के पलक झपकते हैं, उनके शरीर की छाया भी नही पडती, वे पृथ्वी से ऊँचे निराधार गमन करते हैं। उनके आस–पास रहने वाले जाति विरोधी जीव भी विरोध भाव छोड कर प्रेम से रहते हैं। इत्यादि।

केवली भगवान् का शरीर मूत्र, पाखाना आदि मल रहित होता है, न उसमें निगोद राशि रहती है और न उसमें रक्त, माँस आदि धातुएँ बनती हैं।

शुद्धस्फटिकसकाशं तेजोमूर्तिमय वपु ।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्।।

यानी– दोषरहित केवली भगवान् का शरीर शुद्ध स्फटिक मणि के समान तेजस्वी और सप्तधातु रहित होता है।

केवली भगवान् यद्यपि कवलाहार (भोजन) नहीं करते हैं किंतु लाभान्तराय कर्म का क्षय हो जाने से उनको क्षायिक लाभ नामक लब्धि प्राप्त हो जाती है इस कारण उनके शरीर पोषण के लिए प्रतिसमय असाधारण, शुभ, अनंत नोकर्म वर्गणाए आती रहती हैं। इस कारण कवलाहार न करने

पर भी नोकर्म आहार उनके होता है। इसीलिए उनका परम औदारिक शरीर निर्बल नही होने पाता। आहार ६ प्रकार का ग्रंथों में बतलाया है, उनमें से नोकर्म आहार केवली भगवान् के बतलाया है–

णोकम्म कम्महा रो कवलाहारो य लेप्पमाहा रो।

उज्झमणोविय कमसो आहारो छब्बिहो णेयो।।

णोकम्म तित्थयरे कम्म णारे य माणसो अमरे।

कवलाहा रो णरपसु उज्झो पक्खीय इगि लेऊ।।

अर्थात्– आहार ६ प्रकार का है, नोकर्म आहार, कर्माहार, कवलाहार, लेप्य आहार, ओज आहार, और मानसिक आहार इनमें से नोकर्म आहार केवलज्ञानियों के होता है, कर्म आहार नारकी जीवों के होता है, मानस आहार देवों के, कवलाहार मनुष्य, तिर्यञ्चों के, ओज आहार (माता के शरीर की गर्मी) अडे में रहने वाले तथा लेप्य (मिट्टी पानी आदिका लेप) आहार वृक्ष आदि एकेंद्रिय जीवों के होता है।

इस कारण औदारिक शरीर केवल कवलाहार से ही रह सके यह बात नही है किन्तु नोकर्म, लेप्य और ओज आहार के कारण भी औदारिक शरीर पुष्ट होता है। अडे के भीतर रहने वाले जीवो को उनकी मादा के शरीर की गरमी से (सेने से) ही पुष्टि मिल जाती है इस कारण उनका वह मादा का सेनेरूप ओज ही आहार है। वृक्षों को मिट्टी, खाद, पानी आदि ही पुष्ट कर देता है, इस कारण उनका वह लेप ही आहार है। साधारण मनुष्यो तथा तिर्यचों का शरीर ग्रासरूप भोजन लेने से पुष्ट होता है। इस कारण उनका कवलाहार ही पोषक है। और केवल–ज्ञानी का परम औदारिक शरीर क्षायिक लाभरूप लब्धिके कारण आने वाली प्रतिसमय शुभ, असाधारण नोकर्म वर्गणाओ से ही पुष्टि पाता है इस कारण उनका नोकर्म आहार ही उनके होता है। इसी कारण कवलाहार न होने पर भी केवलज्ञानी भगवान् का परमौदारिक शरीर नोकर्म आहार से ठहरा रहता है।

* ** *

स्त्रीमुक्ति पर विचार

क्या स्त्री को केवलज्ञान होता है?

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कर्म कलक मेटकर केवली पद अथवा मुक्तिपद केवल पुरुष ही प्राप्त कर सकता है या स्त्री भी मोक्ष पा सकती है?

सामने आये हुए इस प्रश्न का उत्तर दिगम्बर सम्प्रदाय तो यह देता है कि मुक्तिपद अथवा केवली पद पुरुष (द्रव्यवेद) ही प्राप्त कर सकता है। स्त्रीलिंग (द्रव्यवेद) से मोक्ष की या केवल ज्ञान की प्राप्ति नही होती।

इसी प्रश्न के उत्तर में श्वेताबर स्थानकवासी सम्प्रदायका कहना यह है कि पुरुष और स्त्री दोनों समान हैं। जिस कार्य को पुरुष कर सकता है उस कार्य को स्त्री भी कर सकती है। इस कारण मोक्ष या केवलज्ञान पुरुष के समान स्त्री भी प्राप्त कर सकती है।

इस कारण यहाँ इस विषय का निर्णय करते हैं कि स्त्री (द्रव्यवेदी यानी–स्त्री शरीर धारण करने वाली) अपने उसी स्त्री शरीर से मुक्ति प्राप्त कर सकती है या नही ?

तदर्थ- प्रथम ही यदि शक्ति की अपेक्षा से विचार किया जाय तो स्त्री के शरीर में मुक्ति प्राप्त करने योग्य वह शक्ति नहीं पायी जाती है जो कि पुरुष के शरीर में पायी जाती है। इस कारण पुरुष तो घोर, कठिन तपस्या करके कर्मजजाल काट कर मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। किन्तु स्त्री उतनी ऊंची कठिन तपस्या तक पहुंच नहीं सकती है, परीषहो का निश्चय रूप से सामना करके शुक्लध्यान प्राप्त नहीं कर सकती। अतएव उसे मोक्ष मिलना असंभव है।

औदारिक शरीर में शक्ति की हीनता, अधिकता का निश्चय सहननो के अनुसार होता है। जिस शरीर में जितना ऊँचा सहनन (हड्डियो का बंधन) होता है उस शरीर मे बल भी उतना बड़ा होता है और जिस शरीर का जितना हीन सहनन होता है उस शरीर का बल भी उतना ही कम होता है। कर्मग्रंथो में पुरुषो के ऊँचे सहनन बतलाये है, इस कारण कर्म सिद्धात के अनुसार पुरुषों मे अधिक शक्ति होती है और स्त्रियों में कम होती है।

गोम्मटसार कर्म काण्ड में कर्मभूमि वाली स्त्रियो के शरीर के सहनन इस प्रकार कहे है-

अंतिमतियसहणणस्सुदओ पुण कम्मभूमिमहिलाणं।

आदिमतियसहणण णत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिठ्ठ।।३४।।

अर्थात्- कर्मभूमि वाली स्त्रियो के अंत के तीन सहननो (अर्द्धनाराच, कीलक, असंप्राप्तासृपाटिका) का ही उदय होता है। उनके पहले तीन सहनन (वज्रऋषभनाराच वज्रनाराच, नाराच) नही होते है।

इस प्रकार सबसे अधिक शक्तिशाली जो वज्रऋषभनाराच सहनन धारी जीव होता है वह वज्रऋषभनाराच सहनन पुरुषके ही होता है, कर्मभूमिज स्त्री के नही होता। "मोक्ष कर्मभूमि मे उत्पन्न होने वालों को ही मिल सकता है, भोगभूमिवालों को नही।" यह बात दिगम्बर सम्प्रदाय के समान श्वेताम्बर सप्रदाय भी सहर्ष स्वीकार करता है। तदनुसार उन्हे यह बात भी स्वीकार करनी पडेगी कि जिस कर्म-भूमि में उत्पन्न होनेवालो में मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता है उस कर्मभूमि की स्त्रियो के शरीर वज्रऋषभनाराचसहनन वाले नहीं होते।

मोक्ष वज्रऋषभनाराच सहननवाले को ही प्राप्त हो सकता है ऐसा प्रवचनसारोद्धार के (चोथा भाग) सग्रहणीसूत्र नामक प्रकरण की १६० वी गाथा में ७५ पृष्ठ पर स्पष्ट लिखा है-

'पढमेण जाव सिद्धीवि'।।१६०।।

अर्थात्- पहले वज्रऋषभनाराच सहनन से देव, इन्द्र, अहमिंद्र आदि ऊँचे ऊँचे स्थान प्राप्त होते हुए मोक्ष तक प्राप्त हो सकता है।

इस कारण अपने आप सिद्ध हो जाता है कि स्त्री मोक्ष नही पाती क्योकि मोक्ष पद प्राप्त करने का कारण वज्रऋषभनाराच सहनन उसके नही होता है। (स्त्री शब्द का अभिप्राय इस प्रकरण में कर्मभूमिकी स्त्री से है।)

स्त्री के वज्रऋषभ नाराच सहनन नही होता यह बात निम्नलिखित श्वेताम्बरीय ग्रंथो के प्रमाणों से भी स्वत सिद्ध हो जाती है। प्रकरणरत्नाकर (चोथा भाग) के सग्रहणीसूत्र नामक प्रकरण की २३६ वी गाथा में ऐसा लिखा है-

दो पढम पुढविगमण छेवट्ठे कीलियाइ सघयणे।

इक्किकक्व पुढवि घुड्डी वाइतिलेस्साउ नरएसु।।२३६।।

यानी– असम्प्राप्तापाणटिका सहनन वाला जीव पहले दूसरे नरक तक जा सकता है आगे नहीं। कीलक सहनन वाला तीसरे नरक तक, अर्द्धनाराचसहननधारी चौथे नरक तक, नाराचसहनन वाला पाँचवें नरक तक, ऋषभनाराच सहननधारी छठे नरक तक और वज्रऋषभनाराच सहनन–वाला जीव सातवें नरक तक जा सकता है।

इस गाथा से यह सिद्ध हुआ कि वज्रऋषभनाराच सहनन धारक जीव ही इतना भारी घोर पापकर्म कर सकता है कि वह सातवें नरक में भी चला जावे । जिस जीव के शरीर में वज्रऋषभनाराच सहनन नही वह सातवें नरक जाने योग्य तीव्र अशुभ कर्म बध भी नही कर सकता।

प्रकरण रत्नाकर (चौथा भाग) के सग्रहणी सूत्र मे १०० वें पृष्ठ पर उल्लेख है

असन्नि सरिसिव पक्खीससीह उरगिच्छि जति जा छट्ठि ।

कमसो उक्कोसेण सत्तम पुढवी मणुय मच्छा।।२३४।।

यानी– असैनी जीव पहले नरक तक, सॉप, गोह, न्योला आदि जीव दूसरे नरक तक, गिद्ध, बाज आदि माँसाहारी पक्षी तीसरे नरक तक, सिंह, चीता, भेडिया दुष्ट चौपाये पशु चौथे नरक तक, काला सर्प, दुष्ट अजगर आदि नाग पाँचवें नरक तक, स्त्री छट्ठे नरक तक और पुरुष तथा मत्स्य (जलचर जीव) सातवें नरक तक, जा सकते हैं।

(पहले लिखी हुई गाथा के अनुसार इस गाथा से यह बात स्पष्ट सिद्ध हो गई कि स्त्री के वज्रऋषभ नाराच सहनन नही होता। इसी कारण वह ऐसा प्रबल शक्तिशाली अशुभ कर्मबन्ध करने में समर्थ नही जिसके कारण वह सातवें नरक जा सके। किन्तु पुरुष के वज्रऋषभ नाराच सहनन होता है इसी कारण वह अपनी भारी शक्ति से इतना घोर पाप कार्य कर सकता है जिससे कि सातवें नरक में भी चला जावे।)

(इसी बात को दूसरे मार्ग से यों विचारिये कि श्वेताबरीय ग्रथो मे १६ स्वर्गों के स्थान पर १२ स्वर्ग ही माने हैं। ब्रह्मोत्तर, कापिष्ट, शुक्र, सतार ये चार स्वर्ग नही माने है।) उनमें उत्पन्न होने का क्रम सहननों के अनुसार **प्रवचनसारोद्धार** ग्रथ के (चौथा भाग) **सग्रहणीसूत्र** मे ७५ वे पृष्ठ पर १६० वी गाथा में ऐसा लिखा है–

छेवट्टेणउ गम्मइ चउरोजा कप्प कीलियाईसु।

चउसु दु दु कप्प वुड्ढो पढमेण जाव सिद्धी वि।।१६०।।

अर्थात्– (असम्प्राप्ता सृपाटिका सहनन वाला जीव भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा चोथे स्वर्ग तक के देवों में जन्म ले सकता है। कीलक सहननधारी पाँचवें– छठें स्वर्गतक, अर्द्धनाराच सहननवाला सातवें– आठवें स्वर्गतक, नाराच सहननवाला नौवें– दशवे स्वर्ग तक तथा ग्यारहवें– बारहवें स्वर्गतक ऋषभनाराच सहननधारी जीव जा सकता है। इसके आगे अहमिन्द्र, नौ ग्रैवेयक तथा पाँच अनुत्तर विमानों में और यहाँ तक मोक्ष में भी वज्रऋषभनाराचसहननवाला जीव ही जा सकता है।)

इसके अनुसार यह सिद्ध हुआ कि कल्पातीत यानी–अहमिन्द्र विमानों में उत्पन्न होने योग्य पुण्यकर्मका सचय वज्रऋषभनागच सहननधारी ही कर सकता है। (अर्थात् वज्रऋषभनाराच सहनन के सिवाय अन्य किसी सहनन से उतना घोर तपश्चरण नही बन सकता जिनने अन्य किसी सहनन से उतना घोर योग्य पण्यकर्म का सचय हो सके।)

किन्तु स्त्री अपनी शक्ति के अनुसार घोर तपस्या करने पर भी मरकर बारहवें (दिगम्बर सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार सोलहवें) स्वर्ग से आगे नही जाती है। स्वर्गों में देव जब सर्वार्थसिद्धि विमान तक उत्पन्न होते हैं तब देवियाँ केवल पहले दूसरे स्वर्गों में उत्पन्न होकर बारहवें (दिगम्बरी सिद्धान्त से सोलहवें) स्वर्ग तक जाती हैं। उसके आगे ग्रैवेयक, अनुत्तर आदि विमानो में नही जाती है। देखिये प्रवचनसारोद्धार चौथा भाग के ७८ वें पृष्ठ पर लिखा है

उववाओ देवीण कप्पदुग जा परो सहस्सारा।

गमणागमण नच्छी अच्चुय परओ सुराणपि।।१६।।

यानी- देवियों की उत्पत्ति सौधर्म, ऐशान स्वर्गों में ही होती है। अपरिगृहीता देवियाँ अपने अपने नियोग के अनुसार अच्युत स्वर्ग तक देवो के साथ रहती हैं उससे ऊपर नही। सहस्रार स्वर्ग तक की देवी मध्य लोक आदि में आती जाती हैं। और देव अच्युत स्वर्ग तक के आते जाते हैं। उससे ऊपर वाले देव अपने विमानो के सिवाय अन्य कही नही जाते हैं।

इससे यह सिद्ध हुआ कि स्त्रियो के शरीर में वह शक्ति नही होती है जिसके कारण वे अच्युत स्वर्ग से आगे कल्पातीत विमानो मे जाकर उत्पन्न हो सकें। इसी से यह भी सिद्ध होता है कि निश्चल रूप से घोर, उत्कृष्ट तपश्चरण करने का कारण भूत वज्रऋषभनाराच सहनन (कर्मभूमिज) स्त्रियो के नही होता है। इसी कारण वे उतना कठिन तप नही कर पाती जिससे २२ सागर से अधिक आयु वाले (स्त्रीलिग छेद कर) पुरुष लिग प्राप्त करने की अपेक्षा देवो मे उत्पन्न हो सकें।

स्वर्गों में उत्कृष्ट आयु देवो की ही होती हे, देवियो की नही। अच्युत स्वर्ग में जो उत्कृष्ट आयु २२ सागर की है वह पुरुषलिगधारी देवो की ही है। स्त्रीलिग धारी देवियो की उस अच्युत स्वर्ग में उत्कृष्ट आयु केवल ५५ पचपन पल्य की ही होती हे। ऐसा ही प्रवचन सारोद्धार चौथा भाग के ७९ वें पृष्ठ पर लिखा है-

अच्चुय देवाण पणवन्ना ।।१७३।।

यानी- अच्युत स्वर्ग वासी देवो की देवियो की आयु ५५ पचपन पल्य की होती है।

इससे भी यह प्रमाणित होता हे कि स्त्रियो का शरीर उतना अधिक बल धारक नही होता जिसके द्वारा कठिन तपस्या करके देव गति मे उच्च पद तथा उत्कृष्ट आयु का बध किया जा सके।

इस तरह से कर्म सिद्धान्त के अनुसार स्त्रियाँ पुरुषो की अपेक्षा हीन शक्ति वाली ठहरती हैं। इस कारण निर्बल स्त्रियाँ, जब कि ससार में सबसे उत्कृष्ट सुख का स्थान सर्वार्थ सिद्धि आदि विमान और सबसे अधिक दुख के स्थान सातवे नरक को पाने योग्य शुभ-अशुभ कर्मो का बन्ध नही कर सकती , फिर वे मोक्ष को किस प्रकार प्राप्त कर सकती है ? अर्थात् कदापि नही प्राप्त कर सकती।

पुरुष तथा स्त्री की शक्ति का विचार यह तो कर्म सिद्धान्त के अनुसार हुआ। अब यदि हम व्यावहारिक दृष्टि से दोनों की शक्ति का विचार करने बैठें तो भी यह ही निश्चय होता है कि स्त्री जाति पुरुष जाति से बल में हीन होती है।

देखिये पुरुषों में पहले बाहुबली, रावण, हनुमान, भीम, अर्जुन, कर्ण, द्रोणाचार्य, आदि प्रख्यात वीर पुरुष हुए हे जिनकी शूर वीरता को ऋषभनाथपुराण, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण

(महाभारत) आदि ग्रथ प्रगट कर रहे हैं। चन्द्रगुप्त, खारवेल, अमोघवर्ष, पृथ्वीराज, प्रताप सिह, शिवाजी आदि प्रतापी शूरवीर राजा भी पुरुष ही थे जिनके कारण शत्रुओ की सेनाएँ भय से थरथराती थी। यद्यपि कोई–कोई स्त्री भी शूरवीर हुई हैं किन्तु शूरवीर पुरुषो की अपेक्षा वे भी बलहीन ही थीं इसी कारण वे अत में पराजित हुई हैं।

सेनाओ के नायक सेनापति सदा पुरुष ही होते आये हैं। राज सिंहासन पर बैठकर राज्य शासन करने वाले राजा भी सदा पुरुष ही हुए हैं। शासन करने की वास्तविक शक्ति स्त्रियो में होती ही नही। यदि कभी कही पर किसी स्त्री ने किसी कारणवश राज्य भी किया है तो वीर पुरुषों के सहारे से ही किया है। केवल अपने बाहुबल से नही किया है।

पुरुषों के समान स्त्रियों में बडे–बडे पहलवान भी नही हुए हैं। तथा पुरुष जिस प्रकार नीति से स्वीकार की हुई ९६–९६ हजार तक स्त्रियों को अपनी पत्नी बनाकर उनका उपभोग करते रहे हैं, अब भी किसी–किसी राजा के कई–कई सौ स्त्रियाँ विद्यमान हैं। इस प्रकार स्त्रियों ने पुरुषों के ऊपर अपना बल प्रगट नही किया है। इसी प्रकार निन्दनीय रूप से जैसे पुरुषों ने बलात् (जबर्दस्ती) स्त्रियो का अपहरण किया तथा बलात्कार (जबर्दस्ती विषयसेवन) किये तथा अब भी करते हैं, ऐसा पुरुषों पर स्त्रियों का बलप्रयोग आज तक नही हुआ है। पशुओ में भी हम देखते हैं कि एक साड हजारों गायों के झुड का शासन करता है।

जिन कठिन से कठिन कार्यों को पुरुष कर सकता है वे कार्य स्त्री से नही बन पाते। चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र आदि उत्कृष्ट बलधारक पद पुरुषो को ही प्राप्त होते हैं स्त्रियो को नही, ऐसा श्वेताम्बरीय ग्रथ स्वीकार करते है। देखिये प्रवचन सारोद्धार के (तीसरा भाग) ५४४–५४५ वें पृष्ठ पर लिखा है कि–

> अरहत चक्कि केसव बल सभिन्नेद्धा चारणे पुव्वा।
> गणहर पुलाय आहारग च नहु भविय महिलाण।।५२०।।

यानी– भव्य स्त्रियो के अर्हत, (तीर्थकर) चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, सभिन्नश्रोता, चारणऋद्धि, पूर्वधारी, गणधर, पुलाक, आहारक ऋद्धि ये दश पद या लब्धियाँ नही होती हैं।

इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से भी पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे निर्बलता सिद्ध होती है। स्त्रियों की इस निर्बलता से यह भी अपने आप सिद्ध होता है कि स्त्रियाँ कठिन परीषहो को सहन करती हुई निश्चल रूप से घोर तपस्या नही कर सकती, इसी से शुक्ल ध्यान प्राप्त कर वे मोक्ष भी नही पा सकती।

निर्बलता के कारण ही स्त्रियो मे पुरुषो के समान उच्च कोटि की निर्भयता, आदर्श पराक्रम, प्रबल साहस और प्रशसनीय धैर्य भी नही होता है। उनका शरीर स्वभाव से पुरुषो की अपेक्षा कोमल, सुकुमार, नाजुक होता है। इसी कारण उन्हें अबला कहते हैं। अतएव स्त्रियाँ पर्वत, वन, गुफा, श्मशान आदि भयानक स्थानो में अटल, निर्भय रूप से ध्यान, तपश्चरण नही कर सकतीं। उनसे आतापनयोग, प्रतिमायोग आदि नही बन सकते हे।

सुकुमाल, सुकोशल, गजकुमार, पाडव, आदि मुनीश्वरो के समान असह्य परीषहों का सहन भी स्त्रियो से नही हो सकता। बाहुबली के समान कठिन आतापन योग भी उनके शरीर से नही बन सकता। इसलिए शुक्ल ध्यान पाकर उन्हें मुक्ति प्राप्त होना असभव है।

*　　**　　*

स्त्रियाँ पुरुषों से हीन होती हैं

पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ हीन होती हैं इसलिए भी वे पुरुषों के समान मोक्ष नही पा सकती। स्त्रियों में पुरुषों से हीनता अनेक अपेक्षाओ से है।

प्रथम तो इसलिए कि वे समान पदधारी पुरुषों से वन्दनीय नही होती। लोक में देखा जाता है कि समान रूप में रहने वाले पति-पत्नी में से पत्नी नमस्कार करने योग्य नही होती किन्तु पति (पत्नि के लिए) वदनीय होता है। इसीलिए स्त्री अपने पति को नमस्कार करती है, पति अपनी पत्नी को नमस्कार नही करता है।

परमार्थ दृष्टि में भी पुरानी आर्यिका भी (महाव्रतधारिणी) नवीन मुनि को भी नमस्कार करती हैं। साधु वह चाहे एक दिन का दीक्षित ही क्यो न हो, पुरानी भी आर्यिका को नमस्कार नही करता। कृतिकर्म कल्प का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कल्प सूत्र के दूसरे पृष्ठ पर लिखा है-

क्षितोपि

"साध्वीभिश्च चिरदीक्षिताभिरपि नवदी

साधुरेव वन्द्य प्रधानत्वात् पुरुषपस्य इति।"

गु टी "साध्वी यदि चिरकालीन दीक्षित होय तो पण तेनाथी नवो दीक्षित साधु वद्य छे कारण के धर्म पुरुषप्रधान छे।"

अर्थात्-(साध्वी (आर्यिका) बहुत समय पहले की दीक्षित भी हो तो भी उस साध्वी द्वारा नया दीक्षित साधु वदनीय है। क्योकि धर्म मे पुरुष प्रधान होता है।)

महाव्रतधारी साधुओ में यह नियम होता है कि जो पुराने समय का दीक्षित मुनि होता है उसको उससे पीछे दीक्षा लेने वाले साधु वदनीय मानकर नमस्कार करते है। कितु आर्यिका यदि पुराने समय की भी दीक्षित हो तो भी उसको नया मुनि नमस्कार नहीं करेगा कितु वह आर्यिका ही उस नवीन मुनि की वदना करेगी। इससे सिद्ध होता है कि पुरुष जाति स्त्रियों की अपेक्षा उँचे दर्जे की है।

प्रकरण रत्नाकर (प्रवचन सारोद्धार तीसरा भाग) के २५७ वें पृष्ठ पर लिखा है कि-

"साधुओ पोताथी जे पर्यायवृद्ध साधु होय तेने वदन करे अने साध्वीओ पर्यायज्येष्ठ छता पण आजना दीक्षित यतिने पुरुष ज्येष्ठ धर्मपणा थकी वादे।"

यानी-(साधु अपने से पहले दीक्षा लेने वाले साधु की वदना करें और साध्वी (आर्यिका) पुरानी दीक्षित होने पर भी आज के दीक्षित साधु की वदना करे क्योकि पुरुष में बडप्पन धर्म रहता है।)

इस श्वेताबरीय शास्त्र वाक्य से भी यह सिद्ध हुआ कि पुरुष स्वभावत स्त्रियो से अधिक महत्त्व रखता है। इस स्वाभाविक महत्त्व के कारण ही पुरुष सबसे ऊँचे पद मोक्ष को पा सकता है, स्त्री नही।

दूसरे-स्त्री पर्याय श्वेताबरीय सिद्धातकारो के लेखानुसार पापरूप है और पुरुष की पर्याय पुण्यरूप है। देखिये श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थसूत्र जिसको श्वेताम्बरी भाई **तत्त्वार्थाधिगमसूत्र** कहते

हैं। (इसमें तथा दिगम्बर सम्प्रदाय के मान्य तत्त्वार्थधिगमसूत्र में अनेक सूत्रो में कमी वेशी भी है) उसके आठवें अध्याय का अतिम सूत्र यह है–

"सद्वे द्यसम्यक्त्वहास्यरतिपुरुषवेदशुभायुर्नामगोत्रणि पुण्यम्

यानी– साता वेदनीय, सम्यक्त्व प्रकृति, हास्य, रति, पुरुष वेद, शुभ आयु, शुभ नाम कर्म और ऊँच गोत्र ये आठ पुण्यकर्म हैं।

इसी सूत्र के सूत्रकार विरचित भाष्य में लिखा है कि–

"इत्यैतदष्टविध कर्म पुण्यम्, अतोऽन्यतपापम् ।।

यानी– ये आठ प्रकार के कर्म पुण्य रूप हे और इनके सिवाय–शेष सब कर्म पापरूप हैं।

इस कारण स्त्री शरीर का मिलना पापरूप है– पाप कर्म का फल है इसलिए भी स्त्री मोक्ष की अधिकारिणी नही है। पुरुष कर्म सिद्धान्त के अनुसार पुण्य रूप होता है इस कारण मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

तीसरे– सम्यग्दर्शन वाला जीव मर कर स्त्री पर्याय नही पाता पुरुप का शरीर ही धारण करता है। इस कारण भी स्त्री पुरुष से हीन ठहरती है। क्योकि स्त्री शरीर हीन है तव ही सम्यग्दृष्टी जीव परभव में सम्यग्दर्शन के प्रभाव से स्त्री शरीर नही पाता। शास्त्रो में स्पष्ट लिखा है कि

छसु ह्रिट्टिमासु पुढविसु जोइसवणभवणसव्वइत्थीसु।

वारसु मिच्छुववादे सम्माइट्ठीण उप्पपज्जादि।।

यानी– सम्यग्दृष्टि जीव मरकर पहले नरक के सिवाय छह नरको में, ज्योतिपी, व्यन्तर, भवनवासी देवों में तथा सब प्रकार की (देवी, नारी, पशु मादा) स्त्रियो में उत्पन्न नही होता।

इसलिए भी स्त्री, पुरुष की अपेक्षा हीन होती है,

चौथे– इद्र, चक्रवर्ती, मडलेश्वर, प्रतिवासुदेव, बलभद्र, नारद, रुद्र आदि जगप्रसिद्ध पदधारक पुरुष ही होते हैं स्त्रियॉ नही होती। इस कारण भी पुरुप स्त्रियो से उच्च होते हें और स्त्रियाँ उनसे हीन होती हैं।

पाँचवे– आनत आदि विमान वासी देव मरकर श्वेताम्बरीय शास्त्रो के अनुसार भी पुरुप पर्याय ही पाते हैं, अत पुरुष उच्च होते है और स्त्रियॉ हीन होती हे यह बात इससे भी सिद्ध होती है। देखिये **प्रकरण** रत्नाकर (चौथा भाग) के ७७–७८ वे पृग्ठ पर लिखा है कि–

आयणपमुहा चविउ मणुएसु चेव गच्छति ।।१६५।।

यानी–आनत आदि स्वर्गो के देव मरकर पुरुषो में ही उत्पन्न होते है। जब कि ग्रैवेयक, अनुत्तर विमानवासी देव मरकर मनुष्य ही होते हैं स्त्री नही होते तो मानना ही होगा कि मनुष्य स्त्रियों की अपेक्षा उच्च होते हैं–स्त्रियों से अधिक महत्त्वशाली होते हैं। इसी कारण मुक्ति भी वे ही प्राप्त कर सकते हैं, स्त्रियाँ मोक्ष नही पा सकती।

* **

स्त्रियों में ज्ञानशक्ति अल्प होती है

कर्म जाल को नष्ट करके मुक्ति पद पाने के लिए पर्याप्त ज्ञान की परम आवश्यकता है। जिसमें ज्ञान शक्ति विद्यमान नहीं अथवा पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता नही वह शुक्ल

ध्यान करके मुक्ति भी कैसे पा सकता है? शुक्ल ध्यान करने के लिए द्वादश अगो का ज्ञान हासिल करने की योग्यता होनी आवश्यक है। तदनुसार बारह अगों का ज्ञान पुरुषों को तो प्राप्त हो जाता है, इस कारण पुरुष में तो श्रुतकेवली होने की तथा उस श्रुत ज्ञान के निमित्त से शुक्ल ध्यान प्राप्त करने की योग्यता है किन्तु स्त्री में पूर्ण श्रुत ज्ञान धारण करने की योग्यता नही है। जब उसको बारह अगों वाले श्रुत ज्ञान को धारण कर श्रुतकेवली बनकर ध्यान करने की योग्यता नही तो मानना पडेगा कि उसको शुक्ल ध्यान भी नही हो सकता और न केवलज्ञान हो सकता है।

जो बकरी घोड़े के उठाने योग्य भार उठाने के लिए भी असमर्थ है वह भला हाथी का भार कैसे उठा सकती है। इसी प्रकार स्त्रियों को जब पूर्ण श्रुतज्ञान धारण करने की योग्यता नही तो वे सकल प्रत्यक्ष, पूर्ण निरावरण, लोक–अलोक प्रकाशक केवल–ज्ञान को किस तरह प्राप्त कर सकती हैं ?

स्त्रियो को १२ अगों का ज्ञान तो एक ओर रहा किंतु दृष्टिवाद अग के एक भाग रूप चौदह पूर्वो का भी पूर्ण ज्ञान नही होता ऐसा श्वेताबरीय ग्रथ भी स्पष्ट बतलाते है। देखिये प्रकरण रत्नाकर (चौथा भाग) के कर्म ग्रथ नामक प्रकरण में "जोगोवओग लेस्सा" इत्यादि ५५ वी गाथा की टीका में ५९१ वें पृष्ठ पर लिखा है कि–

"नथा प्रमत्त साधु ने आहारक तथा आहारक मिश्र ए वे योगें वर्तता स्त्री वेदनों उदय न होय, जे भणी आहारकमिश्र योग चौद पूर्वधर पुरुप नेज होय स्त्री ने तो चोद पूर्वनु भणवु निपेध्यु छे ज भणी सूत्रें कशु छे के–

तुच्छा गारवबहुला चजिंदिया दुव्वला अधीइए।

इअ अश्वसेस झयणा भूअ वा ओ अनोच्छीण।।

अर्थ– दृष्टिवाद जे वारमु अग ते स्त्री नें न भणाववु जे भणी स्त्री–जाति स्वभावे तोछडी होय छे ते माटे गर्व घणो करे, विद्या जीरवी न शके, इद्रिय चचल होय, बुद्धी ओछी होय ते मोटे ए अतिशय पाठ भणी स्त्री ने निपेद्यु छे। ते दृष्टि वाद माँहे चौथे अधिकारें पूर्वद्दे माटे पूर्व भण्या बिना स्त्री आहारक शरीर न करे।"

अर्थात्– प्रमत्तगुण स्थानवर्तिनी स्त्री को आहारक तथा आहारक मिश्र नही होता है क्योंकि आहारक, आहारक मिश्र चौदह पूर्वधारी पुरुष के ही होता है, स्त्री के तो चौदह पूर्व का पढ़ाना निषेध किया है। क्योंकि सूत्र में बतलाया है कि–

तुच्छा गारववहुला चलिंदिया दुब्वला अधीइए।

इअ अइवसेस झयणा भूअ बा ओअ न च्छीण।।

यानी–दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अग स्त्री को पढना चाहिए। क्योकि स्त्री जाति स्वभाव से तुच्छ (हलकी, नीच) होती है, इसलिए गर्व (अभिमान घमड) बहुत करती है, विद्या को पचा नही सकती, उसकी इन्द्रियाँ चचल होती हैं, बुद्धि ओछी (हलकी) होती है। इसलिए अतिशय पाठ स्त्रियों को पढ़ाना निषिद्ध है। दृष्टिवाद अग के पॉच अधिकारों में से चौथा अधिकार चौदहपूर्व है। इस कारण पूर्व पढाये बिना स्त्री आहारक शरीर नही कर सकती है।

प्रकरण रत्नाकर के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री की प्रकृति स्वभाव से तुच्छ होती है। उसमें अधिक, अतिशयवाला ज्ञान पचाने की शक्ति नही होती। क्योंकि उसकी बुद्धि हीन होती है, इन्द्रियाँ चचल होती हैं और उसको अभिमान बहुत होता है। इसी लिए उसको चौदह

पूर्व धारण करने की शक्ति नहीं। जब कि श्वेताम्बरीय कर्म ग्रथ ऐसा स्पष्ट कहता है तो निर्णय अपने आप हो जाता है कि स्त्री में चौदह पूर्व धारण करने की शक्ति कहाँ मे आ सकती है ? अर्थात् वह केवल ज्ञान भी धारण नहीं कर सकती। अतएव उसको मोक्ष भी नही हो सकता।

यह तो रहा कर्म सिद्धान्त का अटल नियम, जिसको कि कोई मिटा नहीं सकता और न कम अधिक या कुछ का कुछ कर सकता है। किन्तु इसके सिवाय हम यदि स्त्रियो के ज्ञान की दृष्टि से देखें तो भी मालूम होता है कि पुरुषों की सी प्रबल ज्ञान शक्ति स्त्रियों में नही होती है। ससार में जितने भी सिद्धान्त, धार्मिक, लौकिक तथा राजनैतिक नियम बनकर प्रचलित हुए हैं वे सब पुरुषों की प्रखर बुद्धि-बल का ही फल हैं। समस्त दर्शनों की रचना पुरुषों ने ही की है। मन्त्र, यत्र, योग, जादूगरी, वैद्यक, गणित, ज्योतिष, व्याकरण, सगीत आदि विषय पुरुष ने ही प्रचलित किये हैं। रेल, तार, टेलीफोन, ग्रामोफोन, जहाज, वायुयान, तोप, बदूक, मोटर आदि अनगिनत प्रकार के उपयोगी यन्त्र पुरुषों ने ही बनाये हैं। आज तक जितने भी आविष्कार हुए हैं तथा हो रहे हैं वह सब पुरुषों की बुद्धि के ही मधुर फल हैं। ऐसा कोई आश्चर्यजनक पदार्थ नहीं दीख पडता है जो कि स्त्रियों ने अपनी बुद्धि से तैयार किया हो।

इसलिए लौकिक दृष्टि से भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ बुद्धिहीना यानी थोडे ज्ञानवाली ठहरती हैं। और जब कि वे हीन ज्ञानवाली होती हैं तो फिर उनमें केवलज्ञान का विकास कैसे हो सकता है ? और बिना केवलज्ञान हुए वे मुक्ति भी कैसे पा सकती हैं?

अतएव सिद्ध हुआ कि स्त्रियो में अल्प ज्ञान शक्ति होने के कारण उनको मोक्ष नहीं हो सकता।

—*—

स्त्रियों में संयम की पूर्णता नहीं होती

मोक्ष प्राप्त करने का प्रधान साधन सम्यक् चारित्र की पूर्णता है। सम्यक् चारित्र पूर्ण हुए बिना कर्मों का क्षय नहीं होता। वैसे तो सम्यक् चारित्र चौदहवें गुण स्थान में पूर्ण होता है किन्तु मोहनीय कर्म नष्ट हो जाने से बारहवें क्षीणकषाय गुण स्थान में यथाख्यात चारित्र प्राप्त हो जाने पर पूर्ण चारित्र कहा जाता है। परन्तु स्त्रियों को देशचारित्र ही होता है, सकलचारित्र भी नही होता। इसी कारण उनके पाँचवें गुणस्थान से आगे कोई गुणस्थान नही होता। इसलिए सम्यक् चारित्र पूर्ण न हो सकने के कारण स्त्रियों को मोक्ष मिलना असभव है।

स्त्रियों को सकलचारित्र क्यों नही होता ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि स्त्रियाँ ठीक तौर से महाव्रत धारण नही कर सकती। आर्यिकाओ के (साध्वी) जो महाव्रत कहे जाते हैं वे उपचार से कहे जाते हैं वास्तव में उनमें महाव्रत नहीं होते। स्त्रियों को महाव्रत न हो सकने का कारण यह है कि वे पूर्णरूप से परिग्रह का त्याग नहीं कर पाती हैं। उनके पास पहनने के कपडे रूप परिग्रह अवश्य होता है। उत्कृष्ट जिन कल्पी (श्वेताम्बरों के माने हुए) साधु के समान वे समस्त वस्त्र त्याग कर नग्न होकर नहीं रह सकतीं। इस कारण उनके परिग्रह त्याग महाव्रत नहीं होता है और उसके न होने से अहिंसा महाव्रत भी नहीं होता। तथा बिना महाव्रत पालन किये छठा प्रमत्त गुणस्थान भी कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही होता।

स्त्रियाँ पुरुषों के समान लज्जा परीषह नही जीत सकती, न वे नग्न परीषह सहन कर सकती हैं क्योंकि उनकी शारीरिक रचना ऐसी है कि जिससे उन्हें अपने गुह्य अग वस्त्र से अवश्य छिपाने पडते हैं उनको छिपाये बिना उनका ब्रह्मचर्य व्रत स्थिर नही रह सकता। उनके खुले हुए गुप्त अग उनके तथा अन्य पुरुषो के काम विकार उत्पन्न कराने के कारण हैं। अत वस्त्र पहन कर उन अगों को ढकना उनका प्रधान कार्य है। इस कारण स्त्रियों के आचेलक्य (वस्त्र रहितपना) नामक पहला कल्प नही होता और न मोक्ष के कारण भूत उत्कृष्ट जिन कल्पी साधु की नग्न दशा ही स्त्रियों से सध सकती है इस कारण उनके परिग्रह–त्याग महाव्रत नही हो सकता।

आचारागसूत्र (श्वेताम्बरीय ग्रथ) के आठवें अध्याय के सातवें उद्देश्य के ४३४ वें सूत्र में १२६ वें पृष्ठ पर लिखा है कि–

"अदुवा तत्थ परक्कमत भुज्जो अचेल तणफासा फुसती, सीयफासा फुसती तेउ फासा फुसति, दसमसगफासा, फुसति, एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासा अहियासेति अचेले लाघविय आगममाणे। तवेसे अभिसमन्नागए भवति। जहेत भगवया पवेदिय तमेव अभिग्गमेच्चा सव्वओ सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया।।४३४।।

अर्थात्– जो साधु लज्जा जीत सकता हो वह वस्त्र रहित नग्न ही रहे। नग्न रहकर तृणस्पर्श, सर्दी , गर्मी, दशमशक तथा और भी अनुकूल प्रतिकूल जो परिषह आवें उन्हें सहन करे। ऐसा करने से साधु को अल्पचिन्ता (थोडी फिक्र) रहती हे और तप भी प्राप्त होता हे। इस कारण भगवान ने जैसा कहा है वैसा जानकर जैसे बने तैसे रहे।

आचाराग सूत्र के इस कथन से स्पष्ट होता है कि श्वेताम्बरीय ग्रथकार भी कपडो को परिग्रह मानते हैं। उसके कारण साधु के चित्त पर चिन्ता भार का होना स्वीकार करते हैं तथा इसकी कमी का भी अनुभव करते हैं। यानी श्वेताम्बरीय ग्रथकारो के मत से भी वस्त्र एक परिग्रह है बिना उसका त्याग किये साधु की कपडो के सभालने, रखने, उठाने, रक्षा करने, धोने आदि सम्बन्धी मानसिक चिता दूर नही होती है और न तप पूर्ण होता हे। इस कारण अभिप्राय यह साफ प्रगट होता है कि वस्त्र छोडे बिना साधु का चारित्र पूर्ण नही होता और चारित्र पूर्ण न होने से वस्त्र रखते हुए साधु को मुक्ति नही हो सकती। इसलिए स्त्रियों के श्वेताबरीय ग्रथकारो के मत से वस्त्र पहनने वाली स्त्रियो के चारित्र की पूर्णता नही हो सकती।

इसी आचाराग सूत्र के ९५ वें पृष्ठ पर सबसे नीचे पहली टिप्पणी में लिखा हुआ है कि–

"जिन कल्पिक होय तो सर्वथा वस्त्र रहित बनी अने स्थविर कल्पित होय तो अल्प वस्त्र धारण करीं"।यानी– यदि साधु जिनकल्पी हो तो बिल्कु ल वस्त्ररहित नग्न बने और यदि स्थविरकल्पी हो तो थोडे वस्त्र पहने ।

आचाराग सूत्र के टीकाकार की इस टिप्पणी से स्पष्ट होता है, कि साधु का ऊँचा वेश तो नग्न (नगा) है। जो साधु नग्न न रह सकता हो वह विवश (लाचार) होकर थोडे कपडे पहनता है। मुक्ति ऊँचा आचरण पालन करने से ही होती है, इस कारण साधु जब तक नग्न न हो तब तक उसको मुक्ति मिलना असभव है।

वस्त्र न रखने से साधु की मानसिक भावना कितनी पवित्र हो जाती है इस पर आचाराग सूत्र के छठे अध्यय के ३६० वें सूत्र में ९७ वें पृष्ठ पर ऐसा प्रकाश डाला है–

"जे अचेले परिवुसिए तस्सण भिक्खुस्सणो एव भवइ-परिजिन्ने मे वत्थे, वत्थे जाइस्सामि, सुत्र जाइस्सामि, सूइ जाइस्सामि, सधिस्सामि सीविस्सामि उक्कसिस्सामि वोक्कसिस्सामि, परिहरिस्सामि, पाउणिस्सामि ।।३६०।।

अर्थात्-(जो मुनि वस्त्र रहित नग्न होता है उसको यह चिन्ता नही रहती कि मेरा कपडा फट गया है, मुझे दूसरा नया कपडा चाहिए, सीने का धागा चाहिए, सुई चाहिए, मुझे अपना कपडा जोडना है, सीना है, बढाना है, फाडना है, पहनना है तथा उसकी तह करनी है।)

(आचाराग सूत्रकार जो स्वय श्वेताम्बरीय आचार्य हैं, कपडा रखने के निमित्त से मुनियों की मानसिक चिन्ता का उनके वस्त्र सम्बन्धी हर्ष विषाद का, राग द्वेष का अच्छा अनुभव करते हैं। इसी कारण बतलाते हैं कि जो साधु या साध्वी (आर्यिका) कपडे पहनते हैं उनको अपने कपडों के सीने, फाडने, जोडने, पहनने, रखने, उठाने, सुरक्षित रखने आदि की चिन्ता रहती है तथा नया कपडा गृहस्थ के यहाँ से माँगने की आकुलता रहती है। विचारने की बात है कि वस्त्र रखने से साधु के चित्त से ऐसी दुश्चिन्ता दूर नही हो सकती और जब तक मुनि के हृदय से दुश्चिता दूर न हो तब तक वह अतरग – बहिरग परिग्रह का त्यागी कैसे हो सकता है ? तथा परिग्रह का त्याग हुए बिना छठा गुणस्थान और उसके बहुत दूर आगे की मुक्ति भी कैसे हो सकती है ?

(स्त्री उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु के समान वस्त्र त्याग कर नग्न हो नही सकती क्योकि प्रथम तो वह लज्जावश ऐसा कर नही सकती , दूसरे श्वेताबरीय ग्रथकारो ने भी स्त्री को नग्न रहने का निषेध किया है।)

उन्होने स्पष्ट लिखा है कि-

"णो कप्पदि लिंग थीए अचेलाए होताए।"

यानी- स्त्री को अचेल (नग्न-वस्त्र रहित) रहना योग्य नही हे ।

वस्त्र रखने से साधु को कितनी आपत्तियों का सामना करना पड़ता हे इसका चित्र श्री शुभ चन्द्राचार्यने अच्छा खीचा है। वे लिखते हैं,

म्लाने क्षालयत कुत कृतजलाद्यारभत सयमो,
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यत प्रार्थनम् ।
कोपीनेपि हते परैश्च झगिति क्रोध समुत्पद्यते,
तन्नित्य शुचिरागहृत्शमवता वस्त्र ककुब्मडलम् ।।

अर्थात्-(मुनि का कपडा मैला हो जाय तो उसे धोने की आवश्यकता होती है और वस्त्र धोने पर पानी का आरम्भ होता है जिससे त्रस स्थावर जीवों की हिंसा के कारण सयम कैसे रह सकता है ? यदि मुनि के वस्त्र खो जावें तो उसके मन मे व्याकुलता होती है तथा स्वय उच्चपद धारी होकर भी साधु को नीच पदस्थ गृहस्थों से कपडे मॉगने पडते हैं। यदि कोई चोर, डाकू आदि दूसरा मनुष्य मुनि की कोपीन (चोलपट्ट-लगोटी) भी छीन लेवे तो साधु को झट उस पर क्रोध भावहो जायगा। इस कारण साधु के लिए ये वस्त्र हितकर नही हैं किन्तु पवित्र और राग भाव को हटाने वाले दिशारूपी वस्त्र यानी नग्न रहना ही ठीक है।)

वस्त्र रखने के विषय में यदि थोडा भी विचार किया जावे तो मालूम हो जाता है कि जब शरीर से राग भाव न हो तब शरीर ढकने के लिए कपडे पहने ही क्यो जावें ? अपने लिए कपडे

गृहस्थों से मागना–यह तब ही–बन सकता है जबकि कपडे से थोडा बहुत राग भाव होवे। साधु या आर्यिका अपने पास वस्त्र रक्खे तो उसे उनकी रक्षा के लिए भी सावधान रहना होगा क्योंकि उन कपडों के बिना उसका किसी तरह काम नही चल सकता। वस्त्र एक आत्मा से जुदा अन्य पदार्थ है। उसकी रक्षा के लिए सावधान होना यह ही मूर्छा है, पर–वस्तु का राग है, मोह है और लोभ कषाय है, ममत्व है। इसके रहते स्त्री महाव्रतधारिणी कैसे हो सकती है ?

(यदि कोई आर्यिका (साध्वी) ध्यान कर रही है उसका कपडा उस समय वायु आदि से उसके शरीर से उतर गया तो उस समय उसको उस कपडे को सभालने के लिए ध्यान छोडना होगा। इस रीति से भी यदि देखा जावे तो वस्त्र सयम को बिगाड़ने का साधन है।)

कपडों में शरीर के पसीने से जू , लीख आदि सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं तथा चीटी खटमल, मच्छर आदि जीव–जतु इधर–उधर से कपडो में आकर रह जाते हैं। उन जीवों का शोधना शरीर से उतारकर झाडे–फटकारे आदि बिना नही हो सकता। और झाडने–फटकारने से उन जीवों का घात होता है। इस कारण कपडो के उठाने, रखने, सुखाने, धोने, फाडने, फटकारने आदि कार्यों से असयम होता है। अतएव स्त्री को वस्त्रो के कारण निर्दोष सयम नही हो सकता और निर्दोष सयम हुए बिना मोक्ष नही मिल सकता।

सयमी की उच्च दशा वस्त्र रहित नग्न रूप है। उस दशा को बिना प्राप्त किये अतरग शुद्धि नही होती है। (अतएव वस्त्र त्याग किये बिना मुक्ति नही हो सकती। इस कारण स्त्री को यथाख्यात चारित्र तथा मुक्ति होना असभव है।)

वस्त्रो के कारण साधु, साध्वी का परिग्रह त्याग महाव्रत तथा अहिंसा महाव्रत नही बन सकता है। इसका अच्छा खुलासा, गुरुका स्वरूप नामक प्रकरण में आगे करेंगे। इस कारण इसको यही समाप्त करते हैं।

स्त्रियों की शारीरिक रचना

स्त्रियों के शरीर की रचना भी उनको मुक्ति प्राप्त करने में बाधक कारण है। उनकी शारीरिक रचना उनके हृदय में परम पवित्रता नही आने देती जिससे कि स्त्रियो को अप्रमत्त आदि गुणस्थान तथा सकल चारित्र, यथाखयात चारित्र हो सके, तथा उनके अगोपाग भी ऐसे हैं कि उनके ध्यान में दृढता नहीं रखा सकते हैं, क्षोभ उत्पन्न करा देते हैं, इस कारण उनको शुक्लध्यान होना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है।

प्रथम तो स्त्रियों के अगो मे (योनि, स्तन, और काँख में) सम्मूर्छन पचेन्द्रय जीव उत्पन्न होते रहते हैं और मरते रहते हैं। (श्वेताम्बरीय सिद्धान्त के अनुसार केवलज्ञान हो जाने पर भी औदारिक शरीर में कुछ अतर नही आता। समस्त धातु– उपधातु पहले जैसे ही रहते हैं। तदनुसार (श्वेताम्बर व सिद्धान्तानुसार) स्त्रियों के केवली होने पर भी उन अगो में सम्मूर्छन जीवो की उत्पत्ति, मरण होता ही रहेगा। इस तरह स्त्री का शरीर स्वभावसे हिसा का स्थान है। इस हिंसा को दूर करना स्त्रियों की शक्ति से बाहर है। अत उनके शरीर से सयम की शुद्धता पूर्ण नही बन सकती।)

दूसरे–स्त्रियों का शरीर बाह्य शुद्धि नही रख सकता क्योकि उनके अग से अशुद्ध मल बहता रहता है। प्रति मास और कभी बीच , बीच में भी रजस्राव (रज निकलना) हुआ करता है जिससे कि वे अपवित्र रहती हैं। उस समय उनको किसी मनुष्य, स्त्री का शरीर, शास्त्र आदि

स्पर्श करने की आज्ञा नही है और उस अपवित्रता में ध्यान नही बन सकता है। यह सदाकालीन अशुचिता भी मानसिक पवित्रता की बाधक है।]

तीसरे-[कम से कम प्रतिमास मासिक धर्म (रजस्वला) हो जाने के पीछे स्नान करने के लिए साध्वी को (आर्यिका को) जल की आवश्यकता होती है। इस कारण आरम्भ का दोष उनसे नही छूट सकता। बिना आरम्भ छूटे महाव्रत भी कैसे पल सकते हैं?]

चौथे-[साध्वी स्त्री को रजस्वला हो जाने के पीछे अपनी साडी बदलने की भी आवश्यकता होती रहती है। इस कारण विवश (लाचार) होकर उन्हें गृहस्थ से वस्त्रो की याचना करनी पडती है क्योंकि बिना दूसरा वस्त्र बदले उनके शरीर तथा हृदय में पवित्रता नही आती। इस कारण वस्त्र रूप परिग्रह से उनका छुटकारा नही होता। अतएव उनके महाव्रत होना असभव है।]

पाँचवें -[ध्यान करते समय यदि कोई दुष्ट पुरुष स्त्रियो के गुप्त अगों को छू ले तो उसी समय उनके मन में विकार उत्पन्न होकर ध्यान छूट जाता है। इस कारण स्त्रियों के अपने शारीरिक अगों के कारण निश्चल ध्यान भी नही बन सकता।]

इत्यादि अनेक दोष आ जाने के कारण स्त्रियो का शरीर मोक्ष प्राप्ति का बाधक कारण है, इसलिए उन्हें मुक्ति मिलना असभव है।

सारांश

ऊपर बतलाये हुए कारणो से श्वेताम्बर सम्प्रदाय का कथन असत्य प्रमाणित होता है क्योंकि ज्ञान, चारित्र, शक्ति, शुचिता आदि जिस किसी दृष्टि से भी विचार करते हैं यह ही सिद्ध होता है कि स्त्री को महाव्रत, शुक्ल ध्यान होना, यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति तथा मोक्ष का मिलना असभव है। इस स्त्री मुक्ति के विषय में श्री शुभचन्द्राचार्य यों लिखते हैं-

स्त्रीणा निर्वाणसिद्धि कथमपि न भवेत्सत्यशौर्याद्यभावात्

मायाशौचप्रपचान्मलभयकलुषान्नीचजातेरशक्तेः।

साधूना नत्यभावा प्रबलचरणताभावत पुरुषतोन्य

भावाद्धिसॉगकत्वातसकलविमलसद्ध्यानहीनत्वतः च।।

अर्थात्- स्त्रियों में सत्य, शूरता आदि गुणो का अभाव होता है। मायाचार, अपविन्त्रता उनमें अधिकतर पाई जाती है। रज मल, भय ओर कलुषता उनमे सदा रहती है, उनकी जाति नीच होती है, उनमें उत्कृष्ट बल नही होता, साधु उनको नमस्कार नही करते, उत्कृष्ट चारित्र उनके नही होता है, वे पुरुषों से भिन्न स्वभाव वाली होती हैं, उनमें सपूर्ण निर्मल ध्यान की हीनता होती है। इस कारण स्त्रियों को कदापि मुक्ति नही हो सकती।

* ** *

द्रव्य पुरुषवेद से ही मुक्ति होती है

ससार का नाश और मुक्ति की प्राप्ति मनुष्य गति से ही होती है यह निर्विवाद सिद्ध है। क्योंकि नरक गति में रोने, मारने,पीटने आदि दु खो में जीवन व्यतीत होता है। देव गति में विषय भोगों से विराग ही नहीं होने पाता और पशु गति में ज्ञान की कमी से ध्यान, सयम, रत्नत्रय

आदि सामग्री नही मिल पाती। मनुष्य गति में सब प्रकार की सामग्री मिल जाती है इस कारण मनुष्य गति से स्वर्ग, नरक, तिर्यंच, मुक्ति आदि सभी गतियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

किन्तु मनुष्य गति पाकर भी नपुसकों को शक्ति के अभाव से तथा प्रबल काम वेदना से वीतराग भाव नही हो पाते। इसीलिए उनको मुनि दीक्षा ग्रहण करनें का भी अधिकार नही है। अत उनको मोक्ष नही होता है। स्त्रियों को मोक्ष प्राप्त करने योग्य साधनों का अभाव है यह सिद्ध कर ही चुके हैं।

अत शेष पुरुष रहे उनको ही सब प्रकार के साधन प्राप्त हैं। वज्र ऋषभनाराच सहनन, वस्त्र रहित नग्न वेश, कठिन से कठिन परीषह सहन करने योग्य अनुपम धैर्य, उच्च कोटि का ज्ञान, महाव्रत आदि कर्मनाश करने के समस्त कारण मनुष्यों को मिल जाते हैं। इस कारण योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मिल जाने पर जो मनुष्य मुनिव्रत धारण कर ध्यान करता है वह भव्य पुरुष कर्मनाश करके मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

श्वेताम्बर मुनि आत्मारामजी ने जो तत्वनिर्णयप्रासाद के ६१८ वें पृष्ठ पर निम्नलिखित त्रिलोकसार की गाथा लिखकर दिगम्बरीय शास्त्रों से स्त्री मुक्ति सिद्ध करनी चाही है वह उनकी हास्यजनक मोटी भूल है। क्योंकि उसमें स्त्री शरीर धारी जीव को मुक्ति नही बतलाई है किन्तु द्रव्य पुरुष वेदी को ही ९वें गुण स्थान के पहले भावों की अपेक्षा स्त्री, पुरुष, नपु सक वेद बतलाये हैं। वह गाथा यह है–

वीस नपूसयवेया इत्थीवेया य हुंति चालीसा।

पुवेया अडयाला सिद्धा-इक्कम्मि समयम्मि।।

अर्थात्– भाव वेद की अपेक्षा एक समय में अधिक से अधिक बीस नपु सक, चालीस स्त्री वेदी, और ४८ पुरुष वेदी ऐसे १०८ जीव सिद्ध होते हैं।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि त्रिलोकसार के रचयिता श्री नेमिचद्राचार्य सिद्धान्त चक्रवर्ती द्रव्यस्त्री तथा द्रव्य नपु सकको भी मोक्ष होना बतलाते हों। किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि श्रेणी चढते समय किसी मुनि के भावस्त्री वेद का उदय होता है किसी के नपु सक भाववेद का उदय होता है और किसी के पुरुष भाववेद का उदय होता है। द्रव्य से सब पुरुषधारी ही होते हैं। भावों की अपेक्षा वेद नोकषाय के उदय से केवलज्ञानिगम्य उनके भिन्न –भिन्न वेद हो सकते हैं।

श्वेताम्बर मुनि आत्मारामजी यदि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की लिखी हुई गाथा का ठीक अभिप्राय समझने का कष्ट उठाते तो वे कभी ऐसी मोटी भूल नहीं करते, क्योंकि जो श्री नेमिचन्द्राचार्य गोम्मटसार कर्मकाण्ड में लिखते हैं कि

अतिमतियसहणणस्सुदओ पुण कम्यमूभिमहिलाण।

आदिमतियसहणणा यत्थित्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।।३४।।

यानी– कर्म भूमिज स्त्रियों के (जो चारित्र धारण कर सकती है) अतिम तीन सहनन होते हैं। उनके वज्र ऋषभनाराच आदि तीन उत्तम सहनन नही होते हैं।

इस गाथा द्वारा वे स्त्रियों के वज्रऋषभनाराच सहनन का स्पष्ट निषेध करते हैं जिनके बिना मोक्ष प्राप्त होना असभव है।

दिगम्बरीय ग्रथों में द्रव्य स्त्री को पाँचवें गुणस्थान से आगे का कोई गुणस्थान नही बतलाया है, परिग्रह त्याग महाव्रत का अभाव बतलाया है। फिर भला, उनको मुक्ति होना वे कैसे बतला सकते हैं। दिगम्बर जैन ग्रथकारों का यह जग प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि नग्न वेश धारण किये बिना छठा आदि गुणस्थान नही होता है। स्त्रियाँ नग्न हो नही सकती। अत उनको छठा गुणस्थान भी नही हो सकता। मुक्ति तो चौदहवें गुणस्थान से भी आगे होगी।

अत साराश यह है कि पुरुष का शरीर होने पर भी भाव पलटने से मनुष्य के स्त्री, नपुसक वेद का उदय हो आता है। इस बात को श्वेताबरीय ग्रथकार भी स्वीकार करते है। इसी भाववेद परिवर्तन के अनुसार पुरुषलिंग शरीरधारी को भावो की अपेक्षा स्त्री, नपुसक बतलाया है ओर उस अन्य भाव वेदधारी साधु को श्रेणी पर चढकर मुक्त होना बतलाया है।

किंतु यहा इतना ध्यान और रहे कि नौवें गुणस्थान के आगे यह कोई भी भाववेद नही रहता, केवल द्रव्य पुरुष वेद ही रहता है। इस कारण "वीस नपु सयवेया" आदि गाथा का कथन भूत प्रज्ञापन भाव वेद की अपेक्षा से है। अत सिद्ध हुआ कि पुरुष को ही मुक्ति होती है। यदि स्त्री पर्याय ही इस वेद का अर्थ होता तो वह वेद नोवे गुणस्थान के आगे सर्वथा नष्ट हो जाना जो बताया है वह कैसे बन सकता है?

क्या श्रीमल्लिनाथ तीर्थकर स्त्री थे ?

इस हुडावसर्पिणी युग के चौथे काल में जो श्री ऋषभ देव, अजितनाथ आदि २४ तीर्थकर हुए हैं जिन्होने क्रम से अपने अपने समय में जैन धर्म का उद्धार, प्रचार किया है उनमे से १९ वे तीर्थंकर का नाम श्री मल्लिनाथ था। इन १९ वें तीर्थंकर के विषय में श्वेताम्बर सम्प्रदाय का यह कहना है कि ये पुरुष नही थे, स्त्री थे। उनका नाम यद्यपि श्वेताम्बरीय ग्रथो में "मल्लिनाथ" ही लिखा है। अन्य प्राचीन श्वेताम्बरीय ग्रथकारो की बात तो एक ओर रहे किन्तु उसके नवीन प्रसिद्ध ग्रथकार मुनि आत्मारामजी ने जैन तत्त्वादर्श ग्रथ के २१वें पृष्ठ पर तीर्थंकरो के ५२ बावन बोल बतलाते हुए इन १९ वें तीर्थकर का नाम "श्री मल्लिनाथ" ऐसा लिखा है। जिस शब्द के अत में "नाथ" शब्द होता है पुल्लिग ही समझा जाता है। इस कारण उनके लिखे अनुसार भी श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर पुरुष ही थे।

किन्त कुछ ग्रथकारो ने कही–कही उनका नाम "मल्लि कुमारी" लिखा है।

स्त्री तीर्थंकर का होना यद्यपि सर्वथा नियम विरुद्ध है किन्तु श्वेताबर ग्रथकारो ने इस नियम विरुद्ध असत्य बात को "अछेरा" कह कर टाल दिया है। "अछेरा" शब्द का अर्थ एक तो आश्चर्य है। यानी ऐसी बात जो कि विस्मय (अचम्भा) उत्पन्न करने वाली हो। दूसरा इस अछेरा शब्द का अर्थ यह भी किया जाता है कि "अछेरा" यानी– ऐसी न हो सकने योग्य बाते जिनके विषय में कोई प्रशन ही न छेडो। शका रूप में ही रहने दो।

किन्तु ये सब बातें अपना दोष छिपाने के लिए हैं। बुद्धिमान पुरुष को प्राकृतिक नियमो के सामने प्रत्येक बात की सत्यता, असत्यता का निर्णय किये बिना मिथ्यात्व नही हट सकता, और सच्चा श्रद्धान नही हो सकता और इसी कारण सम्यग्दर्शन होना असभव है।

प्रकरण रत्नाकर (प्रवचन सारोद्धार) के तीसरे भाग के ३५५ वें पृष्ठ पर यो लिखा है–

उवसग्ग गब्भहरण इच्छी तित्थ अभाविया–परिसा।

कण्हस्स अवरकका अवयरण चदसूराण।।८९२।।

अर्थात्- श्री महावीर स्वामी तीर्थंकर पर उपसर्ग होना, महावीर स्वामी का गर्भहरण, स्त्री तीर्थंकर मल्लि कुमारी, महावीर स्वामी की अभाविता परिषत् यानी उनका कुछ समय के लिए उपदेश व्यर्थ हुआ, कृष्ण का धातकी खड की अपर कक्का नगरी में जाना, चन्द्र सूर्य का अपने विमान सहित पृथ्वी पर उतरना ये अछेरे है।

इसके आगे ३५६ वें पृष्ठ पर लिखा है-

"तीर्थ शब्द द्वादशागी अथवा चतुर्विध सघ ते त्रिभुवनने अतिशायी निरूपम महिमाना धणी एवा पुरूष थकीज प्रवर्तवु जोइये। ते आ वर्तमान चौवीसीमाँ कु भ राजानी प्रभावती राणीनी पुत्री श्री मल्ली एव नामे कुमरी थई तेणेज उगणीसमो तीर्थकर थइने तीर्थ प्रवर्ताव्यु ए पण त्रीजु आश्चर्य जाणवु ।"

अर्थात्- (तीर्थ शब्द का अर्थ द्वादशाग अथवा श्रावक, श्राविका, मुनि, आर्यिका ये चार प्रकार का सघ है। इस द्वादशाग अथवा चतुर्विध सघ को चलाने वाला तीन लोक का अतिशयधारी, अनुपम महिमा का स्वामी ऐसा पुरुष ही होना चाहिए। किन्तु इस वर्तमान चौबीसी में कु भ राजा की प्रभावती रानी की पुत्री श्रीमल्ली नाम की कुमारी हुई उसी ने उन्नीसवा तीर्थंकर होकर तीर्थ चलाया। यह तीसरा आश्चर्य है।)

यद्यपि स्त्री का तीर्थकर होना, केवली होकर मोक्ष जाना आगम, अनुमान आदि प्रमाणो से विरुद्ध है जो कि हम पीछे सिद्ध कर आये हैं। किन्तु यहा पर इस श्री मल्ली कुमारी तीर्थंकरी की बात को श्वेताम्बरीय शास्त्रो से भी प्रमाण विरुद्ध ठहराते हैं।

प्रकरण रत्नाकर अपर नाम प्रवचन सारोद्धार तीसरा भाग के ५४४ वे पृष्ठ की अतिम पक्ति में एक गाथा यह है-

अरहत चक्कि केसव बलसभिन्नेय चारणे पुव्वा।

गणहर पुलाय आहारग च न हु भविय महिलाण।।५२०।।

यानी- अर्हंत, अर्थात् तीर्थकर, चक्रवर्ती, नारायण, बलभद्र, सभिन्न श्रोता, चारणऋद्धि, पूर्वधारित्व, गणधर, पुलाक और आहारक ऋद्धि ये दश पद भव्य स्त्रियो के नही होते है।

प्रवचन सारोद्धार नामक श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ग्रथ के इस नियम के अनुसार स्त्री का तीर्थकर होना निषिद्ध है। फिर श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर को स्त्री कहना श्वेताम्बरीय आगम प्रमाण से बाधित है अतएव असत्य है। प्रवचन सारोद्धार की उक्त गाथा को प्रामाणिक स्वीकार करने वाले पुरुष को "माता में बन्ध्या" यानी मेरी माता बध्या (बाझ) है इस कहावत के अनुसार गलत है। इसलिए श्वेताम्वरी भाइयो के लिए इन दो बातो में से एक ही मान्य हो सकती है या तो वे श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर को पुरुष मानें-स्त्री न कहे, अथवा प्रवचन सारोद्धार को अप्रामाणिक कह देवे।

दूसरे- मल्लिनाथ तीर्थकर का जीव तीसरे अनुत्तर विमान जयन्तसे चयकर आया था ऐसा ही मुनि आत्माराम जी अपने जैन तत्त्वादर्श ग्रथ के ३१ में पृष्ठ पर तीर्थंकरो के बावनबोल में लिखते हैं। तदनुसार जयन्त विमान से आया हुआ श्रीमल्लिनाथ तीर्थंकर का जीव स्त्री हो भी नही सकता, पुरुष ही हो सकता है ऐसा कर्म सिद्धान्त का नियम है।

प्रकरण रत्नाकर के (चौथा भाग) सग्रहणी सूत्र नामक प्रकरण के ७६ वें पृष्ठ पर यह लिखा है कि,

आणयपमुहा चविउ मणुएसु चेव गच्छति ।।१६५।।

यानी– आनत आदि स्वर्गो के देव मरकर मनुष्यो मे उत्पन्न होते है

तदनुसार अनुत्तर विमानो मे केवल देव ही होते है, देवी नही होती है। इस कारण वहाँ से आया हुआ जीव 'स्त्री' किसी प्रकार हो ही नही सकता। फिर जयन्त विमान से आया हुआ श्री मल्लिनाथ तीर्थकर का जीव स्त्री कैसे हो सकता है? ग्रैवेयक के ऊपर सभी देव होते है और वे सभी पुरुष होते हैं, स्त्री कोई भी नही होता।

और सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्री होता नही ऐसा अटल नियम है। यदि सम्यग्दृष्टि जीवने मनुष्य आयु बाधली हो तो वह पुरुष ही होगा, स्त्री, नपुसक कदापि न होगा। अनुत्तर विमानवासी सभी देव सम्यग्दृष्टी होते है और तीर्थकर प्रकृति वाला जीव तो कही भी क्यो न हो, समयग्दृष्टि ही होता है। फिर जयन्त विमान से चयकर आया हुआ श्री मल्लिनाथजी तीर्थकर का सम्यग्दर्शन धारक जीव स्त्री क्यो होवे? इसका उत्तर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के पास कुछ नही है।

प्रकरण रत्नाकर के (चौथा भाग) छठे कर्मग्रथ की **'जोगोव–ओग लेस्सा'** इत्यादि ५५ वी गाथा की टीका में यो लिखा है–

(८–९ वी पंक्ति)

"अविरतिसम्यग्दृष्टि वैक्रियिक मिश्र तथा कार्मण कार्ययोगी ए बेहुने स्त्री वेदनो उदय न होय जे भणी वैक्रिय काययोगी अविरत सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री वेदमॉहे न उपजे।"

अर्थात्– अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवाले वैक्रियिकमिश्र और कार्माणयोगधारी जीवके स्त्रीवेदका उदय नही होता है। क्योकि वैक्रियिक काययोगवाला अविरत सम्यग्दृष्टि जीव स्त्री नही होता है।

इससे यह सिद्ध हो गया कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर देवी नही होता है। इसके आगे इसी पृष्ट में २६ से २८ वी तककी पक्तियो में यो लिखा है–

"तथा औदारिकमिश्र काययोगीने चोथे गुणठाणे स्त्री वेद अने नपुसकवेदनो उदय न होय, ते मॉहे औदारिक मिश्रयोगी सम्यग्दृष्टि ने उपजवु नथी ते भणी ए चौथे गुणठाणे आटचौवी शीने स्थान के केवल पुरुषवेद विकल्पना औदारिक मिश्रयोग आठ अष्टक भागा होय अहीआ वे वेदना शोल भागा प्रत्येक चौवीशी मध्ये थी टालवा।'

अर्थात्–औदारिक मिश्र योगवाले के चौथे गुणस्थान मे स्त्रीवेद नपुसक वेदका उदय नही होता है। इन स्त्री, नपुसक वेदो मे औदारिक मिश्रवाला सम्यग्दृष्टि नहीं उत्पन्न होता है। इस कारण चौथे गुण स्थान मे आठ चौवीशीके स्थानक मे केवल पुरुषवेद विकल्प का औदारिक मिश्र योग मे आठ अष्टक भग होता है।

इस प्रकार यह कर्मग्रथ भी सम्यग्दृष्टि जीव का स्त्री शरीर पाना स्पष्ट निषेध करता है। फिर अनुतरविमानवासी सम्यग्दृष्टि देव मरकर मल्लीकुमारी नामक स्त्री कैसे हो सकता है? कर्मग्रथ का नियम तो कदापि पलटता नही। इस कारण श्रीमल्लिनाथ तीर्थकर को स्त्री कहना कर्मग्रथ विरुद्ध है। अतएव असत्य है। तीर्थकर का अवर्णवाद है। और यह कर्म की रेख पर मेख मारना है।

तथा–श्रीमल्लिनाथ तीर्थकर श्वेताम्बर सम्प्रदाय के कथनानुसार स्त्री थे इस कारण उन्होने अपने पहनने के लिए तपस्या करते समय साडी अवश्य रक्खी होगी। उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु के समान समस्त वस्त्र परिग्रह छोडकर नग्न हो तपश्चरण न किया होगा। केवल देवदूष्य वस्त्र से जो कि कधे पर रक्खा रहता है काम न चला होगा। इस कारण परिग्रह सहित तपस्या की है।"

वैसे तो श्रीमल्लिनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा श्वेताम्बरी भाई भी स्त्री के रूप में वनाते नही हैं। कही भी कोई प्रतिमा स्त्री आकार में देखी नही। किन्तु यदि वह सत्य रूप देने के लिए स्त्री आकार में बनाई भी जावे तो उस प्रतिमा की वस्त्र आभूषण आदि परिग्रह बिना वीतरागदशा रखने से नग्न शरीर में कुच आदि अग दीख पड़ेंगे।

यदि उस स्त्रीरूपधारिणी श्री मल्लिनाथ की प्रतिमा को वस्त्र आभूषण आदि से ढककर रक्खा जायगा तो लक्ष्मी, पार्वती, राधा आदि मूर्तियों के समान वह भी दर्शन करने वाले मनुष्यों को वीतराग भाव उत्पन्न न कराकर रागभावही उत्पन्न करावेगी।

इस प्रकार श्री मल्लिनाथ तीर्थंकर को स्त्री कहना असत्य है।

* * *

अर्हन्त पर उपसर्ग और अभक्ष्यभक्षण का दोष

दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा बतलाये हुए श्री महावीर तीर्थंकर के चरित में बहुत अतर है। उसमें एक मोटा भारी अतर यह है कि दिगम्बर सप्रदाय तो यह कहता है कि केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर केवली का आत्मा इतना प्रभावशाली हो जाता है कि उन पर कोई भी देव, मनुष्य, तथा पशु किसी प्रकार का उपद्रव नही कर सकता। तदनुसार श्री महावीर स्वामी के ऊपर केवली हो जाने पर कोई भी उपसर्ग नही हुआ।

किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रथ केवली पर उपसर्ग न होने रूप प्रभावशाली नियमको स्वीकार करते हुए भी श्री महावीर स्वामी के ऊपर केवलज्ञान हो जाने के पीछे गोशाल नामक मनुष्य से उपसर्ग हुआ बतलाते हैं। उस उपसर्ग से महावीर स्वामी को ६ मास तक पेचिश के दस्त होते रहे। इस बात को कल्प सूत्र के १८ वें पृष्ठ पर इस प्रकार लिखा गया है कि-

महावीर स्वामी के पास छद्मस्थ साधु दशा में एक मखली ग्वाले का लडका 'गोशाल' शिष्य बनकर रहने लगा। उसने एक बार एक अजैन साधु के पास तेजोलेश्या (जिसके प्रभाव से किसी जीव को जला सके) देखी जो कि उसने गोशाल के ऊपर छोडी थी और महावीर स्वामी ने उस तेजोलेश्या की अग्नि को अपनी छोडी हुई शीतलेश्या से शात कर दिया था।

यह देखकर गोशालने महावीर स्वामी से पूछा कि महाराज ! यह तेजोलेश्या कैसे सिद्ध होती है ? महावीर स्वामी ने उसको तेजोलेश्या सिद्ध करने की विधि बतला दी।तदनुसार गोशालने वह लेश्या सिद्ध भी कर ली। तेजोलेश्या सिद्ध हो जाने पर गोशाल महावीर स्वामी से अलगरहनेलगाऔरअपनेआपको"जिनेन्द्रभगवान् " कहने लगा तथा अपने अनेक शिष्य भी उसने बना लिए।

महावीर स्वामी को जब केवलज्ञान हो गया तो वे एक दिन उस श्रावस्ती नगरी में आये जहाँ गोशाल ठहरा हुआ था। नगरी में गोशाल को जनता के मुखसे "जिनेन्द्र भगवान्" सुनकर महावीर स्वामी की सभा के लोगों ने महावीर स्वामी से पूछा कि भगवन् ! यहाँ दूसरा जिनेन्द्र भगवान् कौनसा आ गया ? महावीर स्वामी ने कहा कि मखली ग्वाले का पुत्र गोशाल मुझसे कुछ विद्या सीख कर व्यर्थ अपने आपको 'जिनेन्द्र' कहकर यहाँ ठहरा हुआ है।

महावीर स्वामी के मुख से निकली हुई यह बात गोशाल ने किसी मनुष्य से सुनली। उसको अपनी निंदा सुनकर महावीर स्वामी के ऊपर बहुत क्रोध आया। उसने भोजनार्थ निकले हुए महावीर

स्वामी के शिष्य 'आनद' मुनि से यों कह' कि आनद ! महावीर स्वामी ने मेरी निन्दा की है सो यह बात ठीक नही। तू जाकर अपने स्वामी से कह दे कि यदि वे मेरी निन्दा करेंगे तो मैं उनको जला दूँगा।

आनद मुनि ने यह बात आकर महावीर स्वामी से कही।

तदनतर क्या हुआ ? उस वृत्तान्त को सस्कृत टीकाकारने कल्पसूत्र के २४ वें पृष्ठ पर यों लिखा है–

ततो भगवता उक्तभो आनन्द शीघ्र त्व गच्छ गौतमादीन् मुनीन् कथय यत एव गोशाल आगच्छति न केनाप्यस्य भाषण कर्तव्य इतस्तत सर्वेपसरन्तु। भगवत्तिरस्कार असहमानौ सुनक्षत्रसर्वानुभूती अनगारौ मध्ये उत्तर कुर्वाणौ तेन तेजोलश्यया दग्धौ स्वर्गं गतौ .. एव च प्रभुणा यथास्थितेमिहिते स दुरात्मा भगवदुपरि तेजोलेश्या मुमोच सा च भगवन्त त्रि प्रदक्षिणी कृत्य गोशालकशरीर प्रविष्टा, तथा च दग्धशरीरो विविधा वेदना अनुभूय सप्तमरात्रौ मृत ।"

भावार्थ– तब भगवान् महावीर स्वामी ने आनन्द से कहा कि तू गोतम गणधर आदि सब मुनियों से जाकर कह दे कि गोशाल यहाँ पर आ रहा है सो कोई भी उसके साथ बातचीत न करे। समस्त, साधु इधर–उधर चले जावें।

आनद ने जाकर सबसे वैसा ही कह दिया,

तदनन्तर वहाँ पर गोशाल आया। उसने आकर क्रोध से महावीर स्वामीसे कहा कि तुम मेरे लिए यह क्या कहते हो कि यह मखली ग्वाले का पुत्र गोशाल है। गोशाल तो कभी का मर गया। मैं दूसरा ही हूँ।

इस प्रकार भगवान् महावीर का तिरस्कार होते देखकर सुनक्षत्र और सर्वोनुभूति नामक साधुओ से न रहा गया और उन्होंने उसको कुछ उत्तर दिया कि झट गोशालने उन दोनो पर तेजोलेश्या चलाकर उन्हें वही पर उसी क्षण भस्म कर दिया।

तब फिर महावीर स्वामी ने भी उससे कहा कि तू वह ही मेरा शिष्य गोशाल है दूसरा कोई नहीं है। मेरे सामने तू नही छिप सकता।

इस प्रकार अपनी सच्ची निन्दा सुनकर गोशाल ने महावीर स्वामी के ऊपर भी तेजोलेश्या चला दी। किन्तु तेजोलेश्या महावीर स्वामी की तीन प्रदक्षिणा देकर उस गोशाल के शरीर में ही घुस गई। जिससे वह जलकर सातवी रात मर गया। परन्तु उस तेजोलेश्या की गर्मी से महावीर स्वामी को भी छह मास पेचिश के दस्त होते रहे।

इस रोग को दूर करने का वृत्तान्त भगवती सूत्र में १२६७ वें से १२७२ वें तक के पृष्ठो पर यो लिखा है कि–

महावीर स्वामी के पित्तज्वर पीडित शरीर को देखकर सब साधु महावीर स्वामी के पास आकर रोने लगे। तब महावीर स्वामी ने उनसे कहा कि तुम मेरे भद्रपरिणामी शिष्य 'सिंह' नामक साधु को बुलाओ। तब उन्होंने 'सिंह' नामक साधु मे कहा कि तुम को महावीर स्वामी बुला रहे हैं।

तब सिंहमुनि महावीर स्वामी के पास आया। महावीर स्वामी ने उससे कहा कि सिंह ! तू मुझे छह मास तक ही जीवित मत समझे। मैं अभी सोलह वर्ष तक और हाथी के समान विहार करूँगा।

इससे आगे १२६९ वें पृष्ठ पर यों लिखा है-

"त गच्छहण तुम सीहा मिढियगाम णयर रेवतीए गाहावइणीए गिहे, तत्थण रेवतीए गाहावईए मम अड्ढाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं णो अट्ठे अत्थि। से अण्णे परियासि मज्जार कडए कुक्कुडमसए तमाहाराहि, तेण अट्ठो।

इसकी सस्कृतच्छाया इसके नीच यो लिखी है-

तद्गच्छ त्व सिंह ! मढिकग्रामे नगरे रेवत्या गृहपतिपत्न्या गृहे, तत्र रेवत्या गृहपतिपत्न्या ममार्थं द्वे कपोतकशरीरे उपस्कृते ताभ्या नैवार्थोस्ति, अथान्य परिवासित मार्जार- कृत कुक्कुटमासकतमाहर (आनय) तेनाथोंस्ति।

अर्थात्- इसलिए हे सिह मुनि! मढिकगाँव नामक नगर में रेवती गृहस्वामिनी के घर तू जा। उस रेवती ने मेरे लिए दो कबूतरो का शरीर पकाया है उससे कुछ प्रयोजन नही किन्तु उसके यहाँ अपनी बिल्ली के लिए बनाया हुआ बासा (एक रात का रक्खा हुआ) मुर्गे का (कुक्कुट का) माँस भी रखा है उसको ले आ। उससे काम है।

यह सुनकर सिंह मुनि प्रसन्न हुआ और वहाँ से चलकर मढिक गाँव में रेवती के घर पहुँचा। रेवती सिंह मुनि को अपने घर आया देखकर प्रसन्न हुई और उठकर कुछ आगे चलकर उसने सिंह मुनि से पूछा कि आप क्यो पधारे हैं ?

तव सिंह मुनि १२७० तथा १२७१वे पृष्ठ पर यो कहता है-

"तुह्मं देवाणुप्पिए ! समणस्स भगवओ महावीरस्स अड्ढाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहि गो अट्ठो, अत्थि ते अण्णे परिवासिए मज्जारकडए कुक्कुडमसए तमाहारहि तेण अट्ठो।"

सस्कृतच्छाया-"त्वया देवानुप्रिये! श्रमणस्य भगवतो महावीरस्यार्थ द्वे कपोतकशरीरे उपकृते, ताभ्या नेवार्थ ।अस्ति तवान्य परिवासित मार्जारकृत कुक्कुटमासक तमाहर तेनार्थ ।"

यानी- हे देवानुप्रिये ! तूने भगवान महावीर स्वामी के लिए दो कबूतर बनाये हे उनसे मुझे कुछ मतलब नही किंतु तेरे पास बिल्ली के लिए बना हुआ दूसरा कुक्कुट का (मुर्गेका) बासा माँस है उससे मतलब है, उसे तू ले आ।

तदनतर रेवती को यह सुनकर आश्चर्य हुआ ।उसने पूछा तुमने मेरे घर की बात कैसे जानी ? तब सिंहमुनि ने रेवती से कहा कि मैंने जैसा तुझसे कहा है वैसा मे सब जानता हू। तब रेवती ने प्रसन्न होकर उसको वह सब दे दिया। इस दान के प्रभाव से रेवती ने देवायुका बध किया।

सिह मुनि ने वह भोजन लाकर महावीर स्वामी के हाथ में छोड दिया और महावीर स्वामी ने उस भोजन को खाकर पेट में पहुँचा दिया।

तदनन्तर १२७२ वें पृष्ठ पर यो लिखा है-

"तएण समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहार आहारियस्स समणस्स विपुले रोगाय के खिप्पामेव उपसते। हट्ठे जाए आरोग्गे वलियसरीरे तुड्ढा समणा" इत्यादि।

सस्कृत-"तदा श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य तमाहारमाहार्यमाणस्य विपुलो रोगातङ्क क्षिप्रमेवोपशान्त , हृष्टो जात आरोग्यो बलवच्छरीर तुष्टा श्रमणा " इत्यादि।

यानी- तब उस आहार को करने वाले श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का प्रबल रोग व्याधि तुरन्त शान्त हो गई। भगवान् प्रसन्न हुए, उनका शरीर नीरोग हुआ, सब साधु सन्तु ट हुए।

भगवती सूत्र के उल्लिखित कपोत, कुक्कुट, मार्जार शब्दो के अर्थ कबूतर, मुर्गा और बिल्ली ही हैं। इसके लिए हम जगत्प्रसिद्ध सस्कृत शब्दो के भडार अमरकोश का प्रमाण उपस्थित करते हैं।

अमर कोश के दूसरे काण्ड सिहादि वर्ग के १४ वें श्लोक में लिखा है कि-

"पारावत कलरव कपोतोऽथ शशादन" ।।१४।।

अर्थात्- पारावत, कलरव और कपोत ये तीन नाम कबूतर के हैं।

इससे सिद्ध हो गया कि रेवती ने महावीर स्वामी के लिए दो कबूतर ही पकाये थे।

कुक्कुट शब्द का अर्थ अमर कोश के इसी द्वितीय काड के सिहादि वर्ग के १७ वें श्लोक में यों लिखा है-

कृकवाकुस्ताम्रचूड कुक्कुटश्चरणायुध ।।१७।।

यानी- कृकवाकु, ताम्रचूड, कुक्कुट, चरणायुध ये चार नाम मुर्गा के है।

इससे यह प्रमाणित हुआ कि रेवती के घर उसकी बिल्ली के लिए मुर्गे का माँस बना रक्खाथा जिसको सिंह मुनिने महावीर स्वामी के लिए माँगा और रेवती ने उसको उसे दे दिया।

मार्जार शब्द का अर्थ अमर कोश के उक्त दूसरे काड के सिहादिवर्ग मे यह लिखा है-

ओतुर्विडालो मार्जारो वृषदशक आखुभुक् ।।६।।

अर्थात्- ओतु, विडाल, मार्जार, वृपदशक, आखुभुक् ये ५ नाम बिल्ली के हैं।

इससे यह साबित हुआ कि भगवती सूत्र में आये हुए 'मार्जार' शब्द का अर्थ 'बिल्ली' ही है।

इस प्रकार भगवती सूत्र में जो महावीरस्वामी को माँस भक्षण करके रोग शान्त करने वाला लिखा है इसके विषय में क्या लिखा जाय? जो माँस गृहस्थ श्रावक के लिए अभक्ष्य है उसको तीर्थप्रवर्तक श्री महावीर स्वामी मँगवाकर खावें इससे बढकर हीन बात ओर क्या हो सकती है? भगवती सूत्र के ऐसे उल्लेख से जैन धर्म और विशेपतया श्वेताम्बर जैन धर्मका कितना भारी गदा अपवाद हो सकता है?

उक्त तीनो शब्दो का अर्थ अन्य प्राचीन कोप भी इसी प्रकार करते है। विश्वलोचन कोप टान्त वर्ग, ३८ वा श्लोक, ५० वा पृष्ठ-

कुक्कुटस्ताम्रचूडे स्यात् कुक्कुभे वाग्निकुक्कुटे।

निषादशूद्रयोश्चैव तनये त्रिषु कुक्कुट ।।

यानी- कुक्कुट शब्द के तीन वाच्य हैं मुर्गा अग्निकुक्कुट, भीलजाति, शूद्रजाति, तथा पुत्र।

कपोत स्यात् कलरवे कवकाख्ये विहङ्गमे,

कलित विदिताप्याप्ते स्वीकृतेऽप्यभिपत् ।१०२

विश्वलाचन १३६ पत्र तान्तवर्ग १०२ श्लो

अर्थात्- कपोत शब्द कलरव, कवक (कबूतर) का वाचक है तथा सूक्ष्म शब्द के लिए भी कपोत शब्द आता है।

मार्जार ओतौ खट्टाशे मुदिर कामुकेऽम्बुदे।

त्रिलोचन रान्तवर्ग २०८ वा श्लोक

अर्थात्- मा .ार, ओतु, खट्टाश, ये नाम बिल्ली के है।

मेदिनी कोष में भी ऐसा लिखा है-

कपोत स्याच्चि त्रकठपारावतविहड्गयो । २

पृष्ठ २३

अर्थ- कपोत, चित्रक्ठ, पारावत ये कबूतर के नाम हैं।

इस प्रकार प्राय सभी प्राचीन कोषों में कपोत, कुक्कुट, मार्जार शब्दों का अर्थ कबूतर, मुर्गा और बिल्ली लिखा हुआ है। भगवती सूत्र के इन शब्दों का अर्थ टीकाकारों ने बदलकर कुछ और किया है किन्तु वह अर्थ असगत तथा निराधार बैठता है। दो, एक विद्वानों के मुख से यह भी मालूम हुआ कि कुछ श्वेताम्बरीय विद्वानो ने कोष बनाकर इन शब्दों के अर्थ अन्य और कर दिये हैं। परन्तु भगवती सूत्र के इस उल्लेख के अर्थ का निर्णय उन कोषों से नही माना जा सकता क्योंकि इस दोष को बचाने के लिए ऐसा किया होगा। कोष इस विषय में वे निर्णय दे सकते हैं जो कि श्वेताम्बरीय न हो अथवा जो श्वेताम्बरीय कोष भी हो तो भगवती सूत्रकी रचनाकाल से पहले समय के बने हों।

* * * * *

तथा-केवलज्ञानी महावीर स्वामी पर उपसर्ग होना यह भी सिद्धात-विरुद्ध बात है अतएव असत्य है। प्रकरण रत्नाकर (प्रवचनसारोद्धार) तीसरा भाग के ११७ वें पृष्ठ पर केवल ज्ञान हो जाने पर प्रगट होने वाले ११ अतिशयों मे से तीसरा अतिशय यो लिखा है-

पुव्वब्भवरोगादि उवसमति नय होइ वेराइ।।४४९।।

यानी- केवली के पहले उत्पन्न हुए रोग शात हो जाते है और नया कोई रोग उत्पन्न नही होता।

मुनि आत्मारामजीने अपने जैनतत्त्वादर्श ग्रथ में ३४ अतिशयो का वर्णन करते हुए ४ थे पृष्ठ पर चौथा पाँचवाँ अतिशय यो लिखा है-

"साढे पच्चीस योजनप्रमाण चारोपासें उपद्रवरूप ज्वरादि रोग न होवे तथा वैर (परस्पर विरोध) न होवे।"

केवली तीर्थंकर भगवान् के ये अतिशय जब नियम से होते है तो क्या वे महावीर स्वामी के नही हुए थे? यदि नही तो वे तीर्थंकर केवली कैसे ? यदि उनके भी वे अतिशय थे तो उनके पास गोशालने प्राणघातक उपसर्ग कैसे किया ? दोनो बातो में से एक ही सत्य हो सकती है कि या तो महावीरस्वामी पर उपसर्ग ही नही हुआ या केवलज्ञानी के उक्त अतिशय ही नही होते।

सारांश- केवलज्ञानधारी श्री महावीरस्वामी पर उपसर्ग हुआ मानने से निम्नलिखित दोष आते हैं।

१-श्री महावीरस्वामी केवलज्ञानी थे। उनके ११ अतिशय प्रगट हो चुके थे। इस कारण श्वेताम्बरीय सिद्धान्त के अनुसार भी उनपर तथा उनके समीप बैठे हुए दो साधुओ पर गोशाल की तेजोलेश्या द्वारा प्राण-घातक उपसर्ग हो ही नही सकता। क्योंकि जिनके अलौकिक प्रभाव से

जन्मविरोधी जीव भी जिनके चारों ओर २५।२५ योजन तक बैर-विरोध छोड जाते हैं, फिर गोशाल उनके ऊपर अपना कोप कैसे चला सकता था?

२-महावीर स्वामी के पास शीतलेश्या भी थी जिससे उन्होंने कल्पसूत्र के ७३ वें पृष्ट के लेखानुसार कूर्म ग्राम में वैश्यायन तापसीद्वारा गोशाल के ऊपर छोडी गई तेजोलेश्या को शान्त कर दिया था। उसी शीतलेश्या से श्री महावीर स्वामी गोशाल की छोडी हुई तेजोलेश्यासे अपने समीपवर्ती दो साधुओ को तथा गोशाल को भस्म होने से बचाते। कमसे कम अपने ऊपर तो कुछ असर न होने देते।

३-केवलज्ञान हो जाने पर जब भय (डर) नष्ट हो जाता है तो आनन्द साधु द्वारा गोशाल की बात सुनकर गोशाल के साथ कुछ न बोलने के लिए महावीर स्वामी ने क्यों निषेध करवाया ?

४-केवलज्ञानी को जब राग द्वेष नही रहता तब महावीर स्वामी ने अपने कष्टपीडित शरीर के विषय में साधुओ का रोना सुनकर सिंहमुनि को बुलवा कर उससे अपने १६ वर्षतक और जीवित रहने की बात क्यों कही?

५-जब अल्पज्ञानी साधु को भी प्रेरणा करके अपने लिए विशेष भोजन मँगवाकर खाने का निषेध है तो फिर सर्वज्ञ, वीतराग महावीर स्वामी ने अपने लिए विशेष आहार लाने के लिए सिंह मुनि को रेवती के घर क्यों भेजा?

६-केवलज्ञानधारी महावीरस्वामी सर्वज्ञ थे, फिर उन्होने गोशाल के भयानक उपसर्ग को पहले ही क्यों नही जानकर उसका उचित उपाय कराया ? तथा अपने रोग शान्ति का उपाय भी पहले मालूम हो गया, फिर उसको दूर करने का भी उपाय पहले से क्यो नही किया।

७-भगवान् महावीर स्वामी को घातिया कर्म नष्ट हो जाने के कारण अनतज्ञान, अनतदर्शन तथा अनतसुख और अनन्तवीर्य प्राप्त हो गये थे फिर उपसर्ग का दुख क्यों हुआ ? जिसको दूर किये बिना उन्हें शान्ति न मिली?

८-भगवान् महावीरस्वामी सर्वज्ञ थे।वे गोशाल की दुष्ट प्रकृतिको साफ समझते थे। फिर उन्होंने उसको क्रोध उत्पन्न करने वाला उत्तर क्यों दिया? जिससे उनके ऊपर उसने तेजोलेश्या छोडी।

इत्यादि अनेक दोष आ जाने से सिद्ध होता है कि केवली दशा में महावीर स्वामी पर उपसर्ग होने की बात असत्य है।

* =. = *

श्री महावीर स्वामी का गर्भहरण

अतिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी के विषय में दिगम्बर सम्प्रदाय के विरुद्ध श्वेताम्बरीय ग्रथों में एक यह बात लिखी है कि महावीर स्वामी पहले नीचगोत्र के उदय से देवानदा ब्राह्मणी के गर्भ में आये थे। फिर इन्द्रने हरिणगमेसी देवको भेजकर भगवान् महावीर स्वामी को ८२ दिन पीछे देवानदा के पेट में से निकालकर त्रिशलारानी के पेट में रखवा दिया और उसकी गर्भस्थ पुत्री को देवानदा के पेट में रखवा दिया।

श्री महावीर स्वामी के गर्भ मे आने के पहले देवानदाको १४ शुभ स्वप्न दीखे थे और ८२ रात पीछे त्रिशला रानी के पेट मे पहुँचने के पहले वैसे ही १४ शुभ स्वप्न त्रिशला रानी को भी दिखलाई दिये थे।

इस वृत्तान्त को कल्पसूत्र के १० वे पृष्ठ पर यो लिखा गया है–

"जे भगवन्त ब्राह्मणकुंड नामना नगरमाँ कोडाल गोत्री एवा ऋषभदत्त ब्राह्मणनी स्त्री देवानदा ब्राह्मणी

के जे जालधर गोत्री छे तेनी कुक्षिमा गर्भपणा थी उत्पन्न थया हता। ते ज्यारे उत्पन्न थया हता के, पूर्वरात्र अने अपररात्रना समयमा अर्थात मध्यरात्रे उत्तराफल्गुनी नक्षत्र चन्द्रना योगने प्राप्त थत, दिव्य आहार दिव्यभव अने दिव्य शरीरनो त्याग करवाथी ज्यारे भगवन्त गर्भमा उत्पन्न थया त्यारे ते त्रण ज्ञान थी युक्त हता। ते रात्रे श्रमण भगवंत श्री महावीर प्रभु देवानन्दा ब्राह्मणीनी कुक्षिमाँ उत्पन्न थया ते रात्रि ए चाद महास्वप्नो ने जाइ ते देवानदा ब्राह्मणी जागी गया।

यानी- (भगवान महावीर ब्राह्मणकुंड नगर मे कोढाल गोत्रवाले ऋषभदत्त ब्राह्मण की स्त्री देवानदा ब्राह्मणी जो जालधर गोत्रवाली थी उसके उदर में गर्भरूप से उत्पन्न हुए। वे कैसे गर्भ में आये? कि (आषाढ शुक्ला षष्ठी) आधी रात के समय जबकि उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र चन्द्रमा के योग से प्राप्त हुआ था, दिव्य (स्वर्ग के) आहार, देव पर्याय और देवशरीर को छोडकर जब गर्भ में आये तब भगवान मति श्रुत, अवधिज्ञान सहित थे। जिस रात को श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी देवानदा ब्राह्मणी के गर्भ मे आये उस रात को देवानदा ब्राह्मणी चादह बडे शुभ स्वप्न देख कर जाग गई।)

दिगम्बर सम्प्रदाय मे जो तीर्थकर की माता को १६ स्वप्न दिखलाई देना बतलाया गया है उनमें से श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने १ मीनयुगल (मछलियो का जोडा) २ सिंहासन ३ धरणीन्द्रका विमान इन तीन स्वप्नो को नही माना है तथा ध्वजा का स्वप्न अधिक माना है। शेष १३ स्वप्न दोनो सम्प्रदायो एक सरीखे हैं। उनमे अतर नही है।

इस प्रकार जब महावीर स्वामी देवानदा के गर्भ मे आ गये तब सौधर्म इन्द्र ने उनको अपने सिंहासन से उतरकर परोक्ष नमस्कार किया। इस बात को कल्पसूत्र के १७ वे पृष्ठ पर यो लिखा है –

'ते श्रमण भगवंत श्रीमहावीर प्रभु के ने आदिकर सिद्धिगति नामना स्थान प्रत्ये जवानी इच्छा वाला छे तेमने नमस्कार हो। ते देवानदा ब्राह्मणीनी कुक्षिमा रहेला ते वीरप्रभुने हु वदना करुँ छु हु अही रह्यो छु अने ते प्रभु कुक्षिमाँ रह्या छे ते करीन इन्द्र पूर्वाभिमुखे सिंहासन उपर बेठा"

अर्थात्– वह श्रमण भगवान श्री महावीर स्वामी जो सिद्धशिला जाने की इच्छा रखने वाला है उसको नमस्कार हो। उस देवानदा ब्राह्मणीके पेट मे रहने वाले श्री वीर प्रभु को मै वदना करता हूँ। मैं यहाँ हूँ और वह भगवान देवानदा के पेट मे है। ऐसा नमस्कार करके इन्द्र पूर्व दिशा मे मुखकर सिंहासनपर बैठ गया

(इस प्रकार सौधर्म इन्द्रको महावीरस्वामी के देवानदा ब्राह्मणी के गर्भ मे आने का वृत्तान्त पहले से ही मालूम था। तदनुसार अन्य तीर्थकरो के समान श्री महावीर स्वामी का गर्भकल्याणक शायद इसी देवानदा के घर हुआ होगा जिसका कि कुछ भी उल्लेख कल्पसूत्र मे नही दिया है। तीर्थकर के माता-पिता के घर गर्भान्तारसे छह मास पहले जो रत्नवर्षा होती है उसका भी यहाँ कुछ उल्लेख

नही। इस तरह कल्पसूत्र तथा अन्य भी श्वेतावरीय ग्रथों के अनुसार श्री महावीर स्वामी ने ऋषभदत्त ब्राह्मण और देवानदा ब्राह्मणी के यहाँ अवतार लिया।

इसके आगे का वृत्तात कल्पसूत्र के २२ वें पृष्ठ पर यो लिखा है–

"व्याथी चवीने पूर्वे मरीचिभवमा बाधेला अने भोगववाने बाकी रहेला नीचैर्गोत्रना कर्मथीसत्यावीशमे भवे ब्राह्मणकु डगाममा ऋषभदत्त ब्राह्मणनी देवानदा ब्राह्मणीनी कुक्षिमा ते उत्पन्न थया तेथी शक्र इन्द्र आ प्रमाणे चितवे छे– के एवी री ते नीच गोत्र कर्मना उदयथी अर्हत चक्री वासुदेव बिगेरे अत प्रमुख नीच कुलोमा आव्या छे आवे छे अने आवशे पण जन्म लेवाने माटे ते आवु योनिमाथी निकलवु थतु नथी नीकलता नथी अने नीकलशे नही। भावार्थ एवो छे के कदाचित् कर्मना उदयथी ते अर्हत विगेरेनो अवतार तुच्छ प्रमुख नीगोत्रमा थाय पण योनिथी जन्म थयु नथी अने थशे नही।"

अर्थात्–उस बीस सागर आयुवाले प्राणत स्वर्ग से चयकर भगवान् महावीर स्वामी का जीव पहले मरीचि भवमें बाधें हुए और भोगने के लिए शेष रहे नीच गोत्र कर्म के उदय से २७ वे भवमें ब्राह्मणकु ड ग्रामनिवासी ऋषभदत्त ब्राह्मण की स्त्री देवानदा के पेट में आये हैं। इस कारण इन्द्र सोचता है कि इस प्रकार नीच गोत्र कर्म के उदय से तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि अन्त्यज (मेहतर) इत्यादि नीच कुलो में गर्भरूप से आये हैं। आते हैं। और आवेंगे। किन्तु जन्म लेने के लिए उनकी (नीच कुलीन माताओ की) योनि में से निकलना नही होता है। अब तक उन नीच कुलीन माताओ की योनि से वे तीर्थंकर आदि न तो निकले हैं न निकलते हैं ओर न निकलेंगे। साराश यह है कि कदाचित् कर्म के उदय से अर्हत आदि का अवतार नीच कुल में हो जावे किन्तु उनकी योनि में से जन्म न तो हुआ है और न होगा।

इस प्रकार सोच–विचार कर इन्द्रने जो किया सो कल्पसूत्र के २३ वें पृष्ठ पर यों लिखा है–

"शक्र इन्द्र पोतानु चिंतवेलु हरिणेगमेषी देवने कहे छे। वली कहे छे हे देवानुप्रिय–इन्द्रोनों आचार छे ते कारण माटे तु जा अने देवानदा ब्राह्मणीनी कुक्षिमाथी भगवत त्रिशला क्षत्रियाणीनी कुक्षिमइ मुकी दे अने त्रिशलानो जे गर्भ छे तेना देवानदानी कुक्षिमा मुकी दें।"

अर्थात्–इन्द्रने हरिणेगमेषी देव को बुलाकर अपनी चिन्ता कह सुनाई और कहा कि हे देवानुप्रिय! इन्द्रका कर्तव्य(तीर्थंकरके गर्भ को उच्चकुलीन स्त्री के पेट में पहुचवाना) है इसलिए तू जा और देवानदा ब्राह्मणी के पेट में से भगवान् को निकालकर त्रिशला क्षत्रियाणी के उदर में रख आ तथा जो त्रिशला का गर्भ है उसको देवानदाके पेटमें रख आ।

इन्द्र की आज्ञा अनुसार हरिणेगमेषी देवने भगवान् महावीर स्वामी का गर्भ किस दिन परिवर्तन किया इस विषय में कल्पसूत्र के २४ वें पृष्ठ पर यों लिखा है–

"ते समये श्रमण भगवत महावीर वर्षाकाल सम्बन्धी त्रीजा मासनु पाहमु पखबाडीयु जे आश्वीन मासनु कृष्णपक्ष त्रयोदशीनो पक्ष पाछा लनो अर्ध अर्थात् रात्री एक्दर वाशी अहोरात्र अतिक्रान्त थया पछी त्राशीमा, अहोरात्रनो अन्तराकाल एटले रात्रिनो काल प्रवर्तता ते हरिणेगमेषी देवताए त्रिशला मातानी कुक्षिमाते भगवतनो गर्भे सठस्त्रो जे रात्रे श्रमण भगवत महावीर

देवानदानी कुक्षिमाथी त्रिशलानी कुक्षिमाँस हरणथी आव्या से रात्रे ते देवानदाए पूर्वे कहेला चौद स्वप्नों त्रिशलाए हरी लीधेला जोया"

यानी–उस समय श्रमण भगवान् महावीर ८३ दिन के हो गये थे वर्षाकाल सबन्धी तीसरा महीन्ा या पाँचवाँ पक्ष जो आसोज महीने की कृष्णपक्षवाली त्रयोदशी को ८३ वा दिन था उस रात्रि के समय हरिणेगमेषी देवने त्रिशला माता के पेट में भगवान् को पहुचाया। जिस रात को श्रमण भगवान् महावीर देवानदा ब्राह्मणी के पेट में से त्रिशला रानी के पेटमें सहरण रूप से आये उस रात को त्रिशला को वे १४ शुभ स्वप्न दिखाई दिये जो कि पहले देवानदाने देखे थे।

साराश यह है कि भगवान् महावीर आषाढ सुदी ६ से आसोज वदी त्रयोदशी की आधी रात तक देवानदा ब्राह्मणी के पेट में रहे और उसके पीछे फिर त्रिशला रानी के गर्भ में रहे।

श्री महावीर स्वामी के गर्भहरण की यह कथा सभी श्वेताबरीय शास्त्रों में प्राय इसी प्रकार समान रूप से है। इस गर्भहरण की बात को भी श्वेताबरीय ग्रथकारों ने "अछेरा" कहकर टाल दिया है। किंतु बुद्धिमान पुरुष असभव बात को इतनी टाल मटूल से नेत्र मीचकर स्वीकार नहीं कर सकता।

भगवान् महावीर स्वामी के गर्भहरण का यह कथन कितना अस्वाभाविक, बनावटी, इसी लिए असत्य है। इसको प्रत्येक साधारण पुरुष भी समझ सकता है। जिस तीसरे मास में गर्भाशय के भीतर शरीर का आकार भी पूर्ण नही बन पाता है उस अधूरे गर्भ को एक पेट से निकाल दूसरे पेट में किस प्रकार रक्खा जा सकता है। शारीरिक शास्त्र, वैद्यक शास्त्र तथा विज्ञान शास्त्र के अनुसार तीन मास का गर्भ पेट से निकलने पर कभी जीवित ही नही रह सकता। दूसरे पेट में जाकर जमकर वृद्धि पावे यह तो एक बहुत दूर की बात ठहरी। इस कारण यह गर्भ हरण की बात सर्वथा असत्य है।

महावीर स्वामी के गर्भहरण की असत्य बात को सच्चा रूप देने के लिए "भगवान् ऋषभदेव के पौत्र ने अपने उस मरीचि के भव में अपने पिता (भरत) पितामहके (बाबा–भगवान् ऋषभदेव) चक्रवर्ती तथा तीर्थंकर होने का तथा आगामी समय में अपने तीर्थंकर होने का गर्व किया था इस कारण महावीर स्वामी के जीवने उस मरीचि भवमें जो नीच गोत्र कर्मका बध किया उसका उदय असख्यात वर्ष पीछे इस अतिम तीर्थंकर होने के भव में आया जिससे कि ब्राह्मणी के पेट में अवतार लिया" यह कल्पित कथन कर्मसिद्धात तथा चरणानुयोग के विरुद्ध है।

प्रथम तो यह कि ब्राह्मणवर्ण शास्त्रों ने तथा ससार में कही किसी ने भी नीच कुल नही बतलाया है। द्विज वर्णों में भी उत्तम बतलाया है। अतएव नीच गोत्र के उदय से ब्राह्मण कुल में जन्म हो नहीं सकता। यदि महावीर स्वामी के जीव ने नीच गोत्रका बंध ही किया था तो उनका जन्म किसी शूद्र कुल में होना था। विशुद्ध कुल में जन्म तो उच्च गोत्र के उदय से होता है जिसमें कि इन्द्र को चिंतातुर होने की कोई आवश्यकता नही थी। श्री महावीर स्वामी के गौतम आदि ब्राह्मण कुलीन जो गणधर थे सो क्या कल्पसूत्र के इस कथनानुसार नीचकुली थे?

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रसिद्ध आचार्य आत्मारामजी ब्राह्मण ही थे। उन्होंने अपने जैनतत्त्व के ५०९ वें पृष्ठ पर तथा तत्वनिर्णयप्रासाद के ३६५ वें तथा ३७८ वें पृष्ठ पर ब्राह्मणवर्ण को उच्चवर्ण बतलाया है। भरत चक्रवर्तीने सर्वोत्तम पुरुषो को ही ब्राह्मण वर्ण बनाया था। अतएव महावीर स्वामी का देवनदा ब्राह्मणी के गर्भ में अवतार लेने को नीचगोत्रका फल कहना बडी भारी मोटी भूल है।

दूसरे- कर्मसिद्धान्त इस कल्पित बात को बहुत बलपूर्वक सर्वथा असत्य सिद्ध करता है। क्योंकि देखिये, नीचगोत्रकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोडाकोडी सागर है। यदि मरीचिने अधिक से अधिक सक्लेश परिणाम रक्खे थे तो उसने २० कोडाकोडी सागर की स्थिति वाला नीच गोत्र कर्म बाँधा होगा। यह बीस कोडाकोडी सागर की स्थितिवाला कर्म कर्मसिद्धान्त के नियमानुसार दो हजार वर्ष पीछे ही अपना आबाधा काल टालकर उदय में अवश्य आना चाहिये। और तदनुसार दो हजार वर्ष पीछे ही मरीचिका जन्म नीचगोत्र कर्म के उदय से बराबर लगातार २० कोडाकोडीसागर तक नीचकुल में ही होता रहना चाहिये था।

किन्तु ऐसा हुआ नहीं क्योंकि जिस समय उसके नीचगोत्रका बध हुआ बताया जाता है उस समय से लेकर करोडों वर्ष तक तो केवल उसी उच्चकुलीन मनुष्य शरीर में रहा। दो हजार वर्ष के स्थान पर दो वर्ष समझ लीजिये। उसके नीचगोत्र का उदय हुआ ही नही। उसके पीछे २७ स्थूल भवों में भी वह उच्चगोत्री ही होता रहा। कभी किसी स्वर्ग का देव, कभी किसी स्वर्ग का देव, कभी कहीं का राजा, कभी कही ब्राह्मण हुआ। इस प्रकार उच्च कुलो में ही उत्पन्न होता रहा। यदि मरीचिकुल में उसने महावीर स्वामी के भव तक रह सकने योग्य बडी स्थिति वाले नीचगोत्रकर्म का बध किया था तो बीच-बीच में ऐसे उच्चगोत्री भव कदापि नही मिलने थे "बीच-बीच के भवो में तो नीचगोत्रका उदय आया नही किन्तु महावीर स्वामी के भवमें उस नीचगोत्र का उदय आ गया" यह बात स्वय श्वेताम्बरी कर्मग्रंथ रचयिता विद्वानों के लेख से ही बिलकुल असत्य साबित होती है।

तीसरे- इन्द्रने भी कठिन परिश्रम उठाकर क्या किया ? श्वेताम्बरीय ग्रथो के कथनानुसार महावीर स्वामी के आत्मा का शरीरपिंड तो ब्राह्मण के वीर्य तथा ब्राह्मणी के रज से बन गया। अब उस बने हुए तथा ८२ दिन रात तक ब्राह्मणी के रस रक्त से वृद्धि पाये हुए पिंडों को इन्द्र चाहे जहाँ उठाकर रख देवें, पिंड बदल नहीं सकता। इस कारण इन्द्र का परिश्रम भी व्यर्थ समझना चाहिये।

चौथे, इन्द्र महावीरस्वामी के नीचगोत्र कर्मको मेट भी कैसे सकता है। यदि इन्द्र में अशुभ कर्म मेटनेकी शक्ति हो तो वह स्वय कभी इन्द्रपर्याय से मरना ही नही चाहिये, न उसको अपनी इन्द्राणी का मरण होने देना चाहिये। जिस बात को तीर्थंकर तथा सर्व कर्मरहित सिद्धपरमेष्ठी में भी करने

की शक्ति नही उसे इन्द्र करदे तव तो यो समझना चाहिये कि इन्द्र ही सबसे वडा परमात्मा है। फिर श्वेताम्वर भाइयों को इन्द्र के सिवाय अन्य किसी का पूजन भी क्यो करना चाहिये?

पाँचवे- इन्द्रको जब देवानदा ब्राह्मणी के पेट में महावीर स्वामी के अवतार लेने का समाचार पहले (शुरू) से ही मालूम था तो फिर उसने इतने दिन ब्राह्मणी के गर्भ में उनको क्यों रहने दिया ? उसी समय उनको वहाँ से क्यों नही हटा दिया?

छठे- हरिणेगमेषी देवने महावीरस्वामी का गर्भ देवानदा ब्राह्मणी के मुख से निकाला? या उदर से निकाला ? अथवा योनिमार्ग से निकाला? मुख से तो इस कारण नही निकल सकता कि गर्भ औदारिक शरीर के रूप में था, उस स्थूल औदारिक शरीर को विना उदर आदि फाडे उदर तथा मुख मार्ग से निकालना असभव है। यदि उस देवने गर्भ को योनि मार्ग से निकाला तो कहना चाहिये कि ब्राह्मणी के यहाँ ही महावीर स्वामी ने जन्म ग्रहण किया क्योंकि गर्भस्थ बालक का अपनी माता की योनि से बाहर निकलना ही जन्म लेना कहलाता है।

सातवे- लोक में किसी साधारण मनुष्य को भी दो पिताओ का पुत्र कहना अपमानजनक समझा जाता है। फिर भी महावीरस्वामी तीर्थंकर सरीखे लोकवदनीय महापुरुष को ऋषभदत्त ब्राह्मण और सिद्धार्थ राजा का पुत्र कहना कितना घोर पापजनक वचन है।

आठवें- देवानदा ब्राह्मणी के पेट से निकालते समय महावीर स्वामी के शरीर पिंड के नाभितत्तु वहीं पर टूट गये होंगे। तव फिर नाभितन्तु टूट जाने पर वह पिंड जीवित कैसे रहा ? नाभितन्तु टूट जाने पर अवश्य मृत्यु हो जाती है।

नौवें- देवानदा ब्राह्मणी के पेट में श्री महावीर स्वामी के आते समय देवानदा को १४ स्वप्न दिखाई दिये थे तदनुसार उसके घर गर्भ कल्याणक हुआ होगा। और त्रिशला रानी के पेट में पहुचने पर उसको भी १४ स्वप्न दिखाई दिये होंगे तो उसके यहाँ भी गर्भकल्याणक हुए होंगे। यदि किसी एक स्थान पर ही गर्भकल्याणक हुआ तो प्रश्न यह है कि दूसरे स्थान पर क्यों नही हुआ / क्योंकि माता के पेट में आने पर ही गर्भ कल्याणक होता है। यदि गर्भकल्याणक दोनों स्थानों पर नहीं हुआ तो यों कहना चाहिये कि श्री महावीर स्वामी के चार कल्याणक ही हुए, पाँच नही।

इत्यादि अनेक प्रबल अनिवार्य दोष उपस्थित होने से निष्कर्ष निकलता है कि श्री महावीर स्वामी का गर्भहरण नही हुआ था। गर्भहरण की बात कल्पित तथा सर्वथा असत्य है, एव श्री महावीर स्वामी पर पापजनक असत्य कलक का टीका लगाना है।

श्री महावीर स्वामी ने स्वर्ग से चलकर सिद्धार्थ राजा की रानी त्रिशलाके उदर में ही जन्म लिया था तदनुसार इन्द्रने आकर उनका गर्भकल्याणक भी त्रिशला रानी तथा सिद्धार्थ राजा के घर ही किया था और गर्भावतार से ६ मास पहले कुबेर द्वारा रत्नवृष्टि भी सिद्धार्थ राजा के घर ही हुई थी।

■

अन्यलिंग मुक्ति समीक्षा

क्या अजैन मार्ग से भी मुक्ति होती है?

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में एक बात और भी विचित्र बतलाई गई है कि अन्यलिगी साधु भी मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इसलिए उसको जैन लिग धारण करने की आवश्यकता नही। यह बात ऐसी है कि जिसको श्वेताम्बर मत के सिवाय अन्य किसी भी मतने स्वीकार नही किया। सभी मत यह कहते हैं कि हमारे बतलाये हुए सिद्धान्तो के अनुसार चलने से ही मुक्ति होगी। अन्यथा नही। किन्तु श्वेताम्बर सप्रदाय अपने आपको सत्यधर्म धारक सम्प्रदाय समझता हुआ भी कहता है कि मनुष्य चाहे जिस मत का अनुयायी क्यों न हो, आत्मा की भावना करने से मुक्ति पा लेता है।

वीर स २४४७ में श्री माणिकचद दिगम्बर जैनग्रथ माला के १७ वें पुष्परूप प्रकाशित षट्पाभृत ग्रथ के १२ वें पृष्ठ पर किसी श्वेताम्बर ग्रथ की यह गाथा लिखी है–

सेयवरो आसावरोय बुद्धोय तहय अण्णोय।
समभावभाधियप्पा लहेइ सिद्धि ण सदेहा।।

अर्थात्– मनुष्य चाहे तो श्वेताम्बर हो या दिगम्बर हो, बौद्ध हो अथवा अन्य लिंगधारी ही क्यों न हो; अपना आत्मा की भावना करने से मुक्ति प्राप्त कर लेता है इसमें सदेह नही है।

तदनुसार– प्रकरण रत्नाकर (प्रवचनसारोद्धार) तीसरे भाग के १२७ वें पृष्ठ पर यो लिखा है कि–

इह चउरो गिहिलिंगे दसन्नलिंगे सयच अट्ठहिंय।
विन्नेयच सलिगे समयेण सिद्धमाणाण ।।४८२।।

अर्थात्– एक समय में अधिक से अधिक गृहस्थ लिंग से चार मनुष्य सिद्ध होते हैं, दश अन्य तापस आदि अजैन लिंगधारी मोक्ष पाते हैं और एक सौ आठ जैन साधु मुक्ति प्राप्त करते हैं।

यदि ग्रथकार के इस लिखने को श्वेताम्बरी भाई सत्य प्रामाणिक समझते हैं तो उन्हें अजैन जनता में जैन धर्म का प्रचार कदापि नही करना चाहिये क्योकि जैन धर्म धारण कराने का प्रयोजन तो यह ही है कि साक्षात् रूप से या परम्परा से वह जैन धर्म ग्रहण करने वाला पुरुष मोक्ष प्राप्त कर लेवे। सो मोक्ष प्राप्ति तो जिस किसी भी धर्म में वह रहेगा वहॉ से ही उसको मुक्ति मिल सकती है। मुक्ति से ऊँचा कोई और स्थान नही जहाँ पर कि आपके कथनानुसार अन्य लिगधारी साधु न पहुँच सके।

यदि अन्य लिंगी साधु को भी मुक्ति हो जाती है तो तत्त्वार्थाधिगम सूत्र का–

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग

यानी– सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन तीनो की पूर्णता मोक्ष का मार्ग है।

यह सूत्र व्यर्थ है क्योंकि कुगुरु, कुदेव, कुधर्म का श्रद्धालु, मिथ्या शास्त्रों के ज्ञान से परिपूर्ण और तापस आदि के रूप में मिथ्या तप आचरण करने वाला अन्य लिगी साधु भी जब

आपके श्वेताम्बरीय ग्रथो के अनुसार मुक्ति प्राप्त कर लेता है तब फिर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र को ही मुक्ति मार्ग बतलाने में क्या तथ्य जाता रहता है।

अनेक श्वेताम्बरीय ग्रथकारो ने अपने ग्रथो में कुगुरु की तथा मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान, मिथ्या चारित्र की बहुत विस्तार से निदा की है सो भी निरर्थक है क्योकि जिनको उन्होने "कुगुरु" कहा है वे तो मुक्ति प्राप्त करने के पात्र हैं उसी अपनी कुगुरु अवस्था से मुक्ति पा सकते हैं। तथा वे ग्रथकार जिन मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र को त्याज्य बतलाते हैं वे मिथ्या दर्शनादिक कुगुरु में विद्यमान रहते हुए उसे मोक्ष पहुँचा देते हैं। फिर वे कुगुरु अवदनीय क्यो कर हुए ? और वे मिथ्या दर्शनादिक त्याज्य क्यों हुए ?

श्वेताम्बरीय साधु आत्माराम जी ने अपने जैन तत्त्वादर्श, तत्त्व निर्णयप्रासाद ग्रथ में कुगुरु तथा मिथ्यादर्शनादिक की बहुत निन्दा की है सो उन्होंने भी बहुत भारी भूल की है क्योकि जो कुगुरु अपनी इच्छानुसार श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण करने से मुक्ति पा सकते हैं उनकी निन्दा करना सर्वथा अनुचित है।

तथा श्वेताम्बरीय शास्त्रों में जो गुणस्थानो का विस्तारपूर्वक वर्णन कर दिखाया है, एक प्रकार से वह सब भी व्यर्थ है क्योंकि उस गुणस्थान प्रणाली के अनुसार जब कि मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती अन्य लिंगी साधु अपनी दशा में ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है तो आगे के गुणस्थानों से और क्या विशेष लाभ होगा ?

श्वेताम्बरी भाइयों को अन्यलिंगी साधुओ को भी अपना गुरु मानकर वदना करना चाहिये क्योंकि वे भी श्वेताम्बरीय साधुओ के समान मोक्ष सिद्धि कर सकते है। मोक्ष सिद्धि करने वाला ही परम गुरु होता है।

इस प्रकार अन्य लिगी साधुओ को मुक्ति प्राप्त कर लेने वाला मान लेने से श्वेताम्बरीय शास्त्रो का सम्पूर्ण उपदेश भी व्यर्थ है उससे कुछ भी विशेष सार नही मिल सकता।

श्वेताम्बरी भाई यदि स्वतन्त्र रूप से विचार करें तो उनको मालूम होगा कि अन्य लिंग से मुक्ति की प्राप्ति मानना इस कारण ठीक नही कि मुक्ति आत्मा की पूर्ण शुद्धता हो जाने पर प्राप्त होती है। आत्मा की शुद्धता पूर्ण वीतरागता में मिलती है क्योकि जब तक आत्मा के साथ राग द्वेष आदि मल लगे हुए हैं तब तक आत्मा को अपनी शात शुद्ध दशा नही मिलने पाती। वीतरागता का मुख्य साधन सम्यक्चारित्र है। महाव्रत, समिति, गुप्ति, अनुप्रेक्षा आदि क्रियाओ का पालन करना ही सम्यक्चारित्र कहलाता है और इसी सम्यक्चारित्र से कर्मास्रव के कारण नष्ट होते हैं, कषायें शात होने से वीतरागता प्राप्त होती है।

सम्यक्चारित्र उस समय प्रगट होता है जब कि पहले सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान हो जाता है। बिना सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान प्रगट हुए कठिन से कठिन आचरण भी सम्यक्चारित्र नहीं कहलाता है। जैसे द्रव्यलिंगी साधु का चारित्र। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र के यथार्थ श्रद्धान से तथा जान लेने से होता है। वीतराग सर्वज्ञ देव के कहे हुए तत्त्व, द्रव्य आदिका नि शक, निश्चय रूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मुक्ति प्राप्ति के साधन हैं। अन्य लिगी साधुओ को वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र होते नही हैं क्योकि यदि उनको इन तीनो की प्राप्ति हो जावे तो वे अन्य लिंगी ही क्यो रहें जैन लिंगी न हो जावें ? इस कारण अन्य लिंग से मुक्ति मानना बडी भारी गहरी भूल है।

अन्य लिंगी साधुओ को न तो अपने आत्म-स्वरूप का पता है, न वे परमात्मा का यथार्थ स्वरूप समझते हैं, न उनको ससार, मोक्ष का यथार्थ ज्ञान है। अतएव मुक्ति हासिल करने के साधनों से भी वे पूर्ण परिचित नही। इसी कारण उनकी अमली कार्यवाही (आचरण) और उनका उद्देश्य गलत है। कोई आत्मा को कल्पित रूप से मानता है, कोई आत्मा को ज्ञान आदि गुणों से शून्य मानता है, कोई आत्मा को ब्रह्म का एक अंश समझते हैं ।इसी प्रकार परमात्मा को कोई अवतार धारी, ससार में आकर ससारी जीवों के समान कार्य करने वाला मानते हैं, कोई अवतारधारी तो नहीं मानते किंतु उसको ससार का कर्ता हर्ता मानते हैं, कोई परमात्मा मानते ही नही। इत्यादि।

यह ही दशा उन अन्य लिंगी साधुओ की मुक्ति मानने के विषय में है। कोई परमात्मा की सेवा में उसके पास पहुचने को मुक्ति मानता है, आर्य समाजी साधु मुक्ति में जाकर कुछ समय पीछे फिर वहाँ से लौट आना मानते हैं। बौद्ध साधु आत्मा के सर्वथा नाशको मुक्ति मानते हैं, वेदाती ब्रह्म में लीन हो जाने को मुक्ति कहते हैं, नैयायिक मतानुयायी ज्ञान आदि गुण आत्मा से हट जाने पर आत्मा की मुक्ति समझते हैं। इत्यादि।

अन्य लिंगी साधुओं की जब कि श्रद्धान, समझ तथा आचरण की यह अवस्था है तब उन्हें किस प्रकार तो सम्यग्दर्शन है और किस प्रकार सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र ही हो सकते हैं ? और किस प्रकार बिना सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र उत्पन्न हुए उन अन्य लिंगधारी साधुओ को मुक्ति प्राप्त हो सकती है?

तथा एक बात बडे भारी कौतूहल की यह है कि प्रकरण रत्नाकर के तीसरे भाग में पहले लिखे अनुसार अन्य लिंग से मुक्ति होना बतलाया है और इसी प्रकरणरत्नाकर चौथे भाग के सग्रहणी सूत्र नामक प्रकरण में ७३ वें पृष्ठ पर यों लिखा है कि-

तावस जा जोइसिया चरग परिव्वाय वभलोगो जा।

जा सहस्सारी पचिंदि तिरियजा अच्चुओ सड्ढा।।१५२।।

अर्थात्-तापसी साधु अपनी उत्कृष्ट तपस्या के प्रभाव से भवनवासी आदि से लेकर ज्योतिषी देवों में उत्पन्न हो सकते हैं। और चरक तथा परिव्राजक साधु ब्रह्मा स्वर्ग तक जा सकते हैं। सम्यक्त्वी पचेन्द्रिय पशु सहस्रार स्वर्ग तक जा सकते हैं तथा देशव्रती श्रावक अच्युत स्वर्ग तक जा सकते हैं।

(इस उल्लेख के अनुसार अन्य लिंगी साधु ब्रह्म स्वर्ग से भी आगे नहीं पहुँच सकते। मुक्ति पहुँचना तो बहुत दूर की बात ठहरी। इस प्रकार प्रकरणरत्नाकर अपनी पहली बात को अपने आप आगे चलकर छिन्न-भिन्न कर देता है।)

थोडा विचार करने की बात है कि यदि अन्य लिंग से भी मुक्ति सिद्ध हो जाती तो तीर्थंकर देव जैन मार्ग का क्यों उपदेश देते ? और क्यों यह बात बतलाते कि रागद्वेष आदि दूर करने के लिए इसी प्रकार अहिंसा समिति आदि रूप से चारित्र पालन करो ? अन्य लिंग से अथवा अन्य लिंग के श्रद्धान, ज्ञान, आचरण से आत्मा की शुद्धि नही हो पाती है, इसीलिए तो वीतराग जिनेन्द्र देव ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र प्राप्त करने का उपदेश दिया है।

अतएव सिद्ध हुआ कि जैन लिंग के सिवाय अन्य लिंग से मुक्ति नहीं होती है।

* * * * *

गृहस्थमुक्ति परीक्षा

क्या गृहस्थ मुक्ति पा सकता है?

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रथो में "अन्य लिंग से मुक्ति" के समान ही गृहस्थ अवस्था से भी मुक्ति का प्राप्त होना बतलाया है। प्रकरण रत्नाकर (प्रवचनसारोद्धार) के तीसरे भाग के १२७ वें पृष्ठ पर पूर्वोक्त गाथा लिखी है–

"इह चउरो गिहिलिंगे" इत्यादि ४८२

यानी– गृहस्थ लिङ्ग से एक समय में अधिक से अधिक चार मनुष्य मुक्त होते हैं।

प्रकरण रत्नाकर का जेसा यह लेख है उसी प्रकार श्वेताम्बरीय प्रथमानुयोग के कथा ग्रथो वें गृहस्थ अवस्था से मुक्ति प्राप्त करने की कथाएँ भी विद्यमान हैं। एक बुढिया उपाश्रय में (साधुओ के ठहरने के मकान में) बुहारी देते–देते केवलज्ञान धारिणी होकर मुक्त हो गई। एक नट बॉस के ऊपर खेलते–खेलते केवली होकर मोक्ष चला गया, इत्यादि कथाओ का परिचय तो हमको किसी श्वेताम्बरीय ग्रथ से नही मिल पाया है। हाँ २–४ अन्य कथाओ का परिचय अवश्य है। एक कथा तो कल्पसूत्र में १०१ पृष्ठ पर श्री ऋषभदेव तीर्थंकर की माता मरुदेवी की है। जो कि इस प्रकार है–

भरतचक्रवर्ती मरुदेवी माता को हाथी पर चढाकर भगवान् ऋषभदेव के समवसरण में गये वहाँ पहुँच कर समवसरण के बाहर से ही भरतचक्रवर्ती ने आठ प्रातिहार्यसहित, समवसरण के बीच में विराजमान भगवान् ऋषभदेव को मरुदेवी गाता को दिखलाये। तदनन्तर भरतचक्रवर्ती ने यों कहा–

"तमारा पुत्रनी ऋद्धि, जुओ। एव रीते भरतनु बचन सामली ने हर्षथी रोमाचित अगवाला थएला एव मरुदेवी मातानी आसुओ पडवा लाग्या, तथा तेथी तेमना नेत्रो पण निर्मल थयाँ। तथा प्रभुनी छत्र, चामर आदिक प्रतिहारोनी शोभा जोइने विचारवा लाग्या के अहो ! मोहथी विव्हल थएला एवा प्राणी ओना धिक्कार छे। सघला प्राणीओ स्वार्थ माटै स्नेह करे छे, मारो ऋषभ दु खीहोशे एवी रीतना दु खथी सर्वदा रुदन करवाथी मारी तो आखो पण गइउ। अने ऋषभ तो आवी रीते सुरासुरथी सेवातो थको मारी खबर अतर माटे तो कई सदेशो पण मोकलतो नथी। धिक्कार छे आस्नेहने। इत्यादि विचार करता केवलज्ञान उत्पन्न थयु अने तेज वखते आयुकर्मना क्षयथी ते मोक्षे गया।"

अर्थात्– (भरतने मरुदेवी से कहा कि) अपने पुत्र ऋषभदेव की ऋद्धि को देखो। भरत का ऐसा वचन सुनकर हर्ष से रोमाचित अग होकर मरुदेवी माता के नेत्रो से हर्ष के आँसू निकल पडे और उन आँसुओ से उसकी आँखें निर्मल हो गईं तथा भगवान् ऋषभदेव की छत्र, चामर आदि प्रातिहार्यों की शोभा देखकर मरुदेवी विचारने लगी कि मोह से विह्वल हुए जीवो को धिक्कार है। समस्त जीव अपने मतलब के लिए ही दूसरो से प्रेम करते है। –"मेरा पुत्र ऋषभनाथ वन में रहने से दुखी होगा" ऐसे दुख से रुदन करते–करते मेरी तो ऑखें थक गई किन्तु ऋषभनाथ तो सुर–असुरों द्वारा सेवित होकर इस प्रकार ऋद्धि को भोगता हुआ मेरी खबर के लिए कोई सदेश भी नही भेजता है। इस कारण इस स्नेह भाव को धिक्कार है। इत्यादि विचार करते–करते (हाथी पर

बैठे हुए वस्त्र आभूषण आदि पहने हुए ही) मरुदेवी को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और उसी समय आयुकर्म के क्षय हो जाने से वह मोक्ष चली गई।

इस प्रकार मरुदेवी तो बिना कुछ परिग्रह आदि का परित्याग किये हाथी पर चढी हुई ही मोक्ष चली गई। किन्तु रतिसार कुमार अपने राजमहल के भीतर अपनी स्त्रियो के बीच मे बैठे हुए ही अपनी सौभाग्य सुदरी नामक स्त्री के मस्तक पर खिचे हुए तिलक को मिटा देने पर उसकी सुदरता घटते हुए देख कर विरक्तचित्त हो गया। इस वैराग्य के कारण ही उस रतिसार कुमार को उसी महल में स्त्रियों के बीच बैठे-बैठे केवलज्ञान हो गया।

तदनन्तर क्या हुआ ? सो रतिसार कुमार चरित्र नामक पुस्तक के (सन् १९२३ में प काशीनाथ जी जैन कलकत्ता द्वारा प्रकाशित) ६७ वें पृष्ठ पर यों लिखा है-

"उस समय शासन देवता ने उन्हें (रतिसार को) मुनिवेश धारण कराया और सुवर्ण कमल के आसन पर पधराया। तदनतर सभी सुरासुर फूल बरसाते हुए उन्हें प्रणाम करने लगे। यह अद्भुत चरित्र देख, राजा के अत पुर के सभी मनुष्य चकित हो गए और स्त्रियॉ "हे नाथ यह क्या मामला है ?" यह पूछती हुई, हाथ जोडे, उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी ।"

श्वेताबर सम्प्रदाय का यह सिद्धात भी बहुत निर्बल आगम प्रमाण और युक्तियो से शून्य है। देखिये जिस प्रकरणरत्नाकर तीसरे भाग में गृहस्थ अवस्था से मुक्ति का विधान है उसी प्रकरणरत्नाकर चोथे भाग के ७३ वें पृष्ठ पर यह उल्लेख है कि-

तिरिय जा अच्चुओ सढ्ढा ।।१५२।।

अर्थात्- श्रावक यानी जैन गृहस्थ अधिक से अधिक अच्युत स्वर्ग तक जा सकता है। उससे आगे नही।

अच्युत स्वर्ग से ऊपर जाने के लिए समस्त घरबार परिग्रह छोडकर मुनि होने की आवश्यकता है। जब कि ऐसा स्पष्ट सिद्धात विद्यमान है फिर यह किस मुख मे कहा जा सकता कि बिना परिग्रह का त्याग किये और बिना साधु पदवी धारण किये मुक्ति मिल जावे। मुक्ति ऐसा कोई कारखाना नही जिसमें चाहे जो कोई पहुॅचकर भर्ती हो जावे। न वह कोई ऐसा खेल खेलने का मैदान है जिसमें कि बिना कुछ सयम पालन किये, बिना कुछ आरम्भ परिग्रह त्याग किये चाहे जो कोई पहुँच जावे।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी यह बात स्वीकार करता है कि पूर्ण वीतराग हो जाने पर ही मुक्ति प्राप्त होती है। जब तक जीव में लेशमात्र भी रागे-द्वेष आदि मोह भाव है तब तक वीतरागता की पूर्णता नही है। मोह का अभाव अन्तरग-बहिरग परिग्रह का त्याग करने पर होता है। जब तक जीव के पास अन्तरग या बहिरग परिग्रह विद्यमान रहेगा तब तक मोहभाव नही हट सकता। इसी कारण मुक्ति की साधना करने के लिए समस्त परिग्रह रहित, परम वीतराग जिनेन्द्र देव को उद्देश्य करके समस्त बहिरग परिग्रह छोडकर साधुदीक्षा ग्रहण की जाती है।

श्वेताम्बरीय ग्रथ आचाराग सूत्र मे नग्न जिन कल्पी साधु को इसी कारण उत्कृष्ट साधु माना गया है कि,

वह वीतरागता का सच्चा आदर्श होता है, समस्त बहिरग परिग्रह का त्यागी होता है। बहिरग परिग्रह,धन, मकान, वस्त्र, आभूषण, पुत्र, स्त्री आदि पदार्थ अतरग परिग्रह के कारण

है।यह मनुष्य के पास जब तक मोजूद रहते हैं तब तक मनुष्य के आत्मा में उनके निमित्त से मोह उत्पन्न होता रहता है। जिस समय वह उन पदार्थों का परित्याग करके महाव्रतधारी साधु हो जाता है उस समय अतरग परिग्रह रागद्वेष आदि परिणाम भी हटने लग जाते हैं। क्योकि बहिरग निमित्त नष्ट हो जाने पर उसका नैमित्तिक कार्य राग द्वेष आदि भी नही होने पाते।

मनुष्य के पास जब घरबार विद्यमान है, तब तक किसी अच्छे पदार्थ के निमित्त से इन्द्रियजन्य सुख प्राप्त होने से उस पदार्थ में राग (प्रेम) उत्पन्न होता है और किसी बुरे पदार्थ के ससर्ग से जिसके निमित्त से कि उसके इद्रिय सुख में वाधा पडती है, उस पदार्थ में द्वेषभाव उत्पन्न होता रहता है। जिस समय उन घरबार सम्बन्धी पदार्थों से ससर्ग छूट जाता है उस समय वह कुत्सित राग द्वेष भी अपने आप दूर हो जाता है।

यद्यपि यह बात ठीक है कि बाह्य पदार्थों का त्याग मानसिक उदासीनता के कारण हुआ करता है। किन्तु वहाँ पर इतना भी अवश्य है कि उस मानसिक उदासीनता या वैराग्य को स्थिर रखने के लिए बाह्य पदार्थों का त्याग करना ही परम आवश्यक है। बिना उन बाहरी गृह सबन्धी पदार्थों का ससर्ग छोडे वह वैराग्यभाव ठहर नही पाता। जैसे गृहस्थ लोग अपने किसी प्रिय बन्धु की मृत्यु होते देखकर कुछ समय के लिए श्मशान भूमि में वैराग्य की तरह झुक जाते हैं । वहाँ पर ससार की अनित्यता, उसकी असारता का अनुभव करने लगते हैं। किन्तु घर में आकर अपनी स्त्री,पुत्री,बहिन,माता,पुत्र,दुकान आदि को देखकर उनके ससर्ग से फिरा जैसे तैसे हो जाते हैं । वैराग्य न जाने किधर विदा हो जाता है। इस कारण इस बात का खुलासा अपने आप हो जाता है कि मानसिक वैराग्य को स्थिर रखने वाला तथा उसको पुष्ट करने वाला बाह्य परिग्रह का ससर्ग त्याज्य है। मनुष्य जब तक उसका पूर्णतया परित्याग न करे तब तक राग-द्वेष पर विजय नही पा सकता।

इसी कारण अन्य साधारण मनुष्यों की बात तो एक ओर रहे किंतु तीर्थंकर सरीखे मुक्तिरमणी के निश्चित भर्तार भी जब तक समस्त बहिरग परिग्रह छोड साधु दीक्षा ग्रहण नहीं कर लेते हैं तब तक उनको वीतरागता प्राप्त नही होने पाती। चौबीस तीर्थंकरो में से कोई भी ऐसा तीर्थंकर नहीं हुआ जिसने परिग्रह का त्याग किये बिना ही केवलज्ञान पा लिया हो। जब तीर्थंकर सरीखे उत्कृष्ट चरम शरीरी के लिए यह बात है तो फिर क्या रतिसार कुमार सरीखे साधारण मनुष्यों को वीतरागता पाने के लिए परिग्रह त्याग देना आवश्यक नही ?

यदि गृहस्थ अवस्था में भी मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो सकती है तो फिर साधु बनने, बनाने, उपदेश करने, प्रेरणा करने की कोई आवश्यकता नही। क्योकि ऐसा कोई बुद्धिमान मनुष्य नहीं जो कि घर में मिल सकने वाले पदार्थ को प्राप्त करने के लिए अनेक कष्ट उठाता हुआ जगलो की धूल छानता फिरे। यदि गृहस्थ मनुष्यों का विराट् परिग्रह मुक्ति प्राप्त करने में बाधा नही डाल सकता तो फिर स्थविरकल्पियों के वस्त्र, पात्रादिक पदार्थ भी वीतरागता में क्या विघ्न उत्पन्न कर सकते हैं? फिर समस्त वस्त्र पात्रत्यागी नग्न जिन कल्पी साधु उनसे उन्ने क्यों माने गये हैं?

यहाँ कोई मनुष्य यह कुतर्क उपस्थित करे कि "मूर्च्छा परिग्रह" तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के इस सूत्रानुसार धन-धान्य, घर, पुत्रादि का नाम परिग्रह नहीं है किन्तु उन पदार्थों में ममत्व भाव (मोहभाव) रखने का नाम ही परिग्रह है। इस कारण जिस मनुष्य के हृदय से बाह्य पदार्थों का प्रेम दूर हो गया है वह वस्त्र, आभूषण आदि पहने हुए भी घरके भीतर स्त्री पुत्रादि के बीच में बैठा हुआ भी परिग्रही नहीं कहा जा सकता।

इस तर्क का उत्तर यह है कि बाह्य पदार्थों में उस मनुष्य को मोहभाव नही रहा है, यह बात उसके किस कार्य से मान ली जावे। यदि वह बाह्य पदार्थों को अपने नही समझता है, अन्य ही समझता है तो उसका पहला कार्य होना चाहिये कि वह उनका साथ छोड दे। क्योंकि जो मनुष्य सचमुच मे विष को प्राणघातक समझ लेता है, वह फिर उस विष को कभी नही खाता है। तदनुसार जो मनुष्य परिग्रह को दु खदायक समझ जाता है, वह फिर उनको छोड भी अवश्य देता है। यदि वह उनको न छोडे तो समझना चाहिये कि उसने परिग्रह को दु खदायक समझा ही नही।

यदि बाह्य पदार्थ परिग्रह त्याज्य नही हैं तो फिर तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के सातवें अध्याय के २४वें सूत्र "क्षेत्र वास्तु हिरण्यसुवर्णधनधान्यदासी-दासकुप्यप्रमाणतिक्रमा" इस सूत्र में धन धान्यादिक बाह्य पदार्थों के ग्रहण करने में परिग्रहत्याग व्रत के अतीचार (दोष) क्यों माने गये हैं ?

यदि बाह्य पदार्थों का बिना त्याग किये भी कोई मनुष्य अपरिग्रही (परिग्रहत्यागी) हो सकता है तो कोई मनुष्य स्त्रियो के साथ भोग-विलास करते हुए भी पूर्ण ब्रह्मचारी क्यो नही हो सकता ? यहाँ जो आक्षेप समाधान हो वे ही आक्षेप समाधान उक्त पक्ष में समझने चाहिये।

एव-गृहस्थलिंग से मुक्ति प्राप्त होने में कर्म सिद्धान्त भी बाधक है, क्योकि गृहस्थ के अनतानुबधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम रहता है तथा प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन कषाय का उदय रहता है। इसी कारण गृहस्थ पचमगुणस्थानवर्ती होता है। (पचम गुणस्थानवर्ती श्रावक जब तक प्रत्याख्यानावरण, सज्वलन कषायों का क्षयोपशम तदनन्तर क्षय न करे तब तक वह यथाख्यातचारित्र धारी, वीतराग भी नही हो सकता है।)

श्री आत्मानद जैन पुस्तक प्रचारक मडल आगरा द्वारा दामोदर यन्त्रालय से प्रकाशित पहले कर्म ग्रथ के ४८ वें पृष्ठ पर अनतानुबधी आदि कषायो के विषय में क्रम से लिखा हुआ है कि-

"सम्माणुसव्वविरई अहाखायचरित्तधायकरा" ।।१२।।

यानी- अनतानुबन्धी सम्यग्दर्शनका, अप्रत्याख्यानावरण देश व्रत का, प्रत्याख्यानावरण मुनिव्रत का तथा सज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का घात करने वाली है।

तदनुसार गृहस्थ के महाव्रत होना भी असभव है और जबकि उसको महाव्रत भी नही हो सकते तो यथाख्यात चारित्र और उसके आगे उसको मुक्ति मिलना आकाश के फूल के समान असभव है।

समझ मे नही आता कि कर्म सिद्धान्त के विरुद्ध इस गृहस्थ मुक्ति की कल्पना निराधार रूप से श्वेताम्बरीय ग्रथो ने कहाँ से करली ? थोडा सा विचार करने की बात है कि यदि गृहस्थ दशा से ही मुक्ति मिल सकती है तो उच्च त्याग की और साधु बनकर वननिवास करने तथा कायक्लेश, दुर्द्धर परीषह सहने, आतापनादिक योग करने की क्या आवश्यकता है?

जैसे मरुदेवी माता हाथी पर चढे-चढे बिना कुछ त्याग किये मुक्त हो गई, रतिसार स्त्रियो के बीच बैठा हुआ ही मुक्ति चला गया उसी प्रकार "कोई मनुष्य यदि अपनी स्त्री के साथ विषय सेवन करते हुए वैराग्य भावो की वृद्धि से मुक्त हो जावे" तो ऐसे कथन का निषेध हमारे श्वेताबरी भाई किन आधार से कर सकते हैं ? क्योकि वे जो-जो विघ्न बाधाए यहाँ खडी करेंगे वे ही उनके पक्षमें खडी होगी।

फिर एक और आनद की बात यह है कि रतिसार को केवलज्ञान हो जाने पर देवों ने आकर उसके वस्त्र आभूषण उतार उसका साधुवेश बनाया। अर्थात् रतिसार केवलज्ञानी तो हो गया किंतु वस्त्र आभूषण पहने ही रहा। इस मोटी त्रुटि को अल्पज्ञ देवो ने आकर दूर किया। इस वृत्तान्त से भी बुद्धिमान मनुष्य तो यह अभिप्राय निकाल ही सकता है कि बिना बाह्य परिग्रह त्याग किये मुक्ति नही हो मकती। अतएव गृहस्थ अवस्था से मुक्ति मानना ठीक नहीं। मोटी भूल है।

इस कारण साराश यह है कि प्रथम तो गृहस्थ समम्त परिग्रह का त्यागी नही इस कारण उसको मुक्ति नही हो सकती।

दूसरे–गृहस्थ पचम गुणम्थानवर्ती होता है मुक्ति चौदहवें गुण स्थान के अनतर होती है इसलिए गृहस्थ अवस्था से मुक्ति नही होती।

तीसरे– प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन कपाय का गृहस्थ के उदय रहता है इस कारण गृहस्थ को यथाख्यात चारित्र न होने से मुक्ति नही हो सकती है।

चौथे– गृहस्थ कर्म सिद्धान्त के अनुसार अपनी सर्वोत्कृष्ट तपस्या से भी अच्युत स्वर्ग से ऊपर नही जा सकता।

पाँचवें– कर्मों का क्षय करने वाला शुक्ल ध्यान गृहस्थ के होता नही है इस कारण गृहस्थ को मुक्ति नही हो सकती।

छठे– गृहस्थ अवस्था से ही यदि मुक्ति हो जाती तो तीर्थंकर देव ने उनको साधुदीक्षा ग्रहण करने का उपदेश क्यों दिया ?

सातवे– यदि इतर साधारण पुरुप गृहस्थ दशा से मुक्त हो सकते हैं तो फिर तीर्थंकर भी गृहस्थ अवस्था से मुक्त क्यों नही होते ? वे तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान में अन्य गृहस्थ पुरुषों से बहुत बढे– चढे भी होते हैं ?

पैर दाबते –दाबते केवलज्ञान

श्वेताम्बरीय कथा ग्रथो में अधिकाश ऐसी कथाए हैं जिनके कल्पित रूप बहुत शीघ्र स्पष्ट हो जाते हैं। इतना ही नही किन्तु उन कथाओ की घटना में सिद्धान्त के नियमो से भी बहुत भारी बाधा आ उपस्थित होती है। हम इस बात को यहॉ केवल चदना तथा मृगावती के केवलज्ञान उत्पन्न होने वाली कथा को दिखलाकर ही समाप्त करेंगे।

चदना तथा मृगावती के केवलज्ञान उत्पन्न होने की घटना कल्पसूत्र के ११६ वें पृष्ठ पर यो लिखी है–

"एक दहाडो श्री वीरप्रभु ने वादवा माटे सूर्य अने चन्द्र पोताना विमानसहित आव्या। ते वखते दक्ष एवी चदना अस्त समय जाणी ने पोताने स्थान के गई अने मृगावती सूर्य चन्द्रमा जावा बाद अधकार थये छते, रात्री जाणीने बीती थकी, उपाश्रये आवी ने, ईर्या वही पडीकभीने चदना प्रते कहेवा लागी के, मारो अपराध आप क्षमा करो। त्यारे चद नाए पण कह्यु के तने कुलीन ने आवु करवु युक्त नथी, त्यारे तेणोए कह्य के, फरीने हु तेम करीश नही, एम कही तेणी ने पगे ते पडी। एटलामा चदना ने निद्रा आवी गइ। अने मृगावती ने तेग खमावता थका केवलज्ञान उपज्यु, पछी सर्पपासेथी तेणीनो हाथ खसेडवावडे कराने जगाडेली प्रवर्तनीये पुछयु, ते सर्पनें शी रीते जाणयो ? पछी तेणीने केवलज्ञान थएल्लु जाणीने पोते पण खभावती थकी केवलज्ञान पामी।"

अर्थात्–एक दिन कौशाम्बी नगरी में श्री महावीर स्वामी की वदना करने के लिए सूर्य और चन्द्रमा अपने मूल विमानो सहित आये। उस समय चतुर चदना दिन छिपता जानकर अपने स्थान पर चली गई और मृगावती नामक साध्वी (आर्यिका) सूर्य चन्द्रमा के चले जाने पर जब रात्रि हो गई तब उपाश्रय में चदना के सामने प्रतिक्रमण (लगे हुए दोषों का पश्चाताप) करते हुए चदना से कहने लगी कि मेरा अपराध क्षमा करो। तब चदना ने उससे कहा कि हे भद्रे ! तुम कुलीन स्त्री हो, रात के समय बाहर रहना तुमको योग्य नही। तब मृगावती ने चदना से कहा कि फिर ऐसा कार्य नही करूँगी। ऐसा कहकर वह चदना के पैरो पर गिर पडी। इतने में चदना को नीद आ गई। और मृगावती को उसी प्रकार चदना के पैरो पर पडे हुए अपना अपराध क्षमा कराते हुए केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। तदनतर उस उपाश्रय में एक सर्प आया, उस सर्प को मृगावती ने अपने केवलज्ञान से जान लिया। सर्प के जाने के मार्ग में सोती हुई चदना का हाथ रक्खा हुआ था सो मृगावती ने केवल ज्ञान से जान उसका हाथ एक ओर हटा दिया। हाथ हटाने से चदना जाग गई और उसने अपने हाथ हटाने का कारण पूछा। तब उसको मृगावती के कहने से मालूम हुआ कि यहाँ एक सर्प आया था उससे बचाने के लिए मृगावती ने मेरा हाथ एक ओर हटा दिया था। तब चदना ने मृगावती से पूछा ऐसे गाढ अधकार में तुमको सर्प कैसे जान पडा। तब मृगावती के कहने से उसको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ जानकर चदना अपने दोषो को मृगावती से क्षमा कराने लगी और उस प्रकार क्षमा कराते हुए उसको केवलज्ञान हो गया।

यह कथा हूबहू इसी रूप में प काशीनाथजी जैन कलकत्ता लिखित तथा उन्ही के द्वारा सन् १९२३ में प्रकाशित "चदनबाला" नामक पुस्तक में लिखी गई है। केवल इतना विशेष है कि ५५वें पृष्ठ पर केवलज्ञान धारिणी मृगावती चदना से केवलज्ञान उत्पन्न होने के कारण मे यो कहती है कि –"यह सब आपकी कृपा है।"

इस कथा में प्रथम तो यह बात ही बिल्कुल असत्य है कि श्री महावीर स्वामी की वदना के लिए चद्रमा और सूर्य अपने विमानो सहित कौशाम्बी नगरी में आये। क्योकि यह असभव बात है। स्वभाव से ही ज्योतिषी देव कल्पवासी देवो के समान अपने मूल विमानो सहित यहाँ कभी नही आते न कभी पहले आये हैं और न कभी आवेंगे।

चन्द्रमा सूर्य के मूल विमानो सहित कौशाबी नगरी मे आने की निर्मूल बात को इसी कारण श्वेताम्बरीय ग्रथों में "अछेरा" कहकर न पूछने योग्य बता दिया है। सो बुद्धिमान मनुष्य इस असभावित घटना को कदापि नही स्वीकार कर सकते। यदि इस घटना को हमारे श्वेताम्बरी भाई सत्य समझते हैं तो उन्हें यह बात भी झूठ नही मानना चाहिये कि–

मुलतान नगर में पहले शम्भस नामक एक मुसलमान फकीर रहता था उसके शरीर का कच्चा चमडा उतर जाने से उसका शरीर घृणित दीखता था। इसी कारण रोटी पकाने के लिए कोई भी मनुष्य उसको अग्नि नही देता था तब उसने विवश (लाचार) होकर सूरज को मुलतान मे पृथ्वी पर उतारा और उसके ऊपर अपनी रोटियाँ पकाई। इसी कारण उस दिन से मुलतान में अब तक असह्य–बहुत भारी–गर्मी पडती है।"

यदि श्वेताम्बरी भाई इस कहानी को कल्पित अतएव सर्वथा असत्य समझते हैं तो उन्हें श्री महावीर स्वामी की वदना के लिए अपने विमान सहित कोशाबी में चन्द्रमा सूर्य से आने को भी असत्य समझने में न चूकना चाहिये।

दूसरे– कल्पित रूप से ही मान लो कि यदि सूर्य चन्द्र कौशाम्बी में आये तो और स्थान पर नही तो कम से कम कौशाम्बी में तो उनका प्रकाश अवश्य रहा होगा। फिर वहाँ चदना को कैसे रात दिख गई ?

तीसरे– केवलज्ञान की उत्पत्ति की बात भी बिलकुल असत्य है क्योकि केवलज्ञान षट् आवश्यक करने या उसके अशरूप प्रतिक्रमण करने से नही होता, न किसी के पैरों पर पडने से होता है तथा न अपने अपराधो की क्षमा माँगने मात्र से ही केवलज्ञान होता है। केवलज्ञान कोई अवधिज्ञान, लब्ध्यात्मक मति, श्रुत आदि सरीखा नही है जो किसी शुभ क्रिया के करने से क्षयोपशम हो जाने पर उत्पन्न हो जावे। केवलज्ञान उत्पन्न होने के लिए तो ज्ञानावरण कर्म का समूल क्षय होना चाहिये।

ज्ञानावरण कर्म का क्षय तब होता है जब कि उसके पहले मोहनीय कर्म समूल नष्ट हो जाता है। मोहनीय कर्म के नष्ट करने के लिए क्षपकश्रेणी चढना होता है। क्षपक श्रेणी पर उस समय चढते हैं जब कि शुक्ल ध्यान प्रारम्भ होता है। इस कारण शुक्ल ध्यान प्रारम्भ किये बिना कुछ कार्य सिद्ध नही होता फिर केवलज्ञान तो दूर की बात है।

प्रतिक्रमण करना, अपने गुरु–गुरुणी के पैरो पडना, अपने अपराधो की क्षमा माँगना आदि कार्य प्रमादसहित कार्य है। अतएव वे प्रमत्त नामक छठे गुण स्थान तक ही होते हैं। उसके सातवें आदि प्रमाद रहित गुण स्थानो मे ऐसी क्रियाएँ नही। वहाँ पर तो केवल अपनी आत्मा का ध्यान ही ध्यान है।

इस कारण बिना शुक्ल ध्यान किये केवल क्षमा माँगते मृगावती और चदना को केवलज्ञान हो जाने की बात सर्वथा असत्य और सिद्धात विरुद्ध है।

इसी प्रकार केवलज्ञान धारिणी मृगावती द्वारा सर्प से बचाने के लिए चदना का हाथ हटाने की जो बात कही गई है वह भी बिलकुल असत्य है। वहाँ पर दो बाधाएँ आती हैं। एक तो केवलज्ञानी को अज्ञानता का दोष। दूसरे उसको मोह भाव।

मृगावती केवलज्ञानिनी को अज्ञानता का दोष तो इस कारण आता है कि उसको यह मालूम नही हो पाया कि "यह सर्प चदना को काटेगा या नही, और चदना को अभी जाग जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न होगा या नही।

यदि सर्वज्ञा मृगावती को उक्त दोनो बातें ज्ञात होती तो वह चदनाका हाथ क्यो हटाती ? प्राण बचाने का उपाय तो हम–तुम सरीखे अल्पज्ञ मनुष्य करते है जिनको कि होने वाले प्राण–नाश या प्राण–रक्षण का कुछ बोध नही है। यदि मनुष्यो को भविष्यत् कालीन–होने वाली बात का पहले से ही यथार्थ बोध हो जावे तो वे वैसा यत्न कदापि न करें। जब कि सर्प द्वारा चदना की मृत्यु होनी ही नही थी जिसको कि मृगावती भी जानती होगी तो उसने फिर चदना का हाथ क्यो हटाया ? इस कारण दो बातों में से एक बात माननी होगी कि या तो मृगावती को केवलज्ञान ही नही हुआ था या उसके केवलज्ञान की उत्पत्ति बतलाना असत्य है। मृगावती को केवलज्ञान था ही तो श्वेताम्बर सम्प्रदाय के माने हुए सर्वज्ञो में कुछ अश अज्ञानता का भी रहता हे जैसा कि मृगावती में था।

तथा– मृगावती को केवलज्ञान रहते हुए भी मोहभाव इस कारण सिद्ध होता है कि दूसरे जीव के प्राण रक्षण का कार्य तब ही होता है जब कि प्राण रक्षा करने वाले मे कुछ शुभ राग हो। रागद्वेष का नाश हो जाने पर उपेक्षा भाव उत्पन्न होता है जिससे कि वीतराग किसी जीव के घात

करने अथवा रक्षण करने में प्रवृत्त नही होता है। दूसरे जीव को बचाने के लिए प्रवृत्ति करना इस बात को सिद्ध करता है कि उस वीतराग नामधारी के भीतर इच्छा विद्यमान है। इस कारण मृगावती ने सर्प के आक्रमण से बचाने के लिए जो चदना का हाथ एक ओर हटाया उससे सिद्ध होता है कि मृगावती की इच्छा चदना के प्राण बचाने की थी। अन्यथा वह उसका हाथ वहाँ से क्यों हटाती? अतएव उसके मोहभाव भी सिद्ध होता है।

एव प काशीनाथजी जो कि श्री चन्द्रसिंह सूरीश्वर के शिष्य हैं अनेक पुस्तको के लेखक हैं उनके लिखे अनुसार केवलज्ञान धारिणी मृगावती ने चदना से यह भी कहा कि मुझे जो केवलज्ञान हुआ है "वह आपकी कृपा है"। दूसरे व्यक्ति का आभार (अहसान) मानना अल्पज्ञ और मोहसहित जीव का काम है जो कि अपने ऊपर उपकार करने वाले को अपने से ऊँचा समझता है। वीतरागी, सर्वज्ञ आत्मा के भीतर किसी को अपने आप से बडा या छोटा समझने की इच्छा ही नही होती और न वह दूसरे से यो कहता ही है कि महानुभाव मै आपकी कृपा से केवलज्ञानी हुआ हूँ । इस कारण मृगावती ने चदना के सामने जो उसका आभार स्वीकार किया इस बात से समझा जाता है कि उस आत्मा में केवलज्ञान हो जाने पर मोहभाव विद्यमान था।

*****

अर्हन्त अवस्था में श्री महावीर-स्वामी के रागभाव
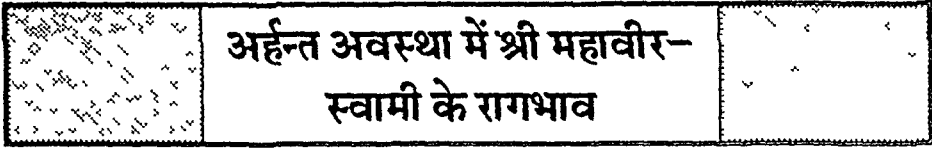
यह वात दिगम्बरीय सिद्धान्त के अनुसार श्वेताम्बरीय सिद्धान्त भी पूर्ण रूप से मानता है कि मोहजनित राग-द्वेष आदि दुर्भाव केवलज्ञान होने के पहले ही नष्ट हो जाते हैं। केवलज्ञान के उदय समय रागद्वेष आदि दोष समूल नष्ट रहते हैं क्योंकि उनका उत्पादक मोहनीय कर्म उस समय तक बिलकुल नष्ट हो जाता है।

किन्तु श्वेताम्बरीय कथा ग्रथों में भगवान् महावीर स्वामी के केवलज्ञान हो जाने पर भी मोहभाव प्रगट करने वाली चेष्टाओ का उल्लेख है। वह इस प्रकार है-

एक तो श्वेताम्बरीय ग्रथों में **"हे गौतम"** इस सम्बोधन के साथ उसका उल्लेख है। परम वीतराग महावीर भगवान् अपने उपदेश में किसी एक व्यक्ति विशेष का सबोधन क्यो करें ? उनके लिए तो गौतम गणधर के समान ही अन्य मनुष्य, देव, पशु, पक्षी थे। उस केवलज्ञानी दशा में गौतम गणधर ही एक परमप्रिय मित्र हों, अन्य न हों यह तो असभव है। वीतराग दशा होने के कारण उनका न कोई मित्र ही कहा जा सकता है और न कोई शत्रु ही। इस कारण केवल गौतम गणधर का ही महावीर स्वामी के शब्दों में सबोधन बनता नही। फिर भी श्वेताम्बरीय शास्त्रों ने वैसा उल्लेख किया ही है। इसका अभिप्राय यह है कि वे शास्त्र श्री महावीर स्वामी के अर्हन्त दशा में मोहभाव की सत्ता बतलाते हैं।

तथा- मुक्ति प्राप्त करने के दिन भी महावीर स्वामी के मोहभाव निम्न प्रकार प्रगट कर दिखाया है।

भगवान् महावीर को जिस रात्रि के अन्तिम समय में इस पौद्गलिक शरीर बन्धन को तोड़कर मुक्ति प्राप्त होनी थी उस दिन महावीर स्वामी ने यह विचार कर कि मेरी मुक्ति हो जाने

पर मेरे वियोग के कारण गौतम गणधर को बहुत दुख होगा, यदि वह मेरे पास उस समय न होगा तो उसको उतना दुख न होगात, अत गौतम गणधर को देव शर्मा को उपदेश देने के लिए भेज दिया।

इस बात को कल्प सूत्र में ८४ वे पृष्ठ पर यों लिखा है–

"जे रात्रिए प्रभु निर्वाण पदने पाम्या ते रात्रिए प्रभुनी नजदीकमा रहेता एवा गौतम गोत्रना इन्द्रभूति नामना मोटा शिष्य ने स्नेहबधन त्रुटते छते केवल ज्ञान अने केवल दर्शन उत्पन्न थया। तेनो वृत्तान्त नीचे प्रमाणे जाणवो। प्रभुए पोताना निर्वाण वखते गौतम स्वामिने कोइक गाममा देव शर्मा ने प्रतिबोधवावास्ते मोकल्या हता। तेने प्रति बोधने पाछा बलता श्री गौतम स्वामिए वीर प्रभुनु निर्वाण साभल्यु अने तेथी जाणे वज्रथीज हणाया होय नही तेम क्षणवारसुधि मौनपणा ने धारण करीने रह्या।"

अर्थात्– जिस रात को भगवान् महावीर ने मुक्ति पद प्राप्त किया उस रात को भगवान् के समीप रहने वाले गौतम गोत्रधारी इद्रभूति नामक बडे शिष्य का प्रेम बधन टूटते ही भगवान् को केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ। उसका प्रसग इस प्रकार है– भगवान् महावीर स्वामी ने अपने मुक्तिगमन के साथ गौतम गणधर को किसी एक गाँव में देवशर्मा नामक गृहस्थ को प्रतिबोध देने के लिए (धर्म पालन में तत्पर करने के लिए) भेज दिया था। देव शर्मा को उपदेश देकर लौटकर आते हुए गौतम स्वामी ने श्री महावीर स्वामी के मुक्त हो जाने की बात सुनी। सुनकर गौतम स्वामी कुछ देर तक वज्र से आहत (घायल) के समान मौन धार कर रहे।

कल्प सूत्र के इस कथन में प्रथम तो केवलज्ञान उत्पन्न होने की बात मोटी भूल भरी है कि भगवान् महावीर स्वामी को जिस रात्रि के अतिम पहर मे मुक्ति प्राप्त हुई थी उसी रात्रि को केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न हुआ था किन्तु उससे ३० वर्ष पहले दीक्षा ग्रहण करने के १२ वर्ष पीछे केवलज्ञान उनको उत्पन्न हुआ था। जैसा कि कल्प सूत्र के ७७ वें पृष्ठ में भी लिखा हुआ है कि–

"एवी रीते तेरमा वर्षनी वैशाख सुदी दशमी ने दहाडे बाधारहित तथा आवरण रहित एवा केवलज्ञान अने केवलदर्शन प्रभु ने उत्पन्न थयाँ।"

अर्थात्– इस प्रकार तेरहवें वर्ष वैशाख सुदी दशमी के दिन बाधा और आवरण रहित केवलज्ञान और केवलदर्शन उत्पन्न हुआ।

इस तरह प्रथम तो कल्पसूत्र का पूर्वोक्त कथन परस्पर विरुद्ध हे। कितु यह तो स्पष्ट है कि मुक्त होने से बीस वर्ष पहले महावीर स्वामी अर्हंत हो चुके थे इस कारण वे अतिम तीस वर्षो तक पूर्ण वीतराग रहे थे।

जबकि वे पूर्ण वीतराग थे फिर गौतम गणधर के साथ उनका प्रेम बधन किस प्रकार सभव हो सकता है ? प्रेम भाव तो सरागी पुरुष के ही होता है।यदि इस बात को यो समझा जाय कि प्रेम भाव महावीर को न होकर गौतमस्वामी को ही था तो फिर गौतम गणधर के प्रेमबन्ध से महावीर स्वामी के मुक्तिगमन में क्या रुकावट थी ? जिसको कि कल्पसूत्र के रचयिता ने **"गौतमगणधरका प्रेमबन्धन टूटते हुए महावीर स्वामी की मोक्ष हो गई"** ऐसा लिखा है। प्रेम बन्धन गौतम गणधर के होवे और उसके कारण भगवान् महावीर मोक्ष प्राप्त न कर सकें यह बात बिलकुल ऊँट–पटाग है।

तीसरे–जबकि महावीर स्वामी उत्तम वीतराग थे तब उन्हें देव शर्मा को प्रतिबोध देने के बहाने गौतम गणधरको बाहर इसलिए भेज देना कि "यह कही यहाँ रह गया तो मेरे मुक्त होने पर मेरे वियोग में दुखी होगा– अश्रुपात करेगा ? कहाँ तक उचित है ? ऐसा करना भी मोहजनित है।

इस कारण श्वेताम्बरीय ग्रथो की इस कथा के अनुसार भगवान् महावीर स्वामी के अर्हन्त अवस्था में मोहभाव सिद्ध होता है। जो कि असभव तथा सिद्धान्त विरुद्ध बात है।

+

अर्हन्त भगवान्‌की प्रतिमा वीतरागी हो या सरागी ?

इस अपार असार ससार के भीतर जीवो के लिए मुख्य तौरसे दो ही मार्ग हैं **वीतराग और सराग**। इनमें से वीतराग मार्ग के उपासक जैन लोग है और सरागी मार्ग की उपासना करने वाले अन्य मतानुयायी हैं।

जैन समाज अपना आराध्य देव वीतराग (रागद्वेषरहित परमात्मा) को ही मानता है और अपना सच्चा गुरु भी उसको समझता है जो कि वीतरागता का सच्चा अभ्यासी होवे तथा प्रत्येक जैन व्यक्ति स्वय वीतराग बनने का उद्देश्य रखता है। इसी कारण वीतराग देव को अपना आदर्श मानकर उसकी मूर्ति बनाकर उसकी उपासना करते हुए उसके समान वीतरागता प्राप्त करने के लिए उद्योग करता है।

वीतराग मार्ग का उपासक जैसे दिगम्बर जैन सप्रदाय है उसी प्रकार श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय भी होना चाहिये। श्वेताम्बरी भाई भी अर्हन्त भगवान् को वीतराग कहते है तथा स्वय वीतरागता प्राप्त करने के लिए ही अर्हन्त भगवान् की उपासना करते हैं। किन्तु आजकल उन्होने अपने आदर्श को गिरा दिया है। *आजकल वे जिस ढग से अपना आदर्श बनाकर उपासना करते हैं उस उपासना* के ढग में वीतरागता का अश न रहकर सरागता का दूषण घुस गया है।

कुछ समय पहले की बनी हुई श्वेताम्बरीय अर्हन्त भगवान् की प्रतिमाएँ वीतराग ढग की होती थी। उन प्रतिमाओ में दिगम्बरी प्रतिमाओ से केवल लँगोट मात्र का अतर रहता था। अन्य सब अगों में दिगम्बरी मूर्तियो के समान वे भी वीतरागता सयुक्त होती थी किन्तु आजकल श्वेताम्बरी भाइयों ने उन अर्हन्त मूर्तियो को श्रीकृष्ण, रामचन्द्र आदि की मूर्तियो से भी बढकर वस्त्र–आभूषणों से सुसज्जित करके सरागी बना दिया है।

पाषाण निर्मित वीतरागता–छविसयुक्त प्रतिमाओ का वे खूब श्रृङ्गार करते हैं। प्रतिमा के नेत्रों की शोभा बढाने के लिए वे नेत्रो के स्थान को खोद कर दूसरे कृत्रिम काली पुतली सयुक्त सफेद पत्थर की आँखों को जड देते हैं। प्रतिमा के सिर पर राजा, महाराजाओ अथवा देव, इन्द्रों के समान सुन्दर मुकुट पहनाते हैं। कानों में चमकदार कुण्डल पहनाकर सजा देते हैं। हाथों में सोने के कडे, भुजा में बाजूबद पहनाया करते हैं। गले में सुदर हार रखते हैं और शरीर पर पहनने के लिए अच्छे सुदर वस्त्र का अगिया बनाते हैं जिस पर सलमा सितारे का काम किया हुआ होता है।

वैसे श्वेताबरी भाई प्रतिदिन कम से कम अपने मदिर की मूलनायक प्रतिमा को ऐसे सुदर वस्त्र आभूषणों से अवश्य सजाये हुए रखते हैं किंतु किसी विशेष उत्सव के समय तो वे अवश्य ही उस प्रतिमा का भी मनोहर श्रृगार करते हैं जिसको कि उत्सव के लिए बाहर निकालते हैं।

अनेक स्थानों पर श्वेताम्बरी भाइयों ने कुछ दिगम्बरी प्रतिमाओ पर अपना अधिकार कर रक्खा है अत उन प्रतिमाओ की वीतराग मुद्रा को ढकने के लिए भी उद्योग करते रहते हैं। आगरे में जुम्मा मसजिद के पास जो श्री शीतलनाथजी का मदिर है उसमें श्री शीतलनाथ तीर्थंकरकी २।।-३ फुट ऊंची श्यामवर्ण की पाषाण निर्मित दिगम्बरीय प्रतिमा है जो कि बहुत मनोहर है उस परश्रृगार कराने के लिए सदा उद्योग करते रहते हैं। प्रात काल दिगम्बरी भाइयों के दर्शन कर जाने के पीछे उसको सुसज्जित कर देते हैं। मक्सी पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर भी ऐसा ही किया करते हैं। अभी कुछ दिन से केशरिया तीर्थक्षेत्र पर भी दिगम्बरी प्रतिमाओ को कृत्रिम आँख आदि जडकर श्वेताम्बरीय प्रतिमा बनाने के लिए श्रृगारयुक्त करना चाहते हैं। इत्यादि।

इस प्रकार एक तरह से श्वेताम्बरी भाई आजकल वीतरागता को छोडकर सरागता के उपासक बन गये हैं। यहाँ पर हमारा श्वोम्बरी भाइयों के सामने प्रश्न उपस्थित है कि आप लोग इस समय वीतराग देव की आराधना, पूजन करते हैं अथवा सरागी देव की ?

यदि आप सरागी देव की पूजना आराधना करते हैं तो आप लोग जैन नहीं कहला सकते क्योंकि जैन समाज वीतराग देव का उपासक है। वह सरागी देव की उपासना नहीं करता है।

यदि आप वीतराग देव के उपासक हैं तो आपको अपनी अर्हन्त प्रतिमाएँ वीतराग रूप में रखनी चाहिये उनको सरागी नही बनाना चाहिये। आप अपनी प्रतिमाओ को मनोहर चमकीले वस्त्र-आभूषण पहना कर जो श्रृ गारयुक्त कर देते हैं सो आपकी उस अर्हन्त प्रतिमा में तथा श्रीकृष्ण, रामचन्द्र आदि की मूर्तियों में कुछ भी अतर नही रहता। बल्कि आपकी अर्हन्त मूर्ति से कहीं अधिक बढकर बुद्ध मूर्ति वैराग्यता प्रगट करने वाली होती है।

इसके सिवाय इसी विषय में हमारा एक प्रश्न यह है कि आप तीर्थकर की प्रतिमा अर्हन्त दशा की पूजते हैं अथवा राज्यदशा की ?

कुछ श्वेताम्बरी भाई यह कह दिया करते हैं कि हम राज्य दशा के तीर्थंकर की प्रतिमा बनाकर पूजते हैं। सो ऐसा मानना तथा ऐसा मान कर राज आभूषण सयुक्त प्रतिमा को पूजना बहुत भारी अज्ञानता है क्योंकि तीर्थंकर राज्यावस्था में न तो पूज्य होते हैं न राज्यावस्था की तीर्थंकर प्रतिमा के पूजने से आत्मा का कुछ कल्याण ही हो सकता है।

राज्य अवस्था की मूर्तियाँ तो श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण, कृष्ण आदि की भी हैं जिनको कि अजैन भाई पूजा करते हैं। आपकी आराधना में और उनकी आराधना में अतर ही क्या रहेगा। तथा जैसा मनुष्य स्वय बनना चाहता है वह वैसे ही आदर्श देव की आराधना उपासना करता है। तदनुसार आप जो राज्यावस्था तीर्थंकर को पूजते हैं सो आपको क्या राज्य प्राप्त करने की इच्छा है ? यदि राज्य प्राप्त करना चाहते हैं तो समझना चाहिये कि आपको ससार अच्छा लगता है। तथा जो श्वेताम्बरी जैन राजा हो उसे तो फिर पूजन आराधना करने की आवश्यकता नही क्योंकि उद्देश्यानुसार उसको यहाँ पर राज्यपद प्राप्त है।

यदि आप अर्हन्त दशा की प्रतिमा को पूज्य समझते हैं तो फिर यह बतलाइये कि क्या अर्हन्त वस्त्र आभूषण पहने होते हैं ? अथवा वस्त्र आभूषण आदि श्रृ गार से हीन होते हैं ?

यदि श्रृ गार सहित होते हैं तो आपकी समझ तथा कहना बिलकुल असत्य, क्योकि आपके समस्त ग्रथो में लिखा है कि अर्हन्त भगवान् राग–द्वेष आदि दोषो से रहित होते हैं तथा उनके पास कोई जरासा भी वस्त्र–आभूषण नहीं होता है। हॉ, इतना अवश्य है कि श्वेताम्बर आचार्य आत्मारामजी कृत तत्त्वनिर्णयप्रासाद के ५८६ वें पृष्ठ की ११वी पक्ति के लिखे अनुसार केवली भगवान् के एक ऐसा अतिशय प्रगट होता है जिसके प्रभाव से नग्न दशा मे विराजमान भी अर्हन्त भगवान् की लिग इन्द्रिय दृष्टिगोचर नही होती।

यदि अर्हन्त वस्त्र–आभूषण रहित होते हैं तो फिर आप लोग उनकी प्रतिमा को वस्त्र आभूषण आदि श्रृगार से सुसज्जित करके सरागी क्यो बना दिया करते हैं ? अर्हन्त के असली स्वरूप को बिगाड कर सरागी बनाकर आप देव का अवर्णवाद करते है। श्रृगार युक्त प्रतिमा के दर्शन करने से मनके भीतर श्रृ गार युक्त सराग भाव उत्पन्न होते हैं। जो कि जैन धर्म के उद्देश्य के विरुद्ध है।

इस कारण श्वेताम्बरी अर्हन्त मूर्ति का श्रृङ्गार करके बहुत भारी अन्याय करते है। स्वय भूलते हैं और अन्य भोले भाइयो को भूल में डालते हैं। इस कारण उन्हें अर्हन्त मूर्ति का स्वरूप वीतराग ही रखना चाहिये।

यहॉ पर हम इतना औ र लिख देना उचित समझते हैं कि श्वेताम्बरीय साधु आत्माराम जी ने अपने तत्त्वनिर्णय प्रासाद के ५८४ वें पृष्ठ पर यह लिखा है कि "तुम्हारे मत की द्रव्य सग्रह की वृत्ति में ही लिखा है कि जिन प्रतिमा का उपगूहन (आलिगन) जिन दास नामा श्रावक ने करा। और पार्श्वनाथ की प्रतिमा को लगा हुआ रत्न माया ब्रह्मचारी ने अपहरण कर चुराया।" परतु यह बात असत्य है। आप यदि उस कथा को पढकर मालूम करते तो आपको पता लग जाता कि हमारा समझना गलत है। कथा इस प्रकार है–

ताम्रलिप्त नगर में एक जिनेन्द्रभक्त नामक सेठ रहता था। उसने अपने महल के ऊपर एक सुन्दर चैत्यालय बनवाया था। उस चैत्यालय में बहुत सुदर रत्न की बनी हुई एक पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर की प्रतिमा थी। उस प्रतिमा के शिर पर रत्न जडित तीन सुन्दर छत्र लटकते थे। छत्र में जडे हुए रत्नों में से एक वैडूर्य रत्न बहुत सुन्दर एव अमूल्य था।

पाटलिपुत्र नगर के राजा यशोध्वज का पुत्र सुवीर था वह कुसँगति के कारण चोर बन गया था इस कारण अनेक चोरो ने मिलकर उसको अपना सरदार बना लिया था।

उस सुवीर ने जिनेन्द्र भक्त सेठ के चैत्यालय का तथा उसमें विद्यमान छत्र मे लगे हुए, उस अमूल्य रत्न का समाचार सुना था। इस कारण उसने अपने चोरो को एकत्र करके सबसे कहा कि कोई वीर जिनेंद्र भक्त सेठ के चेंत्यालय वाले उस वैडूर्यरत्न को चुराकर ला सकता है क्या ? सूर्यक नामधारी एक चोरने कहा कि मै इस काम को कर सकता हूँ। यह सुनकर सुवीर ने उसको वह रत्न लाने के लिए आज्ञा दी।

सूर्यक ने मायाजाल में फॅसाने के लिए क्षुल्लक का वेश बना लिया। क्षुल्लक बनकर वह उस सेठ के यहाँ आया। जिनभक्त सेठ ने उसको सच्चा क्षुल्लक समझकर भक्ति से नमस्कार किया और अपने मकान के ऊपर बने हुए उस चैत्यालय में ठहरा दिया। कपट वेशधारी चोरने वहॉ पर छत्र में लगा हुआ वह,रत्न देखा जिसको कि लाने की उसने सुवीर से प्रतिज्ञा की थी। वह बहुत प्रसन्न हुआ।

आधी रात के समय उस कपट वेषधारी चोर ने छत्र में से वह वैदूर्य रत्न निकाल लिया और उसको लेकर घर से बाहर चल दिया। पहरेदारों ने उसके पास चमकीला रत्न देखकर पकडना चाहा। उस कपटी चोर को अन्य कोई ठीक उपाय नही दीखा इस कारण भागकर वह जिनेन्द्र भक्त सेठ की शरण में जा पहुँचा।

जब सेठ ने सब वृत्तात सुना तब उसने पहरेदारों से कहा कि वे बडे तपस्वी हैं चोर नही हैं। इस रत्न को मेरे कहने से लाये थे। यह सुनकर पहरेदार चले गये, सेठ ने उस कपटी चोर को उपदेश देकर बिदा कर दिया।

इसी कथा को ब्रह्मचारी नेमिदत्त जी ने भी अपने आराधना कथा कोष की १० वी कथा में ऐसा ही लिखा है। कथा के कुछ आवश्यक श्लोक यहाँ हम उद्धृत करते है।

श्रीमत्पार्श्व जिनेन्द्रस्य महायत्नेन रक्षिता।
छत्रत्रयेण सयुक्ता प्रतिमा रत्ननिर्मिता ।।११।।
तस्याश्छत्रत्रयस्योच्चैरुपरि प्रस्फुरद्युति ।
मणिर्वैदूर्यनामास्ति बहुमूल्यसमन्वित ।।१२।।
स तस्कर समालोक्य कुटुम्ब कार्यव्यग्रकम् ।
अर्द्धरात्रौ समादाय त मणि निर्गतो गृहात् ।।२४।।

अर्थात्- जिनेन्द्र भक्त सेठ के उस चैत्यालय में श्री पार्श्वनाथ भगवान् की तीन छत्रो से विभूषित रत्नमयी एक प्रतिमा थी। उसके तीन छत्रो के ऊपर चमकदार बहुमूल्य एक वैदूर्य मणि लगी थी। ।१२। वह कपटी चोर सेठ के परिवार को कार्य में रत हुआ देख कर आधी रात के समय उस वैदूर्यमणि को लेकर वहाँ से चल दिया।२४।

पाठक महाशयों को मालूम हो गया कि वह रत्न छत्र में लगा था न कि प्रतिमा में। दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रतिमा में ऊपर से कोई ऑख, रत्न आदि वस्तु नही लगाई जाती है। क्योकि ऐसा करने से प्रतिमा की वीतरागता बिगड जाती है। इस कारण आत्मानद जी ने अपना अभिप्राय सिद्ध करने के लिए जो उक्त सहारा लिया था वह निराधार है अतएव असत्य है। द्रव्य सग्रह के लेख का भी ऐसा ही अभिप्राय है। अन्य नही।

अर्हन्त प्रतिमा पर लँगोट भी नहीं होना चाहिये

अर्हन्त प्रतिमाओ के ऊपर जिस प्रकार वस्त्र-आभूषण नही होना चाहिये उसी प्रकार उन प्रतिमाओ पर लिंग इन्द्रिय छिपाने वाले लँगोट का चिह्न भी नही होना चाहिये क्योकि लँगोट (कनोडा) बना देने से अर्हन्त भगवान् का असली स्वरूप प्रगट नही होता।

अर्हन्त दशा में भगवान् अन्य वस्त्र-आभूषणो के समान लँगोटी भी नही पहने होते क्योकि वे समस्त अन्य पदार्थों के ससर्ग से रहित पूर्ण वीतराग होते हैं। तत्काल जन्मे बालक के समान बिलकुल नग्न होते हैं।

यह बात आपके ग्रथकारो ने भी लिखी है। देखो, तत्त्वनिर्णयप्रासाद ग्रथ के ५८६ वें पृष्ठ पर आपके आचार्य आत्मानद अपरनाम विजयानद लिखते हैं–

"जिनेन्द्र के तो अतिशय के प्रभाव से लिगादि नही दीखते हैं और प्रतिमा के तो अतिशय नहीं है इस वास्ते इसके लिंगादि दीख पडते हैं।

इस प्रकार श्वे आचार्य आत्मानदजी अर्हंत भगवान् की नग्नता को स्वीकार करते हैं। किंतु साथ ही दिगम्बरीय पक्ष के प्रतिवाद में इतना और मिलाते हैं कि अतिशय के कारण अर्हत भगवान् के लिंगादि दीख नही पडते सो उनका इतना लिखना अपने पास का है। क्योकि ऐसा अतिशय किसी भी श्वेताबरीय शास्त्र में नही बतलाया गया है। स्वय आत्माराम जी ने स्वलिखित जैन तत्त्वादर्श ग्रथ के तीसरे चौथे पृष्ठ पर जो अर्हत भगवान् के ३४ अतिशय लिखे हैं उनमें भी उन्होंने कोई ऐसा अतिशय नही लिखा जिसके कारण अर्हंत भगवान के लिगादि गुप्त रहे आवें, दीखे नही।

- तथा प्रकरणरत्नाकर तीसरे भाग के ११७–११८ और ११९ वें पृष्ठ पर जो अर्हंत के ३४ अतिशय लिखे हैं उनमें भी लिगादि छिपा देने वाला अतिशय कोई भी नही बतलाया है। इस कारण आत्माराम जीने अतिशय के प्रभाव से अर्हतदेव के लिंगादि छिपाने का अतिशय अपने पास से लिख दिया है।

इस कारण सिद्ध हुआ कि अर्हन्त भगवान् नग्न होते हें और उनके लिगादि दृष्टिगोचर भी होते हैं।

ग्रदि कल्पित रूप से ही "अर्हन्त भगवान् के अतिशय के कारण लिगादि दृष्टिगोचर नही होते हैं।" यह बात मान ली जावे तो वह अतिशय अर्हन्त भगवान् की मूर्ति में किस प्रकार आ सकता है ? यहॉ पर तो अर्हन्त भगवान का असली स्वरूप् नग्न दशा दिखलाकर प्रगट करना चाहिये न कि लँगोटी की उपाधि उस प्रतिमा मे लगाकर अर्हन्त भगवान् के असल स्वरूप को छिपा देना चाहिये।

इस विषय में यह शका करना बहुत भोलापन है कि "अर्हन्त भगवान् की नग्न प्रतिमा बनाने पर उस प्रतिमा के लिंगादि अगो को देखने से स्त्री पुरुषो के मन मे काम विकार उत्पन्न हो सकता है। " क्योकि सरागी मूर्ति की लिग इन्द्रिय को देखकर ही दर्शन करने वाले के मन मे काम विकार उत्पन्न हो सकता है। वीतराग मूर्ति के लिगादि अगों के देखने से विकारभाव उत्पन्न नही होता। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण यह है कि स्त्रियॉ छोटे– छोटे बालको को प्रतिदिन नगे रूप में देखती रहती हैं उनके लिंगादि अगो पर भी उनकी दृष्टि जाती हे तथा उस नगे बालक को वे शरीर से भी चिपटा लेती हैं। किन्तु ऐसा सब कुछ होने पर भी उनके मन मे काम विकार उत्पन्न नही होता। क्योंकि उस बालक के मन में काम विकार नही है जो कि उसकी लिग इन्द्रिय से प्रगट हो रहा है।

युवा मनुष्य के उघडे हुए लिगादि अग इसी कारण स्त्रियो के मन मे काम विकार उत्पन्न कर देते हैं कि उस मनुष्य के मन में काम विकार मौजूद हें जो कि उसकी लिगेन्द्रिय से प्रगट हो

रहा है। यदि उसके मन में काम विकार न होवे जैसा कि उस के अगो से प्रगट हो जायगा तो उस युवक पुरुष को नग्न देखकर भी उनके मन मे काम विकार उत्पन्न नही हो सकता है।

सर्व वस्त्र रहित नग्न दिगम्बर मुनि भगवान् ऋषभदेव के जमाने से लेकर अब तक होते आये हैं। भगवान् ऋषभदेव आपके अनुसार भी वस्त्र रहित नग्न थे। दक्षिण महाराष्ट्र तथा कर्नाटक देश में विहार करने वाले आचार्य शान्तिसागर जी, मुनि वीरसागर आदि थे।तथा राजपूताना, बुदेलखड, मालवा, सयुक्तप्रात, बिहार प्रदेश में विहार करने वाले नग्न दिगम्बर मुनि शान्ति सागर जी छाणी, आनन्दसगरजी सूर्य सागर जी, चन्द्र सागर जी आदि है। उनके दर्शन करने से किसी भी स्त्री पुरुष के मन में विकार भाव नही उत्पन्न होते क्योकि वे स्वय वीतराग मूर्ति हैं। काम विकार से रहित हैं।

अन्य बात छोडकर श्वेताबरी भाई अपने ही ग्रथो का अवलोकन करें तो उन्हें मालूम होगा कि आपके ग्रथो में बतलाये गये उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु दिगम्बर जैन मुनियो के समान बिलकुल नग्न होते हैं। उनका भी तो श्वेताबरीय स्त्री–पुरुष दर्शन करते होंगे। तो क्या उनके दर्शन से उनके काम विकार उत्पन्न होता होगा ?

तथा– आपके ग्रथो के लिखे–अनुसार दीक्षा लेने के १३ मास पीछे भगवान् महावीर स्वामी भी बिलकुल नग्न हो गये थे। आचाराग सूत्र के ४६५ वें सूत्र में भी ऐसा ही लिखा है। फिर अल्पज्ञ साधु दशा में उन महावीर स्वामी के भी तो लिगादि अग दर्शन करने वाली भोजन कराने वाली स्त्रियो को दीख पडते थे। फिर उनके मन में भी काम विकार क्यो नही उत्पन्न होता था ? (मुनि आत्मारामजी का कल्पित अतिशय भी केवलज्ञानी के प्रगट होता है।)

इस कारण इस झूठे भ्रम को छोडकर श्वेताम्बरी भाइयो को यह निश्चय रखना चाहिये तथा प्रत्यक्ष रूप सें अब भी दिबगम्बर जैन मुनियो का, मूडविद्री, कार्कल आदि दक्षिण कर्णाटक देश में विराजमान बाहुबली के विशाल प्रतिबिम्बो का एव बावन गजाजी आदि खणड्गासनवाली विशालकाय नग्न मूर्तियो का दर्शन करके समझ लेना चाहिये कि वीतराग मूर्ति के दर्शन से काम विकार उत्पन्न नही होता।

तदनुसार श्वेताम्बरी भाइयो को चाहिये कि वे अपनी अर्हन्त प्रतिमाओं को असली अर्हन्त रूप में नग्न निर्माण कराया करें, लँगोटी का चिह्न लगवाकर उनकी वीतरागता को दूषित न किया करें।

■

गुरुगरिमा समीक्षण

जैनमुनिका स्वरूप कैसा है ?

अब यहाँ पर जैन साधु के स्वरूप का समीक्षण करते हैं क्योंकि श्री अर्हन्त भगवान् के समान जैन साधु के वेष तथा चर्या के विषय में भी दिगम्बर, श्वेताम्बर समाज का मतभेद है। गुरु गृहस्थ पुरुषों का तरणतारण होता है इस कारण परीक्षा द्वारा जैन गुरु का स्वरूप भी निर्णय कर लेना परम आवश्यक है।

जैन साधु पॉच पापो का पूर्ण तरह से परित्याग करके महाव्रतधारी होता है। तदनुसार वह अपने पास किसी भी प्रकार का परिग्रह नही रख सकता। यह बात दिगबर, श्वेताम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के शाखारूप स्थानकवासी सम्प्रदाय को भी मान्य है और तदनुसार ही उन तीनों सम्प्रदायों के आगम ग्रथ प्रतिपादन करते हैं।

किन्तु ऐसी मान्यता समान रूप में होते हुए भी तीनो सम्प्रदाय के साधुओ का वेश भिन्न-रूप से है। उनमें से दिगम्बर सम्प्रदाय के महाव्रतधारी साधु शरीर को ढकने के लिए लेशमात्र भी वस्त्र अपने पास नही रखते हैं। उत्पन्न हुए बालक के समान निर्विकार नग्नरूप मे रहते हैं। इसी कारण उनका नाम दिगम्बर यानी दिशारूपी कपडो के पहनने वाले अर्थात् नग्न साधु उनके लिए यथार्थ बैठता है।

[श्वेताम्बर सम्प्रदाय यद्यपि साधु का सर्वोच्च रूप नग्न ही मानता है, तदनुसार उसके भी सर्वोच्च जिनकल्पी साधु समस्त पात्र आदि पदार्थ त्यागकर नग्न ही होते है। किन्तु इसके साथ ही श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ग्रथ यह भी कहते हैं कि जिस साधु से नग्न रहकर लज्जा न जीती जा सके वह (दिगम्बर सम्प्रदाय के ऐलको के समान) लँगोट पहन लेवे, अन्य वस्त्र न रक्खे। जिस साधु से केवल लँगोट पहनकर शीत गर्मी आदि न सही जा सके वह (दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्यारह प्रतिमाधारी ऐलक से छोटी श्रेणी के क्षुल्लक समान) एक चादर और लेवे। जो एक चादर से भी साधु चर्या न पाल सके वह दो चादरें अपने पास रख लेवे। इत्यादि आगे बढाते-बढाते ४-६-१०-१२ आदि वस्त्र अपने शरीरका कष्ट हटाने के लिए अपने पास रख ले। जिनमें, कम्बल बिछौना आदि सम्मिलित हैं। यहॉ पर इतना और समझ लेना आवश्यक है कि श्वेताम्बरीय साधु अपने पास वस्त्र सूती ही रक्खे या ऊनी, रेशमी आदि सब प्रकार के लेवें इस बात का स्पष्ट एक निर्णय हमने किसी श्वेताम्बरीय शास्त्र में नही देखा। आचारागसूत्र के सूत्रों से यही खुलासा मिलता है कि साधु कोई भी तरह का वस्त्र ग्रहण कर सकता है।]

[वस्त्रों के सिवाय श्वेताम्बरीय साधु भोजन पान गृहस्थ के घरसे लानेके लिए लकडी के पात्र तथा अपने पास एक लाठी भी रखते हैं।

स्थानकवासी साधुओ का अन्य सब रूप श्वेताम्बरी साधु के समान होता है किन्तु वे अपने मुख से एक कपडा बाँधे रहते हैं जिसका उद्देश्य उनके कथनानुसार यह है कि बोलते समय मुखकी वायु से वायु-कायिक जीवो का घात न होने पावे। तथा वे अपने पास लाठी भी नही रखते हैं।]

श्वेताम्बरीय साधु पहनने–ओढने के लिए अपने पास श्वेतवस्त्र रखते हैं इस कारण उनका नाम श्वेताम्बर यथार्थ है।

साधुओ के दिगम्बर, श्वेताम्बर रूपकी मान्यता के कारण ही दोनो सम्प्रदायो का नाम दिगम्बर तथा श्वेताम्बर पड गया है। अस्तु।

दिगम्बर सप्रदाय के आगम ग्रथो ने वस्त्र आदि पदार्थों को बाह्य परिग्रह बतलाया है इस ण महाव्रतधारी साधु के अतरग परिग्रहका त्याग कराने के लिए उन वस्त्रो का त्याग कर देना ार्य प्रतिपादन किया है। इसी कारण दिगम्बर सम्प्रदाय का मनुष्य महाव्रतधारी साधु होता है स्त्र त्याग कर ही साधु होता है।

श्वेताबरीय ग्रथ (तत्त्वार्थाधिगम आदि) अपने सच्चे हृदय से तो कपडे आदि पदार्थों को ह रूप ही बतलाते हैं अतएव सर्वोच्च जिनकल्पी साधु दशा प्राप्त करने के लिए उनका त्याग नरूप धारण कर लेना अनिवार्य बतलाते हैं।

परन्तु इस सत्य समाचार पर पर्दा डालते हुए कुछ श्वेताबरीय ग्रथ अपने निम्न श्रेणी के वस्त्रधारी साधुओ के परिग्रहत्याग महाव्रत की रक्षा करने के उद्देश्य से वस्त्रो को परिग्रहरूप नही बतलाते हैं। मानसिक ममत्व परिणाम को ही वे परिग्रह कहते हैं। किंतु यह बात कुछ बनने नही पाती है।

महाव्रतधारी साधु के वस्त्रग्रहण के विषय में श्वेताबरीय ग्रथ आचारागसूत्र अपने छठे अध्याय के तृतीय उद्देश्य के ३६० वें सूत्र में यो लिखता है–

"जे अचेले परिवुसि ये तस्सण भिक्खुस्स एव भवइ –परिजिन्ने– मेंनत्थे, वत्थे जाइस्सामि, सूइ जाइस्सामि, सधिस्सामि, सीविस्सामि उक्कसिस्सामि वोक्कसिस्सामि, परिहरिस्सामि पाडणिस्सामि"। ३६

गुजराती टीका–जे मुनि वस्त्ररहित रहे छे ते मुनिने आवी चि नथी रहेती, जेवी के मारा वस्त्र फाटी गयाँ छे, मारे बीजु नवु वस्त्र लावबु छे, सूत्र (वु छे, सोय) वु छे, तथा वस्त्र साधुव छे, लीववु छे, बधारवु छे, तोडवु छे, पहेरवु छे के विटालवु छे।

यानी–जो मुनि वस्त्ररहित (दिगम्बर–नग्न) होते हैं उनको यह चिन्ता नही रहती कि मेरा वस्त्र फट गया है मुझे दूसरा नया कपडा चाहिये, कपडा सीने के लिए सुई, धागा (सूत) चाहिये तथा यह चिन्ता भी नही रहती कि मुझे कपडा रखना है, फटा हुआ अपना कपडा सीना है, जोडना है, फाडना है, पहनना है या मैला कपडा धोना है।

आचाराग सूत्र का यह ऊपर लिखा वाक्य दिगम्बर मुनि के मानसिक पवित्रता की कैसे चुने हुए शब्दों में प्रशसा करता है।

इसी आचाराग सूत्र के ८ वें अध्याय ५ वें उद्देश्य में यों लिखा है–

"अह पुण एव जाणेज्जा, उवक्क्ते खलु हेमते गिम्हे पडिवन्ने अहा परिजुन्नाई वत्थाइ परिट्ठवेज्जा अदुवा सतरुत्तरे अदुवा ओमचेलए अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघविय आगममाणे। तवे से अभिसमण्णागए भवति। जहेय भगवता पवेदित तमेव अभिसमेच्चा सव्वत्तो सव्वत्ताए सवत्तमेव अभिजाणिया।

गु टी –हवे जो मुणि एम जाणे के शीयालो व्यक्तिक्रान्त थयो अने उनालो वेठो छे तो जे वस्त्र परिजीर्ण थया होय ते परठवी दो, अथवा वखतरसर पहरेवा, ओछा करवा एटले के एक वस्त्र राखवु , अने अते ते पण छोडी अचेल (वस्त्ररहित) थइ निश्चिन्त वनवु । आम करता तप प्राप्त थाय छे। माटे जेम भगवाने भाष्यु छे तेनेज जाणीने जेम बने तेम समपणु ज सभजता रहेवु ।

यानी–जो मुनि ऐसा समझे कि शीतकाल (जाडा) चला गया गर्मी आ गई तो उसके जो कपडे पुराने हो गये हो उन्हे रख देवें, या समय अनुमार पहने या फाड कर छोटा कर लेवे। यहाँ तक कि एक ही कपडा रखले और विचार रक्खे कि में **अत मे उस एक कपडे को भी छोड यानी नग्न होकर निश्चिन्त बनू ।** ऐसा करने से तप प्राप्त होता है। इस कारण जैसा भगवान् ने कहा है वैसा जैसे बने तैसे पूर्ण तौर से समझना चाहिये।

यानी– मुनि के पास जब तक कोई एक भी कपडा रहेगा तब तक उसकी वस्त्र सम्बन्धी चिन्ता नही मिट सकती है। इस कारण तपस्या प्राप्त करने के लिए तथा चिन्ता मिटाने के लिए अपने कपडे घटाते–घटाते अत मे सब वस्त्र छोडकर नग्न (दिगम्बर) बनने का विचार रखना चाहिये। इस तरह आचाराग सूत्र के इस लेख से भी सिद्ध होता है कि जेन साधु का असली वेश नग्न (दिगम्बर) है।

इसी आचाराग सूत्र के ८ वें अध्याय के सातवें उद्देश्य में ऐसा लिखा है कि–

"अदुबा तत्थ परक्कमत भुज्जो अचेल तणफासा फुसाति, सीयफासा फुसति, दसमसगफासा फुसति, एगयरे अन्नयरे विरुवरुवे फासे अहियासेति अचेले लाघविय आगमपमणे। तवे से अभिसमन्ना गए, भवति। जहेंज भगवया पवेदिय तमेव अभिसमेच्चा सव्वआे सव्वत्ताए समतमेव सम्भिजाणिया।" (४३४)

गु टी –जो लज्जा जीती शकाती होय तो अचेल (वस्त्ररहित) ज रहेवु तेम रहेता तृणस्पर्श ताढ ताप दशमशक, तथा बीजापण अनेक अनुकूल प्रतिकूल परीषह आवे ते सहन करवा एम कर्याथी लाघव (अल्पचिता) प्राप्त थाय छे अने तप पण प्राप्त थाउय छे। माटे जेम भगवाने कह्यु छे तेनेज जाणी जेम बने तेम समयणु जाणता रहेवु।

यानी–जो मुनि लज्जा जीत सकता हो वह मुनि नग्न (दिगबर) ही रहे। नग्न रहकर तृणस्पर्श सर्दी, गर्मी, दशमशक तथा और और जो परीषह आवें उनको सहन करे। ऐसा करने से मुनि को थोडी चिन्ता (थोडी आकुलता) रहती है और तप प्राप्त होता है। इम कारण जैसा भगवान् ने कहा है वैसा जानकर जैमे बने तैसे पूर्ण समझता रहे।

साराश– मुनि यदि परीषह सह सकता हो तो वह वस्त्र छोडकर नग्न ही रहे। नग्न रहने से मुनि को बहुत चिन्ता नही रहती है और तप भी प्राप्त होता है।

इस प्रकार यह वाक्य भी मुनि के दिगम्बर वेष की पुष्टि और प्रशसा करता है। इसी आचाराग सूत्र के ८ वें अध्याय के पहले उद्देश्य में अतिम तीर्थकर श्री महावीर स्वामी के तपस्या करते समय का वर्णन करते हुए १३६ पृष्ठ पर यो लिखा हे "सवच्छर साहिय मास, ज णारिक्कासि वत्थग भगव, अचेलए ततो चाई, त वोसज्ज वत्थमणगारे। (४६५)

गु टी भगवाने लगभग तेर महिना लगीते (इन्द्रे दीधेलु) वस्त्र स्कध पर धर्यु हतु पछी ते वस्त्र छाडी नें भगवान् वस्त्र रहित अणगार थया।

यानी—महावीर स्वामी ने लगभग १३ मास तक ही इन्द्र का दिया हुआ देवदूश्य कपडा कधे पर रक्खा था किन्तु फिर उस वस्त्र को भी छोड कर वे अत तक नग्न रह कर तपस्या करते रहे।

इस वाक्य से भी मुनियो के दिगम्बर वेष की अच्छी पुष्टि होती है क्योंकि जिन महावीर तीर्थंकरने नग्न वेष में तपश्चरण करके मोक्ष पाई है, जिस मार्ग पर महावीर स्वामी चले उस मार्ग का अनुयायी महाव्रत धारी मुनि उत्कृष्ट क्यो कर न होवें ?

इस विषय पर श्वेताम्बर सप्रदाय का प्रसिद्ध सिद्वान्त ग्रथ प्रवचनसारोद्धार १३४ वें पृष्ठ पर अपने ५०० वी गाथा मे ऐसा लिखता है– जिनकप्पिआवि दुविहा पाणिपाया पडिगाहधराय, पाउरण मपाउरणा एक्केकातेभवे दुविहा। (५००)

यानी—जिनकल्पी मुनि भी दो प्रकार के होते हैं। पाणिपात्र, पतद्‌गृहधर। इन दोनो में से प्रत्येक दो–दो प्रकार का है। एक अप्रावरण यानी कपड़ा रहित और सप्रावरण यानी कपड़ा सहित।

इस गाथा से भी यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि सबसे ऊँचे मुनि वस्त्र और पात्ररहित जिनकल्पी मुनि होते हैं जिनको दूसरे शब्दो में दिगम्बर साधु ही कह सकते हैं। श्वेताम्बर ग्रथ उत्तराध्ययन के २३ वें अध्याय की १३ वी गाथा की सस्कृत टीका में यह लिखा है–

"अचेलगोय जे धम्मो"

स टी अचेलकश्चविद्यमानचेलक ।

यानी– जो वस्त्र रहित दशा है वही उत्कृष्ट जिनकल्पी मुनि का धर्म है।

श्वेताम्बर समाज के परममाननीय आचार्य आत्मारामजी ने अपने तत्त्व निर्णय प्रासाद के ३३ वें स्तभ मे ५४३वें पृष्ठ में यो लिखा है कि–

"जिनकल्पी साधु दो प्रकार के होते हैं एक पाणिपात्र, ओढ़ने के वस्त्र रहित होता है। दूसरा पात्रधारी और वस्त्र सहित होता है।"

इन दोनो श्वेताम्बरीय ग्रथो मे ऊपर लिखे वाक्यो से भी यह बात अच्छी तरह सिद्ध होती है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय भी सबसे उत्कृष्ट साधु वस्त्र और पात्रो के त्यागी दिगम्बर मुनि को ही मानते हैं।

(दिगम्बर सम्प्रदाय के आगम ग्रथ तो **स्थविरकल्पी** (शिष्यो के साथ रहने वाले ग्रथ रचना उपदेश देना आदि कार्यों में प्रेम रखने वाले मुनि) तथा **जिनकल्पी** (अकेले विचरण करने वाले) दोनो प्रकार के मुनियो को वस्त्र पहनने का सर्वथा निषेध करते हैं। उन्होंने तो मुनियो के २८ मूलगुणो मे **'वस्त्रत्याग'** नामक एक मूलगुण बतलाया है। जिसके बिना आचरण किये मुनि दीक्षा धारण नही हो सकती।)

श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी सम्प्रदाय में भी दिगम्बर सम्प्रदाय के समान यद्यपि स्थविरकल्पी मुनि से जिनकल्पी मुनि ऊँचे दर्जे का बतलाया है किन्तु उनके आगम ग्रथो ने केवल सबसे ऊँची श्रेणी के जिनकल्पी मुनि ही कपडे रहित यानी नग्न दिगम्बर बतलाये हैं। उनसे नीचे दर्जे के साधुओ को वस्त्र का पहनना बतलाया है। इस तौरमे श्वेताबर और स्थान–कवासी सप्रदाय के पूर्वोक्त आगम ग्रथ भी वस्त्र रहित दिगम्बर मुनि की उत्तमता का हृदय से समर्थन करते हैं।

क्या वस्त्रधारक निर्ग्रंथ हो सकता है?

वस्त्र रहित दिगम्बर साधु वास्तव में निर्ग्रंथ (परिग्रहत्यागी) हो सकते हैं या वस्त्रधारी साधु भी निर्ग्रंथ हो सकते हैं? अब इस बात का यहाँ पर निर्णय करते हैं।

यद्यपि मनुष्य अपने अतरग (मनके) अच्छे-बुरे विचारो से धर्म और अधर्म करता हे परतु बाहर की सामग्री भी उस धर्म-अधर्म में बहुत भारी सहायता करती है क्योंकि बाहर की अच्छी-बुरी वस्तुओ को देखकर उनका ससर्ग पाकर मनुष्य का मन अच्छे-बुरे विचारो में फॅस जाता है। इसी कारण जो मनुष्य ससार के कामो में उदासीन हो जाते है वे गृहस्थ आश्रम को छोडकर साधु बन जाते हैं और किसी एकात स्थान में रहने लगते हैं।

साधु (मुनि) घर में रहना इसीलिए छोड देते हैं कि वहाँ पर उनके मन में मोह, मान, क्रोध, काम, लोभ आदि बुरे विचार उत्पन्न करने वाले पदार्थ हैं। पुत्र, स्त्री, नौकर-चाकर, धन, मकान, दुकान आदि हैं तो सब बाहर की चीजें, किन्तु उन्ही के सम्बन्ध से मनुष्य के मानसिक विचार मलिन होते रहते हें ।

इस कारण मुनि दीक्षा लेते समय अन्य पापों के समान परिग्रह पाप का भी त्याग किया करते हैं। परिग्रह का अर्थ-धन, वस्त्र, -मकान, पुत्र, स्त्री, आदि बाहरी पदार्थ और क्रोध, मान, लोभ, कपट आदि मैले मानसिक विचार हैं। इसलिए मुनि जिस प्रकार घर, परिवार इत्यादि बाहर की वस्तुओ को छोडते है उसी तरह उन सब चीजो के साथ उत्पन्न होने वाले प्रेम और द्वेष भाव को भी छोड देते हैं। क्योकि मन निर्मल करने के लिए राग, द्वेष, मोह आदि छोडना आवश्यक है और रागद्वेष छोडने के लिए धन, धान्य, घर, वस्त्र आदि बाहर के पदार्थ छोडना आवश्यक है। ऐसा किये बिना मुनि **परिग्रहत्याग** महाव्रत को नही पाल सकते।

मुनिदीक्षा लेकर यदि कपडो का त्याग न किया जाय तो **परिग्रह त्याग** महाव्रत नही पल सकता। क्योंकि कपडे रखने से मुनि के मन में दो तरह का मोह बना रहता है। एक तो शरीर का और दूसरा उन कपडो का।

मुनि शरीर को विनाशीक पुद्गलरूप जान कर उससे मोहभाव छोडते हैं इसी कारण अनेक तप करते हुए तथा २२ परीषह सहते हुए धर्मसाधन के लिए शरीर को कष्ट देते है। उसी शरीर को यदि कपड़ों से ढक कर सुख पहुँचाया जाय तो मुनि के भी गृहस्थ मनुष्यो के समान शरीर के साथ मोह अवश्य मानना पड़ेगा। क्योकि कपडो से शरीर को सर्दी, गर्मी की परिषह नही मिल पाती है और परिषह न सहने से शरीर में मोह उत्पन्न होता है।

दूसरे, मुनि जिन वस्त्रों को पहने-ओढे उन कपडो में भी उनको मोह (प्रेमभाव) हो जाता है क्योंकि उन कपडो में मोहभाव पैदा हुए बिना वे उन्हें ओढे ही किस तरह? तथा कम्बल चादर आदि ५-७ कपडे जिनको कि श्वेताम्बर, स्थानकवासी साधु अपने पास रखते हैं कम से कम १५०-२०० रुपये के तो होते ही हैं। इस कारण उन कपडो को रखने के कारण कम से कम १५०-२०० रुपये वाले धन के अधिकारी वे मुनि हुए और इससे वे निर्ग्रथ न होकर सग्रथ स्वयमेव हो जायेंगे।

श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी सप्रदाय के परममान्य ग्रथ आचाराग–सूत्र के १४ वें अध्याय के पहले उद्देश में २९० वें पृष्ठ पर मुनियों के ग्रहण करने योग्य वस्त्रों के विषय में यों लिखा है।

"से भिक्खू वा भिक्खूणी वा अभिक्खेज्जा वत्थ एसिज्जए। से ज्ज पुण वत्थ जाणेज्जा, तजहा, तजहा, जगिय वा, भगिय वा, साणयवा, पोत्तय वा, खोभियवा, तूलकडवा, तप्पगार वत्थ। ८९०२।"

गु टीका–मुनि अथवा आर्याए कपडा तापस पूर्वक लेवा। जेवा कि ऊनना, रेशमी शणना, घानना, कपासना, अर्कतूलना अने एवी तरेहना बीजी जातोना।

अर्थात्–मुनि या आर्यिका गृहस्थ के यहाँ से अपने लिए कपडा ऊनका, रेशम का, सनका, कोशेका, कपास (रुई) का, आकको रुईका अथवा किसी और प्रकार का लेवे।

यदि आचाराग सूत्रकी इस आज्ञा प्रमाण रेशमी कपडा ही अपने पहनने के लिए साधु ले तो उनके वस्त्र साधारण गृहस्थो से भी अधिक मूल्यवाले बढ़िया कपडे होगे। उन रेशमी वस्त्रों में भी उनको मोह (प्रेम) यदि न हो तो समझना चाहिये कि फिर ससार में कोई भी वस्तु परिग्रहरूप नही हो सकती। उन रेशमी वस्त्रों के बनने का कुछ भाग साधु को लेना होगा। इसके कहने की कोई आवश्यकता ही नही।

साधु अपने पहनने के लिए गृहस्थ से माँगते समय अपनी मानसिक इच्छा को किस प्रकार गृहस्थ के सामने प्रगट करे? यह बात आचाराग सूत्र के इसी १४ वे अध्याय के पहले उद्देश में २८४ तथा २९५ पृष्ठ पर यों लिखी है–

"तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उद्दिसियश्य वत्थ जाएज्जा, तजहा, जगिय वा, भगिय वा, साणय वा, पोत्तय वा, खेमिय वा, तूलकड वा, तप्पगार वत्व सय वा ण जाएज्जा परो वा ण देज्जा फासुय एसणीय लाभे सति पडिगाहेज्जा। पढमा पडिमा ।।८११।।

गु टी –त्यॉ पहली प्रतिज्ञा आ प्रमाणे छे मुनि अथवा आर्याए उनना, रेशमना, शणना, पानना, कपाशना के तुलना कपडामानु अमुक जातनुज कपडु लेवानी धारणा करवी, अने तेनु कपडु पोते मागता अथवा गृहस्थे आपवा माडता निर्दोष होय तो ग्रहण करवु । ए पहेली प्रतिज्ञा। ८११।

यानी–मुनि या आर्यिका ऊन रेशम, कोशा, कपास या आकको रुई (नकली रेशम) के बने हुए कपडो मे से किसी एक तरह का कपडा पहनने का विचार निश्चित कर ले। फिर वह कपडा या तो स्वय गृहस्थ से मॉग ले या गृहस्थ स्वय दे तो निर्दोष जानकर ले लेवे। यह वस्त्र लेने की पहली प्रतिज्ञा है।

दूसरी प्रतिज्ञा इस प्रकार है–

"**अहावरा दोच्चा पडिमा**– सेभिक्खूवाभिक्खुणी वा पेहाए वत्थ जाएज्जा, तजहा, गाहावती वाथ जाव, कम्मवरी वा, से पुव्वामेव आलोएच्चा "आउसोति" वा "भगिणीतिवा" "दाहिसि में एतो अण्णतर वत्थे?" तहप्पयार वत्थ सय वा ण जाएज्जा, परो वा से देज्जा, जाव फासुय एसणीय लाभे सते पडिगाहेज्जा दोच्चा पडिमा। ८१२।

गु टी –बीजी प्रतिज्ञा–मुनि अथवा आर्याए पोता ने खप लागुत वस्त्र गृहस्थना घरे जोईने ते मागवु । ते आ रीते के शरुआतमा गृहस्थना घरमा रहेता माणसो तरफ जाईन कहेवु के

आयुष्मन्! अथवा बेहेन । मने आ तमारा वस्त्रोमाथी एकाद वस्त्र आपशो? आवी रीते मागता अथवा गृहस्थे पोतानी मेले तेवु वस्त्र आपता निर्दोश जाणी ने ते वस्त्र ग्रहण करवु । एक बीजी प्रतिज्ञा ।।५१२।

भावार्थ– मुनि अथवा आर्यिका को अपने लिए जिस कपडे की आवश्यकता हो उस कपडे को गृहस्थ के घर देखकर घरवाले मनुष्यो से इस प्रकार मागे कि हे आयुष्मन् ! (बडी आयु वाले पुरुष) या हे बहिन् ! मुझको अपने इन कपडो में से दो एक कपडे दे दोगी ? इस तरह माँगने पर या वह गृहस्थ स्वय कपडा देने लगे तो उस कपडे को निर्दोष जानकर वह साधु या साध्वी ले लेवे। कपडा लेने वाली ,साधु की, यह दूसरी प्रतिज्ञा है।

तीसरी प्रतिज्ञा यो है–

–अहावरा तच्च पडिमा– से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से ज्ज पुण वत्थ जाणेज्जा, तजहा, अतारेज्जग वा उत्तरिज्जग वा तहप्पगार वत्थ सय वा ण जाएज्जा जाव पडिग्गाहेज्जा। तच्चा पडिमा ।८१३।"

गु टी– त्रीजी प्रतिज्ञा–मुनि अथवा आर्याए जे वस्त्र गृहस्थे अदर पहेरी ने वापरेलु या उपर पहरी ने वापरेलु होय तेवी वस्त्र पोते मागी लेवु , या गृहस्थे आपवा माडता निर्दोप जणाता ग्रहण करवु । ए त्रीजी प्रतिज्ञा ।९१३।

भावार्थ– मुनि या आर्यिका गृहस्थ के कपडो के भीतर पहनने वाले या और कपडो के ऊपर पहन कर काम में लाये हुए वस्त्र को स्वय उस गृहस्थ से माँग लेवे या वह गृहस्थ ही स्वय देवे तो उसको निर्दोष जान ले लेवे। यह तीसरी प्रतिज्ञा हे।

चौथी प्रतिज्ञा इस प्रकार से है–

"**अहावरा चउत्था पडिमा–** से भिक्खू वा भिक्खुणीवा उज्झियधम्मिय वत्थ जाएज्जा। ज चण्णे वहवे समण माहण अतिहि किवण वणीमगा णावकखति तहप्पगार उज्झियधम्मिय वत्थ वा ण जाएज्जा, परो वा से देज्जा फा जाव पडिगाहेज्जा। चउत्था पडिमा। ८१४।"

गु टी – चौथी प्रतिज्ञा–मुनि अथवा आर्याए फेकी देवालायक वस्त्रो मागवा एटले के जे वस्त्रो वीजा कोई पण श्रमण, ब्राह्मण, मुसाफर राक, के भिकारी चाहे नही तो पोती मागी लेवाया गृहस्थे पोतानी मेले आपता निर्दोष ह्णाता ग्रहण करवा। ए चोथी प्रतिज्ञा।८१४।

यानी– मुनि या आर्यिका गृहस्थ के ऐसे फेंक देने योग्य कपडे को गृहस्थ से माँगे जिसको कि कोई भी श्रमण, ब्राह्मण, देश–विदेश घूमने फिरने वाला मनुष्य, दीन–दरिद्र, भीख माँगने वाला भिखारी मनुष्य भी नही लेना चाहे। ऐसे कपडे को साधु, साध्वी या तो गृहस्थ से स्वय माँग ले या गृहस्थ उसको स्वय देने लगे तो निर्दोष जानकर लेले।

आचाराग सूत्र (जो कि श्वेताबर मुनि आचार का एक प्रधान माननीय ग्रथ हे) ने साधु साध्वी को इन चार प्रतिज्ञाओ से कपडा लेने का आदेश दिया हे। विचारने की वात हे कि इन चार प्रतिज्ञाओ से साधु साध्वी को परिग्रह तथा लोभ कषाय का और साथ ही दीनता का कितना भारी दूषण आता है। देखिये पहली प्रतिज्ञा मे रेशमी तथा आक की रुई के चमकीले नहु मूल्य वाले वस्त्र जिनको कि सिवाय धनवान मनुष्य के कोई पहन भी नही सकता है गृरस्थ से मॉग लेने की आज्ञा दी है। "किसी से कोई वस्तु अपने लिए मॉगना" आशा या लोभ क सिवाय बन नही सकता

और फिर वह माँगा जाने वाला पदार्थ सुदर (खूबसूरत) बहु मूल्य वाली वस्तु हो। इस कारण पहली प्रतिज्ञा से वस्त्र लेने वाले साधु के परिग्रह रखना, लोभ आशा दिखलाना तथा विलासिता का भाव अच्छी तरर सिद्ध होना है।

दूसरी प्रतिज्ञा से वस्त्र लेने वाले मुनि के भी तीव्र लोभ प्रगट होता है। साथ ही दूसरे का हृदय दुखाने या उसको दबाने का भी दूषण लगता है क्योंकि मुनि गृहस्थ से उसके कपडे देखकर उनमें से कोई कपडा अपने पहनने के लिए माँगे तो उस कपडे में मोह और हृदय में तीव्र लोभ होगा ही। उसके बिना ऐसा कार्य ही क्यो होवे ? तथा– वह गृहस्थ यदि साधारण हालत का हो तो अपने गुरु के याचना भरे वाक्यो से दबकर या सकोच करके कि इनको एक दो कपडे देने की क्यो मनाही (निषेध) करें ऐसा विचार कर दो एक कपडा दे भी दे तो उसका हृदय थोडा बहुत अवश्य दुखेगा, क्योंकि उस बेचारे के पहनने–ओढने के कपडे कम हो जायेंगे।

तीसरी प्रतिज्ञा से कपडा लेने वाले साधु के भी ऐसी ही बात है बल्कि यहाँ उसके लोभ कषाय की मात्रा और बढी–चढी प्रगट होती है। क्योंकि गृहस्थ द्वारा पहने हुए कपडे को साधु बिना तीव्र लोभ के क्यो माँगे ? और क्यो दीन मनुष्य के समान उसे पहने ?

चोथी प्रतिज्ञा से कपडे लेने वाले साधु की दीनता की तथा लोभ की चरम सीमा (आखिरी हद) समझनी चाहिये क्योकि वह अपने पहनने के लिए ऐसे बुरे कपडे को गृहस्थ से माँगता है जिनको कि घर–घर भीख माँगने वाला भिखारी भी नही माँगे। यदि उसे वे गदे कपडे कोई दे भी तो वह भिखारी उन्हें नही ले।

केवल एक लँगोट (चोल पट्ट) पहनने के लिए रखना ही परिग्रह त्यागी साधु के लिए कितनी बडी आफत (जजाल) की वस्तु है, वह निम्न लिखित कथा से मालूम हो जाता है–

एक साधु किसी नगर के बाहर एक झोपडी में रहते थे। उनके पास केवल दो लँगोट (चोलपट्टी) थे। एक पहने रहते थे एक को धोकर सुखा देते थे। एक दिन चूहे ने उनके दूसरे लँगोट को काट डाला। यह देखकर साधु जी को बहुत दु ख हुआ।

दूसरे दिन जब उनके समीप उनके शिष्य (चेले) आये तो साधु जी ने सारी कथा उन्हें कह सुनाई। लोगो ने साधु जी को एक नया लँगोट बनाकर दे दिया साथ ही झोपडी मे एक बिल्ली भी लाकर रख दी जिससे चूहा फिर न लँगोट कतर जावे।

साधु जी के पास खाने का यथेष्ट (काफी) सामान न होने के कारण वह बिल्ली भूख से व्याकुल रहने लगी। तब साधुजी के शिष्यो ने बिल्ली को दूध पिलाने के लिए गाय रख दी और गाय को खाने के लिए तीन बीघा खेत भी दे दिया, जिसकी घास चरकर गाय रहने लगी। किन्तु खेत का राजकर (मालगुजारी) चुकाने का साधु जी से कुछ प्रबन्ध न हो सका। इस कारण खेत की मालगुजारी लेने वाले राजकर्मचारी (सिपाही) साधुजी को पकडकर राजा के पास ले गये।

राजा ने साधु से पूछा कि महात्माजी ! साधु बनकर तुमने अपने पीछे यह क्या झगडा लगाया जिससे कि आज आप को यहाँ मेरी कचहरी (न्यायालय) में आना पडा। साधु ने अपनी सारी पुरानी कथा राजा के सामने कह सुनाई और अत मे अपना एक मात्र कपडा लँगोटी को उतार कर फाडते हुए कहा कि हे राजन्! **"यदि मेरे पास यह लँगोटी न होती तो मै इतने झगडे मे न फँसता"।**

यह यद्यपि है तो एक कथा, किन्तु इस कथा से भी अपने पास वस्त्र रखने से जो अनेक सकट आ उपस्थित होते हैं उन पर अच्छा प्रकाश पडता है।

आचाराग सूत्र के छठे अध्याय के तीसरे उद्देश्य का ३६० वा सूत्र यह बात खुले रूप से कहता है कि साधु को वस्त्र रखने से बडे कष्ट और चिन्ता होती हैं तथा वस्त्र छोड देने से शान्ति, निराकुलता, सतोष होता है। अब हम यहाँ इस विषय में प्रवचन सारोद्धार आदि श्वेताम्बरीय मान्य ग्रथों का विस्तार से प्रमाण न देते हुए यह लिखते है कि साधु को-

वस्त्र पहनने से क्या क्या दुख-असंयम होता है?

१- कपडे पहनने पर अपने (साधु के) शरीर के पसीने तथा मैल से कपडो मे जूँ आदि पैदा हो जाते हैं। कपडो से बाहर निकाल फेकने में या कपडो को धोने मे अथवा कपडा अलग रखने में उन जीवो का घात होगा।

२- सफेद कपडा- ७-८ दिन में मैला हो जाता है उस मैले कपडे को स्वय धोने में या अन्य मनुष्य द्वारा धुलाने में साधु को गृहस्थ के समान आरम्भ का दोष लगता है।

३- कपडो में मक्खी मच्छर, जू , चीटी, कुथु, खटमल आदि छोटे- छोटे जीव-जतु आकर रह जाते हैं , उनका शोधन प्रत्येक समय कपडा उतार-उतार कर देखने से बनता है जो कि हो नही सकता। इस कारण बैठते, सोते, वस्त्र बाँधते, सुखाते आदि समय साधु से उन जीवों का घात हो सकता है।

४- कपडे पर यदि अपना या दूसरे जीव का रक्त (लोहू) विष्टा, मूत्र आदि लग जाय तो उसको साधु अवश्य धोकर आरम्भ करेगा अन्यथा देखने वालो को ग्लनि होगी।

५- यदि वस्त्र फट जाय तो मुनि के मन में खेद उपजे। ओर या ता उस वस्त्र को उसी समय सी लेवे अन्यथा आने-जाने में लज्जा उत्पन्न होगी।

६-यदि साधु का कपडा कोई चोर चुरा ले जावे तो साधु को दु ख, क्रोध होगा तथा नगे आने-जाने में भी असमर्थ होने से उसको रुकावट होगी।

७- एकान्त स्थान-वन, गुफा, पर्वत, कदरा, मैदान, सूने मकान आदि स्थानो मे रहते समय

साधु के मन में भय रहेगा कि कही कोई चोर, डाकू, भील मेरे कपडे न लूट ले जावे। इस भय स अपने आप को या अपने कपडों को छिपा रखने का प्रयत्न (कोशिश) साधु को करना होगा।

८- ध्यान करते समय कपडा वायु (हवा) से हले चले, उडे तब साधु का मन ध्यान से चिग (चलायमान हो) सकता है।

९ वर्षा ऋतु में कपडे भी ग जाने पर मन में साधु को खेद पैदा हागा और उन कपडो के निचोडने-सुखाने से पानी के रहने वाले त्रस जीवो की तथा स्थावर जीवो की हिसा अवश्य होगा जिससे कि सयम का नाश होगा।

१०- शीत ऋतु में गर्म मो कपडें की तथा गर्मी की ऋतु मे पतले ठडे कपडे की इच्छा होती है। यदि वैसा कपडा मिल गया तब तो ठीक अन्यथा मुनि के मन में खेद हागा।

११ वस्त्र पहनते रहने से शरीर सुखिया हो जाता है आर शीत उष्ण, दश मशक आदि परीषह सहने का अवसर साधु को नही मिल पाता।

१२- कपडे पहनते हुए साधु के अटल ब्रह्मचर्य तथा वीतराग भाव की परीक्षा या निर्णय भी नही हो सकता क्योकि स्पर्शन इद्रिय का विकार मूत्रेन्द्रिय पर प्रगट होता है जो कि वस्त्रधारी साधु के कपडों मे छिपी रहती है।

१३- कपडो मॉगने से साधु के मन में दीनता तथा सकोच प्रगट होता है और जिस गृहस्थ से वस्त्र मागा जावे उस गृहस्थ पर दबाव पडता है।

१४- अपने मन के अनुसार कपडे मिल जाने पर साधु के मन में हर्ष होता है और मन के अनुसार कपडे ने मिलने पर साधु के हृदय में दुख होता है।

१५- जो कपडे मिल गये उनके पहनने, रखने, उठाने, धोने, सुखाने, फाडने, सीने, जोडने, फेकने, रक्षा करने, शोधने, निचोडने आदि कार्यो मे मुनि को चिन्ता, असयम, भय, आरम्भ आदि करने पडते हैं।

इस प्रकार साधु के कपडा रखने पर परिग्रहत्याग महाव्रत तथा सयम धर्म और अहिसा महाव्रत एव लोभ कषाय पर विजय नही मिल पाती है अत वास्तव मे महाव्रतधारी मुनि वस्त्र त्यागी ही हो सकता है।

* * *

अचेल-परीषह

महाव्रतधारी साधु को कर्म निर्जरा के लिए जो कष्ट सहने पड़ते है उनको परीषह कहते हैं। वे परीषह २२ बाईस बतलाई है। साधुओ के लिए बाईस परीषह सहन करना जिस प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय में बतलाया है उसी प्रकार श्वेताम्बर मे भी बतलाया गया है।

उन बाईस परीषह में अचेल या नाग्न्य (नग्नता) बतलाई गई है जिसका अर्थ है नग्न यानी वस्त्र रहित रहने से साधु को लज्जा आदि जो कुछ भी कष्ट आवे उसको वह शान्ति पूर्वक धैर्य से सहन करे।

इस नाग्न्य अपरनाम अचेल परीषह का उल्लेख निम्नलिखित श्वेताम्बरीय ग्रथो में विद्यमान है। देखिये प्रथम तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के नौवे अध्याय के ९ वे सूत्र को-

क्षुत्पिपासाशीतोष्णदशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचना लाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानादर्शनानि।

(क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण दश,मशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध,याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन ये २२ परीषह हैं।)

उनमें नाग्न्य यानी नग्न रहने की परीषह का नाम स्पष्ट आया है।

वीर स २४५१ में आगरा से प्रकाशित "नवतत्त्व" नाम श्वेताबरीय ग्रथ की २१ वी २२ वीं गाथा इस प्रकार है-

खुवुहा पिवासा सीउण्हं दसाचेलाऽरइत्थिओ।
चरिआ निसिहियां सिज्जा, अक्कोस वह जायणा।२१।
अलाभ रोग तणफासा, मलसक्कार परीसहा।
पन्ना अन्नाण सम्मत्त, इअ वावीस परीसहा।।२२।।

अर्थात्– क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दश, अचेल, अरति, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और सम्यक्त्व ये २२ परीषहें हैं।

यहाँ पर भी अचेल यानी वस्त्र छोडकर नगे रहने की परीषह का स्पष्ट उल्लेख है।

प्रकरण रत्नाकर तृतीय भाग अपरनाम प्रवचनसारोद्धार के २६५ वें पृष्ठ पर लिखा है–

खुवुहापिवासा सीउण्ह, दसाचेला रइच्छिओ।
चरिया निसीहिआ सेज्जा, अक्कोस वह जायणा।६९२।

अर्थात्– क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दश, अचेल, अरति, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना इनके अतिरिक्त शेष ९ परीषह भी इस ग्रथ के, गुजराती टीकाकार ने बिना मूल गाथा लिखे, टीका में लिखदी हैं।

श्वेताम्वरीय ग्रथों के उपर्युक्त उल्लेख इस बात को सिद्ध करते हैं कि महाव्रतधारी साधु वस्त्र रहित नग्न ही होते हैं। उनके पास नाममात्र भी वस्त्र नही होता है। क्योकि यदि उनके पास कोई वस्त्र हो तो फिर उनके अचेल परीपह नही बन सकती। नाग्न्य परीषह के विजेता उनको नही कहा जा सकता।

इस कारण श्वेताम्बर आम्नाय का यह पक्ष स्वयमेव धराशायी हो जाता है कि "महाव्रती साधु चादर, लगोट, बिस्तर, कबल आदि वस्त्रो के धारक भी होते हैं।"

कतिपय श्वेताम्बरीय ग्रथकार अचेल का अर्थ ईषत चेल यानी थोड़े कपडे तथा कुत्सित चेल अर्थात् बुरे कपडे ऐसा करते हैं। सो उनका यह कहना भी बहुत निर्बल है क्योकि प्रथम तो अचेल परिषह का दूसरा नाम तत्त्वार्थानिगम सूत्र में "नाग्न्य" यानी नग्नता आया है उसका स्पष्ट अर्थ सर्वथा वस्त्र रहित नग्न रहना होता हे। उस नाग्न्य शब्द से "थोडे या बुरे कपडे" ऐसा अर्थ नहीं निकल सकता।

दूसरे– थोडे या बुरे कपडो का कोई निश्चित अर्थ भी नही बैठता क्योकि शीत और गर्मी की बाधा मिटाने योग्य समस्त कपडे रहने पर भी साधुओ को थोडे वस्त्र धारक कहकर अचेल समझ लें तो समझ में नही आता कि सचेल का अर्थ क्या होगा।

इस कारण सचेल का अर्थ जैसे "वस्त्र धारी" हे उसी प्रकार "अचेल" का अर्थ वस्त्र रहित नग्न है।

अत सिद्ध हुआ कि श्वेताम्बरीय ग्रथकार भी साधु का वास्तविक स्वरूप नग्न ही मानते थे अन्यथा वे इस परीषह को न लिखते।

नग्न मुनिकी वीतरागता

कुछ भोले-भाले भाई एक यह आक्षेप प्रगट करते है- भोले ही नही किन्तु 'तत्व निर्णय प्रासाद' आदि ग्रथो के बनाने वाले बडे भारी आचार्य स्वर्गीय श्री आत्मारामजी भी इस आक्षेप को लिखते नही चूके हैं कि "मुनि यदि कपडा न पहने तो उनका दर्शन करने वालो स्त्रियों के भाव उनका नग्न शरीर देख बिगड जावेंगे।"

इस आक्षेप का उत्तर आचार्य आत्माराम जी या अन्य कोई श्वेताम्बरीय तथा स्थानकवासी आचार्य अपने मान्य आचार ग्रथो (आचाराग सूत्र, कल्पसूत्र, प्रवचन सारोद्धार आदि) से ले सकते हैं। (उनके ग्रथो मे खुले शब्दों में सबसे बडा साधु वस्त्र रहित यानी नग्न जिन कल्पी साधु बतलाया है। क्या स्त्रियाँ उनका दर्शन नही करती हैं ? क्या उनके दर्शन से भी स्त्रियो का मन काम विकार में फँस जाता है?)

दूसरे-श्वेताम्बरीय तथा स्थानक वासी ग्रथों में लिखा है कि श्री महावीर तीर्थकर १३ मास पीछे तथा भगवान् ऋषभदेव भी कुछ समय पीछे देवदूष्य वस्त्र छोडकर अत तक वस्त्र रहित नग्न रहे थे। तो क्या उस नग्न दशा में किसी स्त्री साध्वी आदि ने उनका दर्शन नही किया होगा ? और दर्शन करने पर क्या उनके भी काम विकार हो गया होगा ? चदन बाला ने नग्न भगवान् महावीर को आहार किस प्रकार कराया होगा ?

इन प्रश्नो का समाधान ही उनके आक्षेप का समाधान है। क्योंकि उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु का ही दूसरा नाम दिगम्बर मुनि है।

तथा- जिस पुरुष के मन में काम विकार होता है उसी का नग्न शरीर देखकर स्त्री के मन में विकार भाव उत्पन्न हो सकता है। परन्तु जिस महात्मा के हृदय पर अखड-अटल ब्रह्मचर्य जमा हुआ है, उसके नग्न शरीर को देखकर विकार के बदले दर्शन करने वाले के हृदय में वीतराग भाव उत्पन्न होता है। जैसे कि भगवान् महावीर स्वामी के नग्न शरीर को देखकर चदन बाला के हृदय में वीतरागभाव जागृत हुआ था।

यह बात हम इन लौकिक दृष्टान्तो से समझ सकते हैं कि माता या अन्य स्त्रियाँ ५-१० वर्ष के नग्न (नगे) बालक को देखकर लज्जित नही होती हैं और न उसके नगे शरीर को देखकर उनके मन में काम विकार पैदा होता है क्योकि वह बालक निर्विकार है -कामसेवन को बिल्कुल जानता नही है।

तथा एक ही पुरुष को उसकी माता, बहिन, तथा पुत्री आलिंगन करती है किंतु उस पुरुष का शरीर भुजाओ में लेने पर भी (आलिंगन कर लेने पर भी) उनके मन में काम विकार उत्पन्न न होकर स्नेह प्रेम तथा भक्ति पैदा होती है। ऐसा क्यो ? ऐसा केवल इसलिए कि उन माता, बहिन और पुत्री के लिए उस पुरुष का मन निर्विकार है, कामवासना से रहित है।

उसी पुरुष का आलिगन जब उसकी स्त्री करती है तब उन दोनों के हृदय में कामवासना पैदा हो जाती है क्योंकि उस समय दोनो के मन में काम विकार मौजूद है।

इसी प्रकार जिस पुरुष के मन में काम विकार मौजूद है, उसको नगा देखकर दूसरे स्त्री पुरुषों का मन अवश्य काम विकार में फँस जाता है क्योंकि उसके काम विकार की साक्षी उसकी लिंगेद्रिय देती है। परन्तु जिस महात्मा के मन में काम विकार का नाम निशान भी नही है, अखड

ब्रह्मचर्य कूट-कूट कर भरा हुआ है उसके नगे शरीरमे काम विकार भी नही दीख पडता है। अनएव उसके दर्शन करने वाले स्त्री -पुरुषो के हृदय में कामवासना नही आ सकती।

जो साधु मन में काम वासना रखकर ऊपर से ब्रह्मचर्य का ढोग लोगो को दिखलावे तो कपडो से ढके हुए उसके काम विकार को भी लोग समझ नही सकते, ऐसा साधु अनेक बार लोगो को ठग सकता है। किन्तु जो साधु अखण्ड ब्रह्मचर्य से अपने आत्मा को रग चुका है वह यदि नगे वेष में हो तो लोगों को उसके ब्रह्मचर्य व्रत की परीक्षा हो सकती है। क्याकि मन में काम वासना जग जाने पर लिंग इन्द्रिय पर विकार अवश्य आ जाता है।

यदि किसी श्वेताम्बर या स्थानकवासी भाई को इस विषय में कुछ सदेह हो तो "हाथ कगन को आरसी से क्या काम ?" इस कहावत के अनुसार दक्षिण महाराष्ट्र तथा कर्णाटक प्रान्त में विहार करने वाले मुनिसघ के श्री १०८ आचार्य शान्तिसागर जी, मुनिवर्य वीरसागरजी आँदि को तथा ग्वालियर राज्य व सयुक्त प्रान्त के बनारस, लखनऊ और बिहार प्रान्त के गया, आरा, गिरीडीह, हजारीबाग, कोडरमा आदि नगरो में विहार करने वाले मुनिराज श्री शान्तिसागर जी (छाणी), सूर्यसागर जी, मुनीन्द्रसागरजी आदि दिगम्बर मुनियो का दर्शन कर सकते है जिनके पास कि जरा सा भी वस्त्र नही है। और जिनका स्थान-स्थान पर जैन, अजेन स्त्री पुरुषो के झु ड नमस्कार, दर्शन, पूजन करते हैं। इन पूज्य मुनीश्वरो के निर्विकार, अखड ब्रह्मचर्य मडित नगे शरीर को देखकर किसी स्त्री या पुरुष के हृदय में लज्जा या काम वासना उत्पन्न ही नही होती।

श्वेताम्बर आचार्य आत्माराम जी के समय में भी दक्षिण कर्णाटक देश मे श्री १०८ अनन्त कीर्तिजी दिगम्बर मुनि विद्यमान थे। वे उनका दर्शन करके अपना भ्रम दूर कर सकते थे।

साराश-पूर्वोक्त बातो पर दृष्टि डालते हुए निष्पक्ष विद्वान् स्वीकार करेंगे कि साधु का परिग्रह रहित, निर्ग्रंथ रूप दिगम्बर (नग्न-वस्त्र-रहित) वेश ही है। और उमी नग्न दिगम्बर वेश से साधु के पवित्र मन तथा अखड ब्रह्मचर्य की परीक्षा हो मकती है, जिसको कि श्वेताम्बरीय ग्रथ आचाराग सूत्र, प्रवचन सारोद्धार आदि भी स्वीकार करते हैं।

— * —

क्या साधु अपने पास लाठी रक्खे ?

अब हम लाठी प्रकरण पर उतरते है। कारण के अनुसार कार्य होता है, यह सब कोई समझता है। गृहस्थाश्रम में पुत्र, स्त्री, धन, मकान, दुकान, आदि कारणो से पुरुष को मोह उत्पन्न होता है। इस कारण ससार से विरागी पुरुष इन मोह के कारणो को छोडकर मुनिदीक्षा लेकर एकात स्थान, वन, पर्वत, गुफा, मठ आदि मे रहता है क्योकि वहाँ पर उसके मन मे मोह पैदा करने वाले बाहरी पदार्थ नही हैं।

घर बार परिग्रह को छोडकर अहिसा महाव्रत के पालने वाले मुनिराज अपने पास लाठी रक्खें, या न रक्खें, इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि दिगम्बर, श्वेताबर तथा स्थानकवासी ऐसे तीन तरह के जैन साधुओ मे मे केवल श्वेताबर जैन साधु ही अपने पास लाठी (डडा) रखते हैं। जैसा कि श्वेताबरीय ग्रथ प्रवचन मारोद्धार के २६२वें पृष्ठ की ६७७ वी गाथा में लिखा है-

लट्ठी आयपमाणा विलट्ठि चतुरगुलेण परिहीणे।

दडो बाहुपमाणो विदडओ कक्खमेताओ।।६७७।।

ल ट्ठीए चउरगुल समुसी या दडपचगे नाली।

यानी साधु ५ तरह का डडा रक्खे। १–लाठी –जो कि अपने शरीर के बराबर ३।। साढे तीन हाथ लबी हो। २– विलट्ठी– जो कि अपने शरीर से चार अगुल छोटी हो। ३– दड – जो कि अपनी भुजा (बाह) के बराबर हो।४– विदड जो कि अपने काँख (कधो) के बराबर ऊँचा हो। ५– नाली – जो लाठी से भी चार अगुल ऊँची हो। यह नाली नदी पार करते समय पानी नापने के लिए साधु के काम आती हे।

लाठी रखने में साधु को श्वेताम्बरीय ग्रथों और उनके रचयिता आचार्यों ने अनेक लाभ बतलाये हैं जैसे कि –लाठी के सहारे साधु कीचड में फिसलने से बच जाता है। लाठी के सहारे चलने से उपवास करने वाले साधु को खेद नही होता, लाठी देखकर कुत्ता, बिल्ली, चोर, डाकू डर कर पास नही आने पाते, लाठी के सहारे खड्डे आदि में गिरने से साधु बच जाता है, लाठी से सामने आये हुए साँप अजगर को साधु हटा सकते हैं। लाठी से पानी नापकर मुनि नदी पार कर सकते हैं इत्यादि।

कार्तिक सु ११ वीर स २४५३ को कोटा से प्रकाशित "आगमानुसार मुहपत्ति का निर्णय और जाहिर घोषणा" नामक पुस्तक के ८३–८४–८५ वें पृष्ठ पर ऐसे ही १५ तरह के गुण लाठी रखने से मुनि को बतलाये हैं। इस पुस्तक को श्वे मुनि मणिसागर जी ने लिखा है। १५ वा गुण लाठी (दडा) रखने का साधु को यह बतलाया है–

"दर्शन ज्ञान चारित्र की आराधना करने से मोक्ष प्राप्ति का कारण शरीर है और शरीर की रक्षा करने वाला दडा है। इसलिए कारण कार्य भाव से दर्शना ज्ञान चारित्र तथा मोक्ष का हेतु भी दडा है।"

श्वेताबर ग्रथो के उपर्युक्त वाक्यो से यह सिद्ध होता है कि लाठी के कारण साधु के शरीर को आराम मिलता है। इसी कारण सर्व सिद्धि का कारण लाठी बतला दी है। अब यहाँ विचार करना है कि वास्तव में लाठी (लकडी) साधु के चारित्र (सयम) की उपकारिणी है या अपकारिणी है ?

साधु (मुनि) अहिसा महाव्रत के धारक होते हैं। उनको अपनी चर्या ऐसी बनानी चाहिये जिसके कारण उनका अहिसा महाव्रत मलिन न होने पावे। किन्तु साधु यदि अपने पास लाठी रक्खे तो उसके अहिसामहाव्रत में मलिनता अवश्य आवेगी। क्योकि लाठी एक हथियार है जिससे कि दूसरे जीवों को मार दी जाती है। ऐसा घातक हथियार अपने पास रखने से साधुओ के मन में बिना किसी निमित्त भी हिसा करने के भाव उत्पन्न हो सकते हैं।

गृहस्थ लोग तो विरोधी हिसा के त्यागी नही होते हैं। इस कारण वे अपने शत्रु से, चोर–डाकू या हिंसक पशु से अपने आप को बचाने के लिए उसके साथ लडने के निमित्त लाठी, तलवार, बदूक आदि हथियार अपने पास रखते है और उनमे मोके पर काम भी लेते हैं। परन्तु साधु तो विरोधी हिंसा के त्यागी होते हे। वे तो अपने ऊपर आक्रमण (हमला) करने वाले दुष्ट मनुष्य, चोर, डाकू या हिसक पशु के साथ लडने को नही तैयार होते हैं। फिर वे ऐसे घातक हथियार लाठी को अपने पास क्यो रक्खे ?

दूसरे– साधु परम दयालु होते हैं। उनके बराबर दया किसी और मनुष्य के हृदय में होती नहीं है। इसीलिए वे मन वचन काय से दूसरे जीवो को अभय (निडरता) देते हैं। इस बात को श्वेताम्बर ग्रथ भी स्वीकार करते हैं। परन्तु लाठी रखने पर साधु के यह बात बनती नही है। क्योंकि लाठी को देखकर मनुष्य नही तो बेचारे पशु तो अवश्य भयभीत हो जाते हैं क्योकि लाठी पशुओ के मारने का एक सुलभ हथियार है। इस कारण लाठीधारी साधु यदि वचन से नही तो लाठी के कारण मन और काय से अवश्य दूसरे जीवो के हृदय में भय (डर) उपजाते हैं। इस कारण उनके सयम धर्म तथा अहिंसा महाव्रत में कमी आती है।

तीसरे– लाठी रखने से साधु के मन में भी दूसरे जीवो को, और नही तो कम से कम अपने ऊपर आक्रमण करने वाले जीवको तो अवश्य ही मारने–पीटने के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे तलवार, छुरी, बदूक हाथ में लेकर मनुष्य के दूसरे जीव का वध या उसको घायल करने के विचार हो जाते हैं। तलवार बदूक, आदि लोहे के हथियार हैं और लाठी लकडी का बना हुआ हथियार है। अतर केवल इतना ही है।

चौथे– लाठी वही मनुष्य रखता है जिसको परम अहिसा धर्म से बढकर अपना शरीर, प्राण प्यारे (प्रिय) होते हैं और इसी कारण वह अपने शरीर की रक्षा के लिए, किसी भय से बचने के लिए अपने पास लाठी रखता है। किंतु सब तरह की हिंसा के तथा अतरग–बहिरग परिग्रह के सर्वथा त्यागी मुनि के हृदय में न तो अपने शरीर से राग होता है जिससे कि उनके हृदय में किसी से डर लगता रहे और उस डर के मिटाने के लिए वे अपने पास लाठी रक्खें, तथा न वे लाठी से दूसरे जीव को भय दिखलाकर अपने शरीर को ही बचाना चाहते हैं। क्योकि ऐसा मोटा प्रमाद गृहस्थ के ही होता है।

पाँचवें– यदि साधु लाठी के सहारे ही अपनी रक्षा करने लगे तो उनमें और अन्य गृहस्थों में या अन्य अजैन साधुओ में क्या अतर रहा ?

छठे– शरीर की रक्षा के साधन लाठी के समान जूता, टोपी, छाता, आदि और भी अनेक वस्तुए हैं क्या उनमें से भी कुछ चीजे लाठी के समान साधुओ को रखना चाहिये ?

सातवें– लाठी से मोह हो जाने के कारण साधु को लाठी अपने पास रखने से परिग्रह का भी दोष लगता है। शरीर की रक्षा का कारण मानकर लाठी प्रत्येक समय अपने पास रखना, बिना मोह के बनता नही है।

आठवे– लाठी यदि सयम साधन का ही कारण हो तो श्वेताम्बरो के सर्वोत्कृष्ट जिनकल्पी साधु (जिनके पास कि रचमात्र भी कोई वस्तु नही होती, नग्न दिगम्बर होते हैं) लाठी अपने पास क्यों नहीं रखते ?

नवम– लाठी बिना यदि साधुचर्या में कुछ हानि पहुँचती तो श्री महावीर आदि तीर्थंकर भी लाठी अवश्य रखते किन्तु उन्होंने लाठी अपने साथ नही रक्खी , सो क्यो ?

इस कारण साराश यह है कि लाठी या डडा साधु के सयम में हानि पहुँचाता है। सयम पालन में लाठी से कुछ सहायता नही मिलती है। हाँ। लाठी के कारण शरीर को अलबत्ता सुख मिलता है। सो यदि शरीर को ही सुख देने का अभिप्राय हो तो गृहस्थाश्रम छोड साधु बनना व्यर्थ है। मुनि दीक्षा लेकर तो कायोत्सर्ग, कायक्लेश व्युत्सर्ग करना पडता है, २२ परीषह निश्चल रूप से बिना खेद सहनी पडती हैं। अनशन, ऊनोदर आदि तप करके शरीर कृश करना पडता है। इस

कारण डडा लेकर शरीर की रक्षा करना मुनिचारित्र के विरुद्ध है। यदि डडा रखने मात्र से परम्परा लगाकर मुक्ति मिल जावे तो समझना चाहिये कि मुक्ति मिलना कुछ कठिन नही। जिस साधु ने डडा लिया कि दर्शन ज्ञान चारित्र उस को प्राप्त हुए और मोक्ष अपने आप मिल गई।

भोले भाले भाइयो ! लाठी डडा गृहस्थो के हथियार हैं। अहिसा महाव्रतधारी निर्भय मुनि साधु के लिए उस लाठी डडा मे क्रोध कषाय की तीव्रता जग जाती है और कभी –कभी वे, गृहस्थ स्त्री–पुरुषो के ऊपर भी कही –कही लाठी का हाथ झाड देते हैं। इस कारण लाठी रखना मुनि धर्म का घातक है, साधक नही है।

* * * * *

लाठी एक शस्त्र है साधु जिसके द्वारा हिंसा कर सकते हैं

हिसा चार प्रकार की होनी है–सकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। इन चार प्रकार की हिसाओ में से साधारण व्रती जेन गृहस्थ के सकल्पी हिसा का त्याग होता है। शेष तीन प्रकार की हिंसाओ का नही होता। क्योकि भोजनादि बनाने में उसको आरम्भी हिसा और व्यापार करने में उद्योगी हिंसा करनी पडती है एव शत्रु मे आत्म रक्षा, धर्म रक्षा, सघ रक्षा आदि करने मे विरोधी हिसा भी उससे हुआ ही करती है।

आत्मरक्षा के लिए ही गृहस्थ अपने पास तलवार, बन्दूक आदि हथियारों के साथ साथ लाठी भी रखते हैं क्योकि लाठी भी आत्मरक्षण के लिए तथा आक्रमण करने वाले शत्रु के प्रहार का उत्तर देने के लिए उपयुक्त साधन हे। किन्तु जै साधु पॉच महाव्रतो के धारक होते है। उनके लिए चारों प्रकार की हिसा का परित्याग होना अनिवार्य है। वे अपने अहिसा महाव्रत के अनुसार अपने ऊपर आक्रमण करने वाले शत्रु का भी सामना नही कर सकते। शत्रु के प्रहार करने पर जैन साधु को शान्ति और क्षमा धारण करने का विधान है। अतएव कोई आवश्यकता नही कि साधु हिसा के साधन रूप लाठी को अपने पास रक्खे।

इसके विरुद्ध श्वेताम्बर साधु लाठी अपने पास सदा रखते हैं। यह उनके अहिसा महाव्रत का दूषण है क्योकि अवसर मिलने पर वे उस लाठी से हिसा कर सकते है। जैसा कि उनके ग्रथों में उल्लिखित कथा से भी पुष्ट होता है। देखिये श्वेताम्बरी **"निशीथचूर्णिका"** में लिखा है कि **"एक साधु ने अपने गुरु की आज्ञा पाकर अपनी लाठी से तीन सिंहो को मार डाला"** यह कथा किस प्रकार लिखी हुई है वह हम को मालूम नही क्योकि निशीथचूर्णिका ग्रथ हमारे देखने में नही आया। किन्तु श्वेताम्बरीय महाव्रती साधु ने गुरु की आज्ञा से लाठी द्वारा तीन सिहो को मार डाला यह बात असत्य नही ऐसा हम को पूर्ण विश्वास है। क्योंकि आधुनिक प्रसिद्ध श्वेताम्बरी आचार्य आत्मानद जी ने (जिनको कि श्वेताम्बरी भाई **"कलिकाल सर्वज्ञ"** लिखते हैं) स्वरचित **"सम्यक्त्वशल्योद्धार"** नामक पुस्तक के १९० तथा १९१वे पृष्ठ पर स्पष्ट लिखा है कि –

"जेठेने (जेठमल नामक) एक ढूँढिया विद्वान ने समकितसार नामक एक पुस्तक के प्रतिवादस्वरूप आत्माराम जी ने यह सम्यक्त्व शल्योद्धार नामक पुस्तक लिखी है) श्री निशीथचूर्णिका में तीन सिह के मारने का अधिकार लिखा है परन्तु उस मुनिने सिंह को मारने के भाव से लाठी नही मारी थी उसने तो सिह के हटाने वास्ते यष्टि प्रहार किया था इस तरह करते

हुए यदि सिंह मर गये तो उसमें मुनि क्या करे ? और गुरु महाराज ने भी सिंह को जानसे मारने के लिए नहीं कहा था । उन्होंने कहा था कि जो सहज में न हटे तो लाठी से हटा देना।"

आत्मानद जी के, इस लेख से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि निशीथ चूर्णिका में श्वेताम्बर जैन साधु द्वारा लाठी से दो नही किन्तु तीन सिंहों को जान से मारे जाने की कथा अवश्य लिखी है। उस महाहिंसा के दोष को छिपाने के प्रयत्न का आत्मानन्द जी ने अयुक्ति पूर्ण समाधान किया है।

प्रत्येक मनुष्य समझ सकता है कि हाथी सरीखे महाबली दीर्घकाय पशु को भी विदारण कर देने वाले वनराजा सिह का लाठी द्वारा हटाये जाने मात्र से मरना असभव है जब तक कि उसके ऊपर पूर्ण बल से लाठी का प्रहार न हुआ हो। लाठी द्वारा हटाने मात्र से कुत्ता-बिल्ली आदि साधारण पशु भी नही मर सकते, सिंह की बात तो अलग रही।

दूसरे- साधु की लाठी से तीन सिह क्रमश मरे होंगे, एक साथ तो मरे ही न होंगे। जब ऐसा था तो एक सिह के मर जाने पर ही कम से कम साधु को महान् पचेन्द्रिय पशु की हिंसा अपने हाथ से हुई जानकर शेष दो सिंहो का पीछा छोड देना था। उसने ऐसा नही किया इससे क्या समझना चाहिये ? इस बात का विचारशील पाठक स्वय विचार करें।

तीसरे- महाव्रती साधुओ को किसी जीव पर लाठी प्रहार करने का आदेश भी कहाँ है ? साधु को तो अपने ऊपर आक्रमण करने वाले के समक्ष भी शान्तिभाव प्रगट करने का आदेश है। लाठी से किसी जीव-जतु को पीडित करना अथवा उस पर प्राणान्त करने वाला असह्य प्रहार कर वैठना साधुचर्या के सरासर विपरीत है।

इस कारण या तो श्वेताम्बरीय शास्त्रो को निर्दोष ठहराने के लिए उस [illegible] को दोषी [illegible]। आवश्यक है अथवा उस साधु को निर्दोष निरूपित करते हुए श्वेताम्बरीय शास्त्रा [illegible] रख देना चाहिये कि वे साधु के ऐसे कार्य को भी अनुचित नही समझते।

किन्तु कुछ भी हो यह बात तो प्रत्येक दशा में स्वीकार करनी पड़ेगी कि लाठी महाव्रती साधु के लिए महादोषजनक शस्त्र है जिसके निमित्त से वह उपर्युक्त कथा की घटना के अनुसार सकल्पी अथवा विरोधी हिसा भी कर सकते हैं।

* * * * *

पाणिपात्र या काष्ठपात्र

अब यहाँ पर यह बात विचारने के लिए सामने आई है कि निर्ग्रंथ साधु जो कि समस्त परिग्रह का त्याग कर चुके हैं ,पाणिपात्र यानी हाथ में भोजन करने वाले हों अथवा **काष्ठपात्र** यानी लकडी या तु बी के वर्तन अपने साथ रखने वाले हो ?

इस विषय में दिगम्बर सम्प्रदाय का अभिप्राय तो यह है कि स्थविरकल्पी हो या जिन कल्पी मुनि हो, अन्य कोई पात्र धारण न करे, हाथ में ही भोजन करे। किन्तु श्वेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदाय का इस विषय में यह कहना है कि उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु तो **पाणिपात्र** यानी हाथ में भोजन करने वाला ही हो अन्य कोई पात्र धारण न करे। किन्तु स्थविरकल्पी साधु भोजन करने के लिए पात्र और उस पात्र को रखने तथा बाँधने के कपडे अपने पास रखते।

यहाँ पर इतना समझ लेना चाहिये कि दिगम्बर सम्प्रदाय के अभिमत को श्वेताबर तथा थानकवासी सम्प्रदाय सबसे उत्कृष्ट रूप मानकर स्वीकार करते हैं, जैसा कि उनके **वचनसारोद्धार** ग्रथ की ५०० वी गाथा में कहा है–

जिणकप्पिआ वि दुविहा पाणीपाया पडिग्गहधराय।

यानी– जिनकल्पी साधु भी दो प्रकार के हैं एक पाणिपात्र और दूसरे पतद्गृहधर।

किंतु विचार इतना और भी करना है कि क्या अन्य महाव्रतधारी जैन मुनि भी पात्र ग्रहण करें ? इस प्रश्न पर विचार करते समय जब सर्व परिग्रह त्यागी स्वरूप की ओर देखा जाय तो कहना होगा कि पात्र अपने पास रखना साधु को अपना परिग्रह त्याग महाव्रत मलिन करना है। क्योकि साधु के लिए पात्र रखना दो तरह से परिग्रह का दोष प्रगट करता है। एक तो इस तरह कि यदि पात्र परिग्रह रूप नही है तो उत्कृष्ट जिनकल्पी मुनि उन पात्रों को छोडकर पाणिपात्र (हाथ में भोजन करने वाले) क्यों होते हैं ? पात्र परिग्रह वस्तु है इसी कारण वे उनका त्याग कर देते हैं। दूसरे–पात्र रखने से कोई महाव्रत, सयम आदि का उपकार नही होता, इस कारण वह एक मोह पैदा करने वाली वस्तु है। उसके ग्रहण करने, अपने पास रखने तथा उसकी रक्षा करने में मोह मौजूद रहता है। पात्र ग्रहण करने में साधु के मोह भाव होता है यह वात उसकी ४ प्रतिज्ञाओ से भी सिद्ध होती है।

देखिये आचाराग सूत्र के १५ वे अध्याय के पहले उद्देश्य में ३०९–३१० वें पृष्ठ पर लिखा है–

"से भिक्खू वा भिक्खुणी वा उद्दिसिय पाय जाएज्जा तजहा, जाउयपाय वा, दारूपाय वा, मट्टियापाय वा तहप्पगार पाय सय वा ण जाएज्जा, जाव पडिगाहेज्जा ।८४७।

अर्थात् –साधु या आर्यिका किसी एक प्रकार का पात्र अपने लिए निश्चित करके तु बी, लकडी या मिट्टी आदि के बने हुए पात्रो में से अपना निश्चित प्रकार का पात्र गृहस्थ से स्वय मागे या गृहस्थ स्वय देवे तो ले लेवे। यह पहली प्रतिज्ञा है।

इस प्रतिज्ञा से सिद्ध होता है कि साधु के हृदय में पात्र के लिए ममत्व भाव है जिसके कारण उसे गृहस्थ से याचना करनी पडती है।

दूसरी प्रतिज्ञा यों है–

"से भिक्खु वा भुक्खुणी वा पेहाए पेहाए पाय जाएज्जा, तजहा, गाहावई, वा, जाव कम्मकरी वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा "आउसोत्तिवा, भइणीतिवा, दाहिसि मे एत्तो अण्णयर पाद, तजहा लाउयपाद वा" जाव तहप्पगार पाय सय वा ण जाएज्जा परो वा से देज्जा जाव पडिगाहेज्जा। दोच्चा पडिमा ।८४८।

अर्थात्– मुनि या साध्वी अपने निश्चित किये हुए (लकडी आदि जाति के) पात्र को गृहस्थ के घर में देख कर गृहस्थ के घर वालों से कहे कि "हे आयुष्मन् !" या हे बहिन ! तुबीपात्र, काठ का बर्तन या मिट्टी आदि के बर्तनों मे से अमुक बर्तन क्या मुझे दोगे ? ऐसे माँगने पर या स्वय गृहस्थ के देने पर ग्रहण करे। यह दूसरी प्रतिज्ञा है।

इस दूसरी प्रतिज्ञा से पात्र लेने पर साधु के लोभ, सकोच, दीनता प्रगट होती है। गृहस्थों के घर बर्तन देखकर मन में सकोच कर उससे बर्तन माँगना, यदि गृहस्थ ने माँगे अनुसार पात्र दे दिये

तो ठीक, नहीं तो बर्तन न मिलने पर खेद खिन्न या क्रोधी होना या मिल जाने पर हर्षित होना आदि बातें साधु के ऊँचे पद को नीचे करने वाली हैं तथा मन को मलिन करने वाली हैं और दीनता प्रगट करने वाली हैं।

तीसरी प्रतिज्ञा यह है

"से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सेज्ज पुण पाद जाणेज्जा सगतिय वा वेजयतिय वा तहप्पगार पाय सय वा जाव पडिगाहेज्जा। तच्चा पडिमा।"

यानी–मुनि या आर्यिका गृहस्थ के बर्ते हुए (काम लिए हुए) या बर्ते जाने वाले (काम में आते हुए) दो तीन बर्तनों में से एक पात्र स्वय मागे। उसके मागने पर या स्वय गृहस्थ के देने पर –पात्र ग्रहण करे।

इस तीसरी प्रतिज्ञा से पात्र लेने वाले साधु के दीनता तथा मोह बुद्धि और भी अधिक बढी हुई समझनी चाहिये क्योंकि दूसरे का काम में लिया हुआ बर्तन वह ही ग्रहण करता है जो अत्यत लोभी या दीन होता है। मुनि को यदि लोभी या अतिदीन माना जाय तो वे महाव्रतधारी साधु नही हो सकते क्योंकि लोभ अतरग परिग्रह है। और यदि वे पाँच महाव्रतधारी साधु हैं तो ऐसी दीनता तथा लोभकषाय नही दिखला सकते।

चौथी प्रतिज्ञा यह है–

"से भिक्खूवा भिक्खुणीवा उज्झियधम्मिय पाद जाएज्जा ज चण्णे वहवे समणमाहणा जाव वणीमगा णाव कखति, तप्पगार पाद सय बाण जाव पडिगाहेज्जा। चउत्था पढिमा ।।८५०।।

भा वार्थ– मुनि अथवा आर्यिका ऐसा पात्र गृहस्थ से स्वय माग कर लेवे जो कि फेंक देने योग्य हो और जिसको कोई भिक्षुक (अजैन साधु) ब्राह्मण अथवा घरघर भीख मागने वाले भिखारी भी नही लेना चाहें। अथवा ऐसे बर्तन को गृहस्थ स्वय देवे तो वह ले लेवे।

इस चौथी प्रतिज्ञा से पात्र लेने वाले साधु के तो महादीनता प्रगट होती है क्योकि भिखारी के भी न लेने योग्य पात्र को मागकर लेने वाला पुरुष भिखारी से भी बढकर दीन दरिद्री होता है। क्या महाव्रतधारी, सिंह वृत्ति से चलने वाले मुनि ऐसे दीन होते हैं?

इस प्रकार पात्र ग्रहण करने में साधु के दीनता, मोह, परिग्रह आदि दोष आते हैं। प्रवचनसारोद्धार के १४१ वें पृष्ठ पर ५२४ वी गाथा में पात्र रखने से जो गुण बतलाये हैं कि–

छक्कायरक्खणट्ठा पायग्गहण जिणेहिं पण्णत्त।

जे य गुणा समोए हवति ते पायगहणेवि ।।२४५।।

यानी–पात्र रखने से साधुके छह काय के जीवों की रक्षा होती है तथा जो गुण सम्मोह में बतलाये गये हैं वे गुण पात्र रखने में भी हैं। ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है।

यह कहना ठीक नही है क्योंकि पात्र न रखकर हाथ में भोजन करने वाले मुनि के किस प्रकार से छह काय के जीवों की हिंसा होती है? तथा आपके (श्वेताम्बरीय) उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु जो पात्र न रखकर हाथ में भोजन करते हैं सो क्या वे भी छह कायके जीवों का घात करते हैं?

द्वार उठाने, रखने, धोने, पोछने, वचा हुआ भोजन फेंकने आदि क्रियाओ से जो जीवों का घात हो है उसका नाम भी नही।

अव हम इस विषय को अधिक न वढा कर पात्र रखने से साधुको जो-जो दोप प्राप्त होते हैं उनको स क्षेप से वतलाते हैं। पात्र रखने में साधु को निम्नलिखित दोष लगते हैं।

१-पात्र (बर्तन) पौद्‌गालिक पर वस्तु है जिससे कि सयम का कुछ उपकार नही होता है। क्योंकि भोजन हाथों में लेकर खाया जा सकता है, अत पात्रों को ग्रहण करने में परिग्रह का दोष लगता है।

२-पात्र अपने मन के अनुसार मिल जाने पर मुनि को हर्ष तथा पात्र से प्रेम हो सकता है तथा इच्छानुसार न मिलने पर दु ख हो सकता है। इस कारण पात्र मुनि के राग द्वेष उत्पन्न करने का कारण है।

३-पात्र माँगने में मुनि के आत्मा में दीनता का प्रादुर्भाव होता है।

४- पात्र मिल जाने पर साधु को उसकी रक्षा करने में सावधानी रखनी पडती है कि कही कोई चोर न चुराले जावे।

५-पात्र फूट जाने पर या चोरी चले जाने पर साधु के मन में दुख हो सकता है।

६-पात्र रखने में उसके साथ सूती तथा ऊनी तीन कपडे और भी रखने पडते हें। जिससे परिग्रह और भी बढता है।

७- पात्र को साफ करने, धोने, पोछने, सुखाने आदि मे सूक्ष्म त्रस जीवो का घात होता है तथा आरम्भ का दोष आता है।

८- पात्र में भोजन ले आने पर ऊनोदर (भूख से कम खाना) तप यथार्थ रूप से नही पल सकता। यदि तप पालने के लिए भूख से कम भोजन करके शेष बचे हुए भोजन को साधु कही फेक देवें तो वहाँ जीवो की उत्पत्ति तथा घात होगा।

९- अन्न पानी के सम्बन्ध से काठ के पात्र में सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हें। ऐसे बर्तन को रगड-रगड कर धोने पर उनका घात हो सकता है।

१०- एक ही पात्र मे अनेक प्रकार के अन्न, दाल, दूध, दही, नमक, खाड आदि के बने हुए सूखे, गीले पदार्थ मिलाने पर द्विदल आदि हो सकता है। जिसके कि खाने में हिसा का दोष लगता है।

११- पात्रों को कोई डाकू, भील, चोर, लूट, छीन या चुरा न लेवे इस भय से साधु पात्रों को लेकर वन, पर्वत, श्मशान आदि एकात स्थानो में निर्भय रूप से आ जा नही सकते हैं और न निराकुल होकर ध्यान कर सकते हैं।

इत्यादि अनेक दोष साधुओ को पात्र रखने में आते हें। इस कारण महाव्रतधारी मुनि को पात्र धारण करना ठीक नही है, दोषजनक है। कमडलु तो इस कारण रखना योग्य है कि उसमें अचित्त जल रखकर उस जल से पेशाब-टट्टी करने के पीछे हाथ पैर आदि अशुद्ध अग धोने पडते हैं। किंतु भोजन पात्र रखने के लिए तो वैसी कोई विवशता (लाचारी) नही है। निर्दोष भोजन तो साधु गृहस्थ के घर पर हाथों में खा सकते हैं जैसा कि उत्कृष्ट जिन्कल्पी मुनि किया करते हैं।

इस कारण साधु को अपने पास पात्र रखना भी अपना मुनि चारित्र बिगाडना है। यानी पात्र रखने पर साधु के मूलगुण भी नही पालन किये जा सकते। इसलिए डड (लाठी) धारण के समान पात्र धारण भी व्यर्थ तथा हानिजनक है।

* * * * *

क्या साधु अपने पास बिछौना रक्खे?

अब यहाँ यह प्रश्न सामने आया है कि क्या महाव्रतधारी जैन साधु सस्तारक (बिछौना, बिस्तर) सोने के लिए अपने पास रक्खे?

इसका उत्तर दिगम्बर सम्प्रदाय के आचारग्रथ तो महाव्रतधारी मुनि को रच मात्र भी वस्त्र न रखने केआदेश रूप में देते हैं फिर **सस्तारक** तो जरा दूर की बात रही। किन्तु श्वेताम्बरीय ग्रथ तथा स्थानकवासी शास्त्र मुनियों को **सस्तारक** (सथारा, बिछौना या बिस्तर) ही नही किन्तु उसके ऊपर बिछाने के लिए एक उत्तर पट यानी मलमल आदि कोमल कपडे की चादर भी रखने की आज्ञा देते हैं।

आचाराग सूत्र के ११ वें अध्याय के ६९२ वें सूत्र से लेकर ७१२ वें सूत्र तक साधु को अपने पास सस्तारक (सोने के लिए बिछोना) रखने का वर्णन किया हें जिसमें वस्त्र तथा पात्र ग्रहण के समान इस सस्तारक लेने के लिए भी ४ प्रतिज्ञाओ को बतलाया है जिनको लिखना व्यर्थ समझ हम छोड देते हैं। उनका मतलब केवल इतना ही है कि साधु गृहस्थ के घर से मॉगकर अपने सोने के बिछौने ले आवे।

प्रवचनसारोद्धारके १४० वें पृष्ठ पर यो लिखा है–

सथारुत्तरपट्टो अड्ढाईज्जाय आयया हच्छा।

दोण्हपि य विच्छारो हच्छो चउरगुलो चेव।।५२१।।

यानी–साधुओ के सोने का बिछौना (सस्तारक) और उसके ऊपर बिछाने की चादर दोनो ही ढाई हाथ लबे तथा एक हाथ चार अगुल चौडे होवे।

प्रवचनसारोद्धार के गुजराती टीकाकारने इस बिछौना और चादर रखने का यह प्रयोजन बतलाया है कि–

"सस्तार के करी प्राणी तथा शरीरे जे रजरेणु लागे तेनी रक्षा थाय छे, माटे तेनो अभाव होय तो शुद्धभूमि विषे शयन कन्या छता पण साधु पृथ्वी आदि प्राणीओना उपमर्दन करनारो थाय अने शरीरने ऊपर रेणु लागे। तथा उत्तरपट्ट पण क्षोमिक षट्पदादि सरक्षणार्थ एटले दाबना करेला सस्थारामानी भ्रमरिओने घात न थवा माटे सस्तारकनी ऊपर पथराय छे। एभ न करता कबलमय सस्तारक कन्याथी शरीरना सघर्षणने लीधे जु प्रमुख जीवोनी विराधना थाय।"

यानी– बिछौने (सस्तारक) से जमीन पर चलने–फिरने वाले छोटे–छोटे जीवो की रक्षा होती है और शरीर पर धूल नही लगने पाती है। यदि साधु शुद्ध, जीवजन्तुरहित भूमि मे शयन करे (सोवे) तो उसके शरीर से पृथ्वीकायिक आदि (न मालूम आदि से क्या लिया) जीव कुचल जावें और जमीन की धूल मुनि के शरीर से लग जावे। यदि उस बिछौने पर चादर न बिछाई जाय तो भौंरा आदि जीवों की रक्षा कैसे हो। इसलिए बिछौने (सस्तारक) पर आये हुए भौंरे आदि जीवो की

रक्षा के लिए एक चादर अवश्य चाहिये। साधु यदि चादर ऊपर न बिछावे तो कम्बल के बिछौने और शरीर के रगडने से जू खटमल आदि जीव मर जावें।

प्रवचनसारोद्धार के इस लेख को देखकर कहना पडता है कि जीव रक्षा के बहाने साधुओ के शरीर को सुख पहुँचाने के लिए बिछोना रखना बतलाया है। क्योंकि विचार कीजिये कि जिन साधुओ ने सब तरह का परिग्रह त्याग कर परिग्रह त्याग महाव्रत धारण किया है उन्हें अपने साथ बिछौना ओर उस बिछौने के लिए चादर अपने साथ रखने की क्या आवश्यकता है ? इधर परिग्रहत्याग महाव्रत धारण करना आर उधर बिछौना चादर आदि परिग्रह रखना परस्पर विरोधी बात है।

साधु यदि पीछी (रजोहरण या ओघा) से जीवजतु रहित भूमिको फिर भी शोधकर तथा उसी पीछी (ओघा) से अपना शरीर झाड कर पृथ्वी पर सोवें तो उनके सयम की क्या हानि है? यदि बिस्तर और चादर बिना नही सोया जाता है तो फिर पलग रखने में भी क्या हानि है?

सोने से पृथ्वी कायिक जीव पिचला जाता है यह कहना ठीक नही क्योंकि पृथ्वी कायिक जीव चलने-फिरने, उठने- बैठने वाले ऊपर के पृथ्वी पटल में नहीं होता है, नीचे के पटल में होता है। और यदि ऊपर की पृथ्वी में भी हो तो क्या बिछौना बिछाने से वह बच जायगा क्योंकि साधु के शरीर का वजन (बोझ) तो फिर भी जमीन पर ही रहेगा। तथा चलते-फिरते और उठते-बैठते समय उस पृथ्वी कायिक जीव के न कुचलने का क्या प्रबन्ध सोचा है?

बिछोना चादर साथ रखने से जो दोष आते हैं उनको सक्षेप से लिखते हैं। बिछौना का अर्थ श्वेताम्बर भाई सथारा या सस्तारक समझें। चादरका अर्थ उत्तरपद।

१-बिछौना और चादर ध्यान सयम आदि का कारण नही, शरीरका सुखसाधन है। इससे ये दोनों वस्तु परिग्रहरूप हैं। इनको अपने साथ रखने से साधु के परिग्रहत्याग महाव्रत नष्ट होता है।

२-बिछौना चादर गृहस्थ से लेनें में साधु को याचना करनी पडती हें।

३- बिछौना चादर इच्छानुसार मिल जाने पर साधु को हर्ष तथा इच्छा के प्रतिकूल मिलने पर शोक होगा।

४-बिछौना चादर में जू खटमल आदि जीव पैदा हो जाया करते हैं तथा मक्खी, मच्छर, कुथु आदि जीव उनमें आकर रह जाते हैं जिससे कि उस बिछौने पर सोने से उन जीवो का घात होगा।

५-बिछौने, चादर की चोर आदि से रक्षा करने के लिए साधु को सदा सावधान रहना होगा। जैसे गृहस्थ को अपने परिग्रह की रक्षा के लिए सावधन रहना पडता है।

६-चोर, डाकू, भील आदि उस बिछौने, चादर को चुरा, लूट या छीन ले जाय तो साधु के चित्त में क्षोभ, व्याकुलता, दुख होगा।

७-उस बिछौने की रक्षा के निमित्त से साधु एकात स्थान पर्वत, वन, श्मशान आदि में ध्यान आदि नही कर सकेगा।

८-बिछौना, चादर मुनिचारित्र का घात करने वाली है इसी कारण श्वेताबरी भी उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु तथा ती र्थंकर इनको नही ग्रहण करते है।

९-बिछौना चादर को उठाने, रखने, बिछाने, सुखाने, झाडने-पोंछने, फटकारने आदि में असयम होता है।

१०- रात को सोते समय अधेरे में बिछौने पर ठहरे हुए छोटे जीवों का शोधन भी नही हो सकता।

११-बिछौना चादर यदि फट जाय तो साधु को उसे सीने-सिलाने की चिन्ता लगती है। यदि मैला हो जाय या उसमें किसी तरह खून, पीव, विष्टा, मूत्र आदि लग जाय तो साधु को उसे धोने की चिंता होगी। धोने धुलाने पर आरम्भ का पाप लगेगा।

१२- बिछौना, चादर गर्मी के दिनो में ठडा और शीत ऋतु में (सर्दी के दिनों में) गर्म मिले तो साधु को अच्छा लगे, सुख शान्ति मिले। यदि वैसा न मिले तो साधु के मन में अशान्ति, दु ख होगा इत्यादि।

इस कारण महाव्रतधारी साधु को बिछौना चादर आदि भी वस्त्र पात्र तथा लाठी आदि के समान अपने पास न रखना चाहिये क्योंकि इन वस्तुओ के रखने से साधु का रूप परदेश मे यात्रा करने वाले गृहस्थ के समान हो जाता है। क्योंकि गृहस्थ भी विदेश यात्रा के समय खाने- पीने के बर्तन, पहनने ओढने के कपडे, बिछाने का बिछौना, तथा लाठी आदि ही रखता है।

*****

क्या साधु ऊन के वस्त्र धारण करे?

श्वेताबरीय साधु परिग्रहत्याग महाव्रत धारण करके भो ग्रहस्थो सरीखे ही नही किन्तु ग्यारहवी प्रतिमाधारी गृहस्थ से भी बढकर वस्त्र अपने पास रखकर परिग्रह स्वीकार करते हैं। वह महाव्रती के लिए कितना अनुचित है ? यह व्रतभग तथा असयम का कारण है? यह बात तो पीछे बतलाई जा चुकी है। अब हम इस बात पर थोडा प्रकाश डालते है कि श्वेताबरीय मुनि जो वस्त्र अपने पास रखते हैं वे वस्त्र भी निर्दोष नही होते।

देखिये-श्वेताबर साधु अपने पास कुछ तो सूती वस्त्र रखते हैं और कुछ ऊनी वस्त्र रखते हैं जैसे ओढने का कबल। बहुतो के पास बिछाने का कधारा भी ऊनी होता है, ओघा (पीछी) तो सभी के पास ऊन का बना हुआ होता है।

तदनुसार-सूती कपडो में शरीर का पसीना, मैल आदि लग जाने से जू इत्यादि सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं यह तो एक बात रही किन्तु दूसरी बात एक यह भी है कि ऊनी कपडे स्वभाव से ही जीव उत्पन्न होने के योनिस्थान होते हैं। ऊनी कपडो से पसीना आदि न भी लगे तथापि उनमें कीडे उत्पन्न हो जाते हैं और उस वस्त्र को काटते रहते हैं। ऊनी कपडो की दशा सब कोई समझता है कि यों ही रक्खे-रक्खे उनमें कीडे उत्पन्न होकर उन कपडो को खा जाते हैं।

ऐसे जीव उत्पत्ति के योनिभूत कपडों को ओढने-बिछाने से साधुओ के द्वारा उन कीडो का घात अवश्य होगा जिससे उनका अहिंसा महाव्रत निर्दोष नही पल सकता, न सयम पालन ही हो सकता है। इस कारण श्वेताम्बर साधुओ का ऊनी वस्त्र पहनना-ओढना, बिछाना साधुव्रत का घातक है।

मोरपख की पीली ऊनी पीछी से (ओघासे) जिस प्रकार अधिक कोमल होती है उसी प्रकार उसमें यह भी एक अच्छी विशेषता है कि उसमें किसी प्रकार के जीव भी उत्पन्न नही होते। इस

कारण ऊनी कपडे साधुओ को कदापि ग्रहण नही करने चाहिये और न ऊन की पीछी (ओघा) ही रखना चाहिये। ओघा मोर के पखों का ही होना चाहिये।

* * * * *

क्या साधु छाता भी रक्खे?

यद्यपि साधु को बरसात तथा धूप आदि से बचने के लिए छाता (छत्र–छतरी) रखने का विधान कही सुना नही गया है और न किसी महाव्रतधारी श्वेताबर स्थानकवासी साधु को अपने साथ छाता रखते कभी देखा ही है। किन्तु फिर भी आचाराग सूत्र के १५ वें अध्याय के पहले उद्देश्य में यो लिखा है–

"से अणुपविसित्तागाम बा जाव रायहाणिं वा णेव सय अदिन्न गिण्हेज्जा, णेव ण्णेण्ण अदिण्ण गिण्हावेज्जा, णेव ण्णेण अदिण्ण गिण्हत समणुजाणेज्जा। जेहिंवि सर्द्धि सपव्वइए, तसिंपियाइ भिक्खू, छत्तय बा मत्तयें वा दडग वा जाव चम्मच्छेदणग वा, तेसिं पुव्वामेय उग्गह अण्णुण्णविय अपडिलेहिय अपमज्जिय णो गिण्हेज्ज वा पगिण्हेज्ज बा, तेसिं पुव्वामेव उग्गह अण्णुण्णविय पडिलेहिय पमज्जिय गिण्हेज्ज वा पगिण्हेज्ज वा।" ८६९ पृष्ठ ३१७–३१८।

अर्थात्– मुनि गॉव या नगर में जाते समय अपने साथ न तो कोई दूसरी वस्तु लेवे, न किसी से लेने के लिए कहे तथा यदि कोई लेता हो तो उसको अच्छा न समझे। और तो क्या, किन्तु जिनके साथ दीक्षा ली हो उनमें से छाता, मात्रक (?) लाठी, और चर्मछेदनक उनके पूछे बिना तथा शोधे बिना नही ले। पूछकर तथा शोधकर उनको ग्रहण करे।

'छत्रक' शब्द के लिए इसी ३१८ वें पृष्ठ की टिप्पणी मे यो लिखा है–

"वर्षाकल्प नामनु कपडु अथवा कोकण विगेर देशोमा बहु वरसाद होवाथी कदाच मुनिने ते कारणे छत्र पण राखवु पडे (टीका)"

यानी– छत्रक माने वर्षाकल्प नामक कपडा अथवा कोकण आदि देशो में बहुत बरसात होती है इस कारण उसके लिए कदाचित छाता भी रखना पडे।

इस विषय में विशेष कुछ न लिखकर हम अपने श्वेताबरी भाइयो के ऊपर छोडते हैं। वे ही विचार करें कि क्या बरसात से बचने के लिए परिग्रहत्यागी साधु को छाता रखना भी योग्य है? यदि ऐसा हो तो जिस देश में बर्फ बहुत पडती हो वहॉ पर मुनियो को शिर पर पहनने के लिए टोप तथा पैरो में पहनने के लिए ऊन के मोजे (जुर्राबें–स्टाकिग) भी रखने चाहिये।

क्या साधु चर्म का उपयोग भी करे?

अब यहाँ ऐसे विषय पर उतरते है जिसके कारण साधु का अहिसा धर्म कलकित होता है। उस विषय का नाम है चर्म यानी **चमडे का उपयोग**।

यद्यपि व्रत धारण करने वाले प्रत्येक मनुष्य को किसी भी जीवका चमडा अपने उपयोग में नही लाना चाहिये क्योकि प्रथम तो चमडा जीवहिंसासे प्राप्त होता है। दूसरे–अपवित्र वस्तु है और तीसरे सम्मूर्च्छन जीव उत्पत्तिका योनिस्थान है। परन्तु अहिसा महाव्रतधारी साधु जो कि एकेन्द्रिय स्थावर जीवो की हिसासे भी अलग रहते हैं, अपने पद के अनुसार चमडे का उपयोग किसी प्रकार नही कर सकते। क्योकि ऐसा करने से उनके सयम तथा अहिसा महाव्रतका नाश कराते हैं।

परन्तु दु ख के साथ लिखना पडता है कि हमारे श्वेताम्बरीय ग्रथ अपने श्वेताम्बरीय महाव्रतधारी साधुओ के लिए चमडे का उपयोग भी बतलाते हैं। प्रवचनसारोद्धार के १६५ वें पृष्ठ पर अजीवसयम का वर्णन करते हुए यों लिखा है–

"इहा पिंडविशुद्धिनी महोटी वृत्तिमाहे 'सयमे णत्ति' एटले सयमनु वखाण करते अजीवसंयम पुस्तक अप्रत्युत्प्रेक्ष्य, दु प्रत्युत्प्रेक्ष्य, दूष्य, तृण, चर्म पच, मझ्य हिरण्यादिकनो अग्रहणरूप।"

"इहा शिष्य पूछे छे एना अग्रहणे सयम? किवा ग्रहणे सयम थाय?"

"गुरु उत्तर कहे छे के अपवादे तो ग्रहणे पण सयम थाय। यदुक्त–

दुप्पडिलिहियदूस अद्धाणाइ विवित्तगिण्हति।
घिप्पइ पोच्छइ पणग कालियनिज्जुत्ति कासट्ठा।१।

अर्थ– मार्गादि के विवित्तसागारि जेम गृहस्थ न देखे अने पुस्तक पाँच ते कालिकनिर्युक्तिनी रक्षा ने अर्थे छे।"

अर्थात्– पिंडविशुद्धिग्रथ की वृत्ति में सयम का व्याख्यान करते हुए अजीवसयम अप्रत्युत्प्रेक्ष, दु प्रत्युत्पेक्ष्य, दूष्य, तृण, चर्मकी ऐसी पाँच प्रकार की पुस्तक तथा सोना आदि को अग्रहण रूप कहा है।

इस पर शिष्य पूछता है कि उपर्युक्त पाँच तरह की पुस्तको के ग्रहण करने से सयम होता है अथवा ग्रहण न करने से सयम होता है?

गुरु उत्तर देते हैं कि अपवाद मार्ग में (किसी विशेष दशा में) तो चर्मादि पाँच तरह की पुस्तक ग्रहण करने से भी सयम होता है। जैसा कि अन्यत्र भी कहा है–

"मार्ग आदि ऐसे स्थान पर जहाँ कि कोई गृहस्थ मनुष्य न देखता हो तो कालिक निर्युक्तिकी रक्षा के लिए वे पाँच प्रकार की पुस्तकें बतलाई है।"

ग्गराश यह है कि यदि कोई गृहस्थ न देखने पावे तो साधु किसी विशेष समय चमडे की भी पुस्तक अपने पास रख लेवे।

कैसा हास्यकारक विधान है। महाव्रतधारी साधु चमडे की और कोई भी वस्तु नही किन्तु पुस्तक जिसमें कि जिनवाणी अकित होगी अपने पास रक्खे और वह भी गृहस्थ की आँखों से बचाकर रक्खे। यद्यपि अपवाद दशा में किन्ही साधारण नियमो की कुछ सीमा तोडी जाती है किन्तु ऐसा कार्य नहीं किया जाता जिससे व्रतनाश हो। चमडे की पुस्तक रखना अहिंसा महाव्रत का नाश करना है तथा साधु पद को मलिन करना है। मृगछाला आदि चमडा रखने के कारण अन्य अजैन साधुओ की निन्दा श्वेताबरीय आचार्य (ग्रथकार) किस तरह कर सकते हैं? क्योंकि चमडे का उपयोग उनके यहाँ भी विद्यमान है।

इतना ही नहीं किन्तु २६३ वें पृष्ठ पर इसी प्रवचन सारोद्धार में साधु को अपने काम में लाने के लिए पाँच प्रकार का चमडा और भी बतलाया है। देखिये,

अथ एलगावि महिसी मिगाणमजिणाच पचम होइ।
तलिगाखल्लगबद्धे कोसगकित्तीयबायतु।।६८३।।

अर्थ– छालीनो चर्म, गाडरनो चर्म, गायनो चर्म, भैंसनो चर्म, हरिणनो चर्म ए पाँचना अजिन के चामडो थाय छे।"

यानी १ बकरी का चमडा, २ मेंडा का चमडा, ३ गाय का चमडा ४ भैंस का चमडा, ५ हरिण का चमडा, ये पाँच का चमडा होता है।

"अथवा बीजा आदेशे करी चर्मपचक प्रयोजन सहित कहे छे। एना जे तलिया ते एक तलियो अने तेना अभावे बेहुतलाना पण लीजे। ते जे वारे रात्रे मार्ग न देखाय अथवा सथवारो मेली जाय ते वारे उजाडे जाता चारे श्वापदादिकना भयथी उतावला जता काटादिकथी पोतानो रक्षण करवाने अर्थे पगमा पहेरिये। अथवा कोई कोमल पगवालो होय तो पण लीये बीजो खलग ते खासडा ते पगे व्याड थाय एटले वायुथी पग फाटी गया होय तो मार्ग्रे जता तृणादिक दुर्लभ थाय वली अतिसुकुमाल पुरुष ने सीयाले दुर्लभ होय तो पहेरवाने अर्थे राखे। त्रीजा–बधे के बाधरी ते चामडो व त्रुटेला खाशडा प्रमुखने साधवामणी काम आवे। चोथो–कोसग ए चर्ममय उपकरण विशेष छे ते कोइकना नख अथवा पगने काइ लागवाथी फाटी जाय तो ते केस आगलें अगुठे बाधिये अथवा नखप्रमुख राखवाने अर्थे दाबवाने काम आवे। पाँचमो कित्तीयलत्ति ते कोइक मार्गमा दावानलना भयथकी आडो करवाने अर्थे धारण छे अथवा पृथ्वी कायादिक सचित्तपणो थाय तेनी यतनाने अर्थे मार्गमा पाथरी ने बेसीयें अथवा मार्ग मा चोर लोकोये वस्त्र लेइ लीधा होय तो पहेरवामा पण काम आवे। एने कोइक कृति कहे छे ने कोइक नत्ति कहे छे। एवा वे नाम छे। ए यतिजनयोग्य पचक कहाँ।"

यानी – (अथवा पाँच तरह का चमडा साधु के लिए दूसरे प्रकार मतलब सहित बतलाते हैं। १–साधु अपने पैरों में पहनने के लिए एक तलीका चमडे का जूता या वैसा न मिलने पर दो नली वाला (चमडे की दो पट्टी से जिसका तला बना हो) जूता रक्खे। यह जूता रात के समय ऊजड में (शहर गाँव के बाहर–मैदान में) चोर या जगली जानवरों के भय से जल्दी–जल्दी जाते हुए काटे आदि से बचने के लिए पैरों में पहने। अथवा कोई साधु कोमल पैरों वाला हो–नगे पैर न चल–फिर सकता हो तो उसके लिए भी यह काम आता है। २–खलग–वायु आदि से पैर फट गये हों (बिबाई हो गई हो) जिससे कि चलते समय तिनके चुभते हों या बहुत सुकुमार मनुष्य सर्दी के दिनों में नगे पैर न फिर सकता हो तो वह पैरों में पहनने के लिए अपने पास रक्खे। ३–बाधरी–यह बाधरी नामक चमडा फटे हुए जूते आदि को जोडने के लिय काम में आता है।

४– कोसग–यह चमडे की एक चीज होती है जो कि किसी साधु के नाखून टूट जाने पर या पैर फट जाने पर अँगूठे, उँगली पर बाँधने के लिए, नाखून आदि राखने के लिए दबाने के लिए काम आती है।

५–किसी रास्ते में जगल में लगी हुई आग के भय से बचने के लिए जो चमडा ओढा जाय, या पृथ्वी कायिक आदि बहुत सचित्त स्थान होय वहाँ यत्नाचार के लिए उस चमडे को बिछाकर साधु बैठे, या यदि चोर आदि ने साधु के कपडे चुरालिये हों, लूट लिए हों तो वह चमडा पहनने के भी काम आवे। इस प्रकार यह पाँच प्रकार का चमडा महाव्रतधारी साधुओ को योग्य बतलाया है।

इस प्रकार चमडे का उपयोग करने के लिए साधु को जब खुली आज्ञा है तो श्वेताम्बरी भाई अजैन साधुओं के पास मृगछाला आदि चमडा देखकर उस पर आक्षेप नहीं कर सकते। दूसरे वे

अपने साधुओ को महाव्रतधारी किसी तरह नही कह सकते क्योंकि जीवों की योनिस्थान भूत (क्योंकि पानी से भीगे हुये चमडे में सम्मूर्च्छन जीव पैदा हो जाते हैं) चमडे की उत्पत्ति भी हिसा से होती है। इस कारण तो अहिंसा महाव्रत नष्ट हो जाता है।

प्रवचन सारोद्धार के पूर्वोक्त लेख से यह बातें भी सिद्ध हो गईं कि एक तो कपडा रखना साधु के लिए परिग्रह है और चोरों से उसकी रक्षा करने की चिन्ता साधु को प्रत्येक समय रहती है। दूसरे–श्वेताम्बर साधुओ को ईर्यासमिति के पालने की विशेष परवा नही। रात को भी जल्दी जल्दी सपाटे से अंधेरे में घूम फिर सकते हैं। तीसरे–कोमल शरीर वाला साधु जूता भी पहन सकता है। चौथे–साधु बिछाने के लिए भी अपने पास चमडा रख सकता है। पाँचवें–साधु चमडा शरीर में कपडे के समान पहन सकता है। जबकि साधु ही चमडे को पहनें, बिछावें तो फिर श्रावक ऐसा क्यों न करे?

साराश– चमडा रखने से साधु को निम्नलिखित दोष लगते हैं–

१–चमडा रखने से साधु को हिसा का दोष लगेगा क्योकि चमडा त्रस जीव की हिंसा से ही पैदा होता है।

२–चमडा अपने पास रखने से साधु को परिग्रह का दोष भी लगता है क्योकि चमडा सयम का उपकरण नही। उसका ग्रहण शरीर को सुख पहुँचाने के लिए उसमें ममत्व भाव से होता है।

३–चमडे का जूता पहनने से साधु के ईर्या समिति नही बन सकती।

४–चमडा जीव उत्पन्न होने का स्थान है उस पर बैठने–सोने आदि से उन सम्मूर्च्छन जीवों की हिंसा मुनि को लगेगी।

५–चमडे के उठाने, रखने, सुखाने, मरोडने, तह करने, फाडने, आदि में असयम होता है।

६–मुनिको इच्छानुसार चमडा मिल जाने पर हर्ष और वैसा न मिलने पर शोक होगा।

७–साधु को अपने चमडे या जूते के चोर आदि द्वारा चोरी हो जाने पर या लुट जाने पर साधु का मन मलिन होगा।

८–हिंसा तथा अपवित्रता से बचने के लिए जबकि गृहस्थ मनुष्य भी पहनने, बिछाने के लिए चमडा अपने पास नही रखता है तो महाव्रतधारी साधु उसका उपयोग करे यह निन्दनीय एव पापजनक बात है।

९–जब कि साधु ने समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया है फिर वह चमडे सरीखी गदी चीज अपने पास कैसे रख सकता है

इत्यादि अनेक दोष आते हैं। खेद है कि श्वेताम्बरीय ग्रथकारो ने ऐसा खोटा विधान करके साधु के पवित्र ऊँचे पद को तथा पवित्र जैन धर्म को बदनाम किया है।

* * * * *

साधु आहारपान कितने बार करे?

अब हम इस प्रश्न पर प्रकाश डालते हैं कि महाव्रतधारी साधु दिन में कितनी बार भोजन करे।

दिगम्बर सम्प्रदायके चरणानुयोगी ग्रथ दिन में मुनियों का एक बार आहार पान करने का आदेश देते हैं क्योंकि मुनियो के २८ मूल गुणों में **'दिन मे एक बार शुद्ध आहार लेना'** यह भी एक मूलगुण है। तदनुसार दिगम्बर जैन मुनि ही नही किंतु ११ वी प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक भी दिन में एक ही बार आहार किया करते हैं। श्वेताबरीय ग्रथों में से **प्रवचनसारोद्धार** के २९९ वें पृष्ठ पर यों लिखा है–

कुक्कुडिअडयमेत्ता कवला बत्तीस भोयणप्रमाणे।
राएणा सायंतोसगार करइ स चरित्त।।७४२।।

अर्थात्– कुकडी पक्षी (मुर्गी) के अडे के बराबर प्रमाण वाले ३२ बत्तीस ग्रास (कोर) मुनि के भोजन का प्रमाण है। साधु यदि इससे अधिक भोजन ले तो दोष और यदि इससे कम भोजन करे तो गुण होता है।

प्रवचनसारोद्धार के इस कथन से भी दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार ही विधान सिद्ध होता है क्योंकि अधिक से अधिक ३२ ग्रास आहार ही दिगम्बरीय शास्त्रों में बतलाया है। यह कथन इस प्रकार ठीक दीखता हुआ भी इसके विरुद्ध कथन श्वेताम्बर व स्थानकवासी सम्प्रदायके अति माननीय ग्रथ कल्पसूत्र के (वि स १९६२ में श्रावक भीमसिंह माणेक मु बई द्वारा प्रकाशित गुजराती टीकावाला) ९ वें व्याख्यान में ११२ वें पृष्ठ पर लिखा है कि–

"साधुओ ने हमेशा एक एक बार आहार करवो कल्पे पण आचार्य आदिक तथा वैयावच्छ करनारने बे बार पण आहार लेवो कल्पे। अर्थात एक बार भोजन कर्याथी जो ते वैयावच्छ आदिक न करी शके तो ते बे वार पण आहार करे। केम के तपस्या करता पण वैयावच्छ उत्कृष्ट छे।"

अर्थात्– साधुओ को सदा एक बार आहार करना योग्य है किन्तु आचार्य आदिक तथा दूसरे किसी रोगी साधु की वैयावृत्य (सेवा) करने वाले को दो बार भी दिन में आहार करना योग्य है। यानी एक बार भोजन करने से जो वह वैयावृत्य आदिक न कर सके तो वह दो बार आहार करे। क्योंकि तपस्या करने से भी बढकर वैयावृत्य है।

इस कथन में परस्पर विरोध है सो तो ठीक ही है किन्तु अन्य साधुओ को उनके छोटे अपराधों को प्रायश्चित देने वाले आचार्य स्वय दो बार भोजन करे और अन्य मुनियो को एक ही बार भोजन करने दें। यह कैसी आश्चर्य और हास्यजनक बात है।

किसी मुनि की सेवा करने वाला साधु इसलिए अपने एक बार भोजन करने के नियम को तोड कर दो बार दिन में आहार करे कि तप करने से वैयावृत्य उत्कृष्ट है। यह भी अच्छे कौतुक की बात है। इस तरह तो साधुओ को तपस्या छोडकर केवल वैयावृत्य में लग जाना चाहिये क्योंकि भोजन भी दो बार कर सकेंगे और फल भी तपस्या से अधिक मिलेगा।

उसके आगे यो लिखा है–

"वली ज्याँ सुधी डाढी मु छना वालो न आव्या होय अर्थात् बालक एवा साधु साधवीओ बे वार पण आहार करवो कल्पे। तेमा दोष नथी। माटे एवी रीते आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, ग्लान अने बालक साधु ने बे वार पण आहार करवो कल्पे।"

यानी–जब तक डाढी मूछो के बाल न आये होंय अर्थात् बालक साधु साध्वी को दो बार भी आहार करना योग्य है।उसमें दोष नही है। अतएव इस प्रकार आचार्य , उपाध्याय, रोगी साधू, और बालक साधु साध्वी को दो बार भी आहार करना योग्य है।

इस कथन में यह गडबड घुटाला है कि साधु–साध्वी कब तक बालक समझे जाकर दो बार भोजन करते हैं। स्त्रियो को तो डाढी मू छ निकलती ही नही। वे रजस्वला होती हैं। सो प्राय १२ वर्ष की आयु में ही रजस्वला हो जाती है। अब मालूम नही कि आर्यिका (साध्वी) कब तक दो बार भोजन करती रहे।

पुरुषो में भी बहुत से ऐसे खूसट पुरुष होते हैं जिनके डाढी मूछ निकलती ही नही है। नेपाली, चीनी, जापानी पुरुषो के डाढी मू छ बहुत अवस्था पीछे निकलती है। किसी मनुष्य के जल्दी डाढी मू छ निकल आती है। इससे यह निश्चय नही हो सकता कि अमुक समय तक साधु दो बार आहार करे और उसके पीछे एक बार आहार करे।

तथा–जब कि सभी ने महाव्रत धारण करके मुनिदीक्षा ली है, तब यह भेदभाव क्यो, कि कोई मुनि तो अवस्था के कारण दो बार आहार करे और कोई एक बार भोजन करे।

एव–मुनि सघ में सबसे अधिक बडे और ज्ञानधारी होने के कारण ही क्या आचार्य, उपाध्याय दो बाद आहार करें? क्या महाव्रतधारियो में भी महत्त्वशाली पुरुष को अनेक बार आहार करने सरीखी सदोष छूट है?

तदनतर इसी कल्पसूत्र के ११२ वें पृष्ठ में यह लिखा है-

"वली एकातरी आ उपवास करनार साधु प्रभातमा गोचरीए जइ, प्राशुक आहार करीने, तथा छाश आदि पीने, पात्रा धोई साफ करीने जो तेटलाज भोजनथी चलावे तो ठीक, नही तर हजु जो क्षुधा होय, तो ते बीजी बार पण भिक्षा लावी आहार करी शके। बली छट्ठना उपवासी साधुने वे बखत तथा आठमवालाने त्रण वखत पण जवु कल्पे। अने चार पॉच आदिक उपवासवालाने गमे तेटती वार दिवसमा गोचरीए जवु कल्पे।"

अर्थात्- एकान्तर उपवास (एक उपवास–एक पारणा) करने वाला साधु सबेरे (प्रात काल) गोचरी के लिए जाकर प्रासुक आहार करके, छाछ आदिक पीकर, पात्र धो–साफ कर, यदि उतने ही भोजन से काम चल जावे तो ठीक, नही तो यदि अभी भूख और हो तो दूसरी बार भी भिक्षा मॉग कर वह साधु भोजन कर सकता है। तथा वेला (दो उपवास) करने वाला साधु दो बार और तेला (३ उपवास) करने वाला तीन बार भिक्षा के लिए जा सकता है। और चार, पॉच आदि उपवास करने वाला साधु दिन में कितनी ही बार भिक्षा के लिए जा सकता है।

श्वेताम्बर, स्थानकवासी सम्प्रदायकी मुनिचर्या एक तो वस्त्र, पात्र, बिछौना आदि सामान रखने के कारण वैसे ही सरल थी किन्तु कुछ आहार पानी के विषय में कष्ट होता सो यहाँ दूर कर दिया। अगर एकान्तर उपवास करे तो दो बार भोजन करले। यदि वेला करे तो दो बार आहार पाले, तेला करने वाला तीन बार, चौला करने वाला चार बार। साराश यह कि जितने उपवास करे उतने ही बार पारणा के दिन भोजन कर सकता है। इस हिसाब से यदि किसी ने ५ उपवास

किये हों तो पारणा के दिन डेढ डेढ घटे पीछे और जिसने १२ उपवास किये हो वह घटे घटे भर पीछे दिन भर खाता पीता रहे। एक साथ तीस तीस उपवास भी बहुत से साधु या श्रावक भाद्रपद में किया करते हैं तो वे कल्पसूत्रके पूर्वोक्त लिखे अनुसार दिन में ३० बार यानी दो दो-घटे में पाँच पाँच बार बराबर खाते-पीते चले जावें। साराश यह कि उनका मुख चलना उस दिन बद न रहे तो कुछ अयोग्य नही।

अत यदि इस प्रकार देखा जाय तो एक प्रकार से मुनि तथा गृहस्थ के भोजन करने में विशेष कुछ अतर नही रहा। गृहस्थ यदि प्रतिदिन दो बार भोजन करता है तो श्वेताम्बरीय मुनि किसी दिन एक बार, किसी दिन दो बार, कभी तीन बार और कभी एक बार भी नही इत्यादि अनियत रूप से भोजन कर सकते है।

इस विषय में विशेष कुछ न लिखकर हम अपने श्वेताम्बर भाइयो के ऊपर इसको छोडते हैं। वे स्वय इस पर शान्ति से विचार करें कि यह बात कहाँ तक उचित है?

इस विषय में निम्नलिखित दोष दीख पडते हैं-

१-महाव्रतधारी साधु दिन में कितनी बार भोजन करे यह नियम नही मालूम हो सकता। गडबड घुटाले में बात रह गई।

२- दिन में दो-तीन आदि अनेक बार आहार करने से साधु गृहस्थ पुरुषों के समान ठहरे। अनशन, ऊनोदर तप उनके बिलकुल न ठहरे।

३-अनेक बार आहार करने से किये हुए उपवासों का करना कुछ सफल नही मालूम पडा क्योंकि उपवास करने से भोजन लालसा घटने के बजाय अधिक हो गई।

४-आचार्य, उपाध्याय सरीखे उच्च पदस्थ मुनि स्वय दो बार आहार करें और अन्य साधुओ को दो बार आहार करने में दोष बतलावें यह स्पष्ट अन्याय है क्योकि अधिक निर्दोष तप करने वाला मुनि ही महान् हो सकता है और वह ही दूसरों को प्रायश्चित दे सकता है।

५-बालक साधु साध्वी किस आयु तक समझे जाय, और वे कितनी आयुतक दो बार तथा कितनी आयु के बाद वे दिन में एक बार भोजन करना प्रारम्भ करें इसका भी कुछ निर्णय नही हो सकता जिससे कि उनकी उचित अनुचित चर्याका निर्धारण हो सके। इत्यादि।

* * * * *

साधु क्या कभी मांस भक्षण भी करे?

अब हम यहाँ एक ऐसे विषय को सामने रखते है जिसके कारण जैनमुनि ही नहीं किन्तु एक साधारण जैन गृहस्थ भी पापी या अभक्ष्य भक्षक कहा जा सकता है। वह विषय है "क्या साधु मास भक्षण कर सकते है?" इस विषय को प्रकाश में लाते यद्यपि सकोच होता है क्योंकि मास भक्षण एक जैनधर्मधारी साधारण गृहस्थ मनुष्य के लिए भी अयोग्य बात है। बिना मास त्याग के जैनधर्म धारण नही किया जाता है। फिर यह तो एक जैनसाधु के विषय में मासभक्षण के विचार करने की बात है। किन्तु अनुचित बात का विधान देख कर रहा भी नहीं जाता है।

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के तो किसी भी ग्रथ में मुनि को ही क्या किन्तु साधारण गृहस्थ को भी मास भक्षण का विधान नहीं है क्योंकि उसे अभक्ष्य बतला कर प्रत्येक मनुष्य को त्याग करने के लिए उपदेश दिया है।

किन्तु हमको खेद और हार्दिक दु ख होता है कि हमारे श्वेताम्बर तथा स्थानकवासी भाइयों के मान्य, परममान्य ग्रथों में वह बात नही है। उनमें मनुस्मृति आदि ग्रथों के समान कहीं तो मासभक्षण में बहुत से दूषण बतलाये हैं किन्तु कही किन्हीं ग्रथों में उसी मास–भक्षण का पोषण किया है और वह भी अविरती या व्रती श्रावक के लिए नहीं किन्तु महाव्रतधारी साधुओ के लिए किया है। यद्यपि इस अभक्ष्य विधान का आचरण किसी एक आध भ्रष्ट साधु ने भले ही किया होगा, अन्य किसी ने भी न तो इसको अच्छा समझा होगा और न ऐसा आचरण ही किया होगा। किन्तु फिर भी आज्ञाप्रधानी स्वल्पज्ञानी कोई साधु इन ग्रथों की आज्ञानुसार मास भक्षण कर सकता है। इस कारण इस विषय का प्रकाश में आना आवश्यक है।

प्रथमहि कल्पसूत्र संस्कृत टीका पृष्ठ १७७ में यों लिखा है–

"यद्यपि मधुमद्यमासवर्जनं यावज्जीव अस्त्येव तथापि अत्यन्तापवाददशायाँ बाह्यपरिभोगाद्यर्थं कदाचिद् ग्रहणेपि चतुर्मास्या सर्वथा निषेध "

इसका गुजराती टीकावाले कल्पसूत्र (विक्रम स १९६२ में श्रावक भीमसिंह माणेक बबई द्वारा प्रकाशित – गुजराती भाषान्तर कर्ता श्रीविनय विजयजी) के ९ वें व्याख्यान के १११ वें पृष्ठ पर २४–२५–२६ वी पक्ति में लिखा है–

"वली मद्य, माँस अने माखण जो के साधुओ ने जावोजीव वर्जनीय छे, तो पण अत्यत अपवादनी दशामा, शरीरना बहारना उपयोग माटे कोइ पण बखते ते ग्रहण करवानों चौमासामा तो निषधज छे।"

यानी– मधु, (शहद) मास और मक्खन जो कि साधुओ को आजन्म त्याग करने योग्य हैं फिर भी अत्यत अपवादकी दशा में शरीर के बाहरी उपयोग के लिए किसी समय ग्रहण करने हों तो चौमासे में तो उनका सर्वथा निषेध है।

यहाँ मास के साथ–साथ मधु और मक्खन का उपयोग भी अपने शरीर के लिए किसी बहुत भारी विशेष अवस्था में बतलाया है किन्तु समय चौमासे का नहीं होना चाहिये।

टीकाकारने महाहिंसा के आक्षेप से बचने के अभिप्राय से शरीर के बाहरी उपयोग के लिए मास सेवन बतलाया सो कुछ समझ में नही आया क्योंकि मास कोई तेल नही जिसकी चमडे पर मालिश हो और न वह मलहम का ही काम देता है।

आचारागसूत्र (वि स १९६२ में मोरवी काठियाबाड से मूल सहित गुजराती भाषान्तर के साथ भाष्यकार प्रोफेसर रवजीभाई देवराज द्वारा प्रकाशित) १० वें अध्याय के चौथे उद्देश्य के ५६५ वें सूत्र में १७५ पृष्ठ पर यों लिखा है–

"सति तथेगतियस्स भिक्खुस्स पुरे सथुया वा पच्छासथुया वा परिवसति, गाहावती वा, गाहावतीणो वा, गाहावतिपुत्रा वा गाहावतिधूयाओ वा, धाईओ वा, दासी वा, दासीओ वा, कम्मकरा वा, कम्मकरीओ वा, कुलाइ पुरेंसथुयाणि वा पच्छसथुयाणि वा पुव्वामेव भिक्खायरियाए अणुपवि–

अविय इत्थ लभिस्सामि, पिड वा, लोयं वा, खीर वा, दधिं वा, नवणीय वा, धय वा, गुल वा, तेल्ल वा, महु वा, भज्जं वा, मास वा, संकुलि वा, फाणिय वा, पूयं वा, सिहरिणिं वा, तं पुव्वामेव भच्चा पेच्चा, पडिगाहूं सलिहिय सपमज्जिय, ततो पच्छा भिक्खूहिं सद्धि गाहावतिकुल पिडवाय पडियाए पडिसिस्सामि निक्खमिस्सामि वा। माइट्ठाण फासे। णो एव करेज्जा। से तत्थ भिक्खूहिं सद्धि कालेण, अणुपविसित्ता ततियरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसिंय वेसिंय पिंडवायं पडिगाहेत्ता आहार आहारेज्जा"

इसकी गुजराती टीका यों लिखी है-

"कोइ गाममा मुनिना पूर्वपरिचित तथा पश्चात्परिचित सगाववाला रहेता होय, जेवा के गृहस्थो, गृहस्थ बानुओ, गृहस्थ पुत्रो, गृहस्थ पुत्रीओ, गृहस्थ पुत्रबधुओ, दाइओ, दास, दासीओ, अने चाकरो के चाकरडीओ, तेवा गाममा जता जो ते मुनि एवो विचार करे के हु एकबार बधाथी पहेला मारा सगाओमा भिक्षार्थे जइश, अने त्याँ मने अन्न, पान, दूध, दहिं, माखण, घी, गोल, तेल, मधु, मद्य, मास तिलपापडी, गोलवालु वाणी, बु दी के श्रीखड मलशे ते हु सर्वथी पहेला खा पात्रों साफ करी पछी बीजा मुनिओ साथे गृहस्थना घरे भिक्षा लेवा जइश, तो ते मुनि दोषपात्र थाय छे माटे मुनिए एम नहिं करवु, किंतु बीजा मुनिओ साथे वखतसर जुदा जुदा कुलोमा भिक्षा निमित्ते जइ करी भागमा मलेलो निर्दूषण आहार लइ वापरवो।"

अर्थात् - किसी गाँव में किसी मुनि का अपने (पितापक्ष का) तथा अपनी ससुराल के (अपनी पत्नी के पक्षवाले) गृहस्थ पुरुष, गृहस्थ स्त्री, पुत्र,पुत्री,पुत्रवधू, धाय, नौकर, नौकरानी, सेवक, सेविका रहते होंये उस गाँव में जाते हुए वह मुनि ऐसा विचार करे कि मैं एक बार और सब साधुओ से पहले अपने सगे-सम्बन्धिओ में (रिश्तेदारों में) भिक्षा के लिए जाऊंगा, और मुझे वहाँ अन्न, पान, दूध, दही, मक्खन, घी, गुड, तेल, मधु (शहद) मद्य, (शराब) मास, तिलपापडी, गुड़ का पानी (गन्ने का रस, शर्बत या सीरा) बू दी या श्रीखड मिलेगा उसे मैं सबसे पहले खाकर अपने पात्र साफ करके पीछे फिर दूसरे मुनियों के साथ गृहस्थ के घर भिक्षा लेने जाऊँगा, (यदि वह मुनि ऐसा करे) तो वह मुनि दोषी होता है। (क्योंकि एक तो अन्य मुनियों से छिपाकर भिक्षा के लिए पहले गया और दूसरे दो बार भिक्षा भोजन किया) इसलिए मुनियों को ऐसा नहीं करना चाहिये। किन्तु और मुनियों के साथ समय पर अलग-अलग कुलों में भिक्षा के लिए जाकर मिला हुआ निर्दूषण आहार लेकर खाना चाहिये।

'निर्दूषण' विशेषण मूल सूत्र में नहीं है यह विशेषण गुजराती टीकाकारने अपने पास से रक्खा है। तथा टीकाकारने सूत्र में कहीं मधु, मास, मदिरा, मक्खन आदि अभक्ष्य, निंद्य पदार्थों के खाने का निषेध भी नहीं किया है। इसके सिवाय आचाराग सूत्र के इसी १७५ वें पृष्ठ के सबसे नीचे मद्य मास शब्द की टिप्पणी में यह लिखा है कि-

"वखते कोई अतिप्रमादि गृद्ध होवाथी मद्यमांस पण खावा चाहे माटे ते लीधा छे एम टीकाकार लखे छे"

यानी-किसी समय कोई साधु अति प्रमादी और लोलुपी होकर मद्य (शराब) मास भी खाना चाहे उसके लिए यह उल्लेख है ऐसा संस्कृत टीकाकार शीलाचार्य ने लिखा है।

साराश यह है कि किसी मुनि का मन कभी बहुत शिथिल हो जावे और वह मद्य मास को खाए बिना न रहना चाहे उस लोलुपी, प्रमादी मुनि के लिये सूत्रकारने ऐसा लिखा है।

अर्थात्-अति प्रमादी और लोलुपी मुनि मद्य, माँस , मुनि अवस्था में रहता हुआ भी ,खा सकता है। यह मूल सूत्रकार और सस्कृत टीकाकार को मान्य है क्योंकि उन्होने यहाँ ऐसा कोई स्पष्ट निषेध नहीं किया कि वह मद्य, माँस भक्षण कर मुनि न रह सकेगा। परतु अहिसाप्रधान जैनधर्म के गुरु मद्य मास खा जावें। कितने अधेर, अन्याय की बात है।

इसी आचाराग सूत्र के इसी १० वें अध्याय के ९ वें उद्देश्य के ६१९ वें सूत्र मे २०१ पृष्ठ पर यह लिखा है-

" से भिक्खूवा जाव समाणे सेज्ज पुव्व जाणेज्जा मस वा मच्छ वा भज्जिज्जमाण पहए तेल्लपूयय वा आएसाए उवक्खडिज्जमाण पेहाएणो खद्ध खद्धणों उवसकमित्तु ओमासेज्जा। णन्नत्थ गिलाणणीसाए।।६१८"

इसकी गुजराती टीका यह है-

"**मुनिए मास के मत्स्य भु जाता जोइ** अथवा परोणाना माटे पूरीओ तेलमा तलाती जोइ तेना सारु गृहस्थ पासे उतावला दौडी ते चीजो मागवी नही। अगर मादगी भोगवनार मुनिना सारु खपती होय तो जुदी बात छे।"

अर्थात्-मुनि किसी मनुष्य को मास या मछली खाता हुआ देखकर या (आगतुक) मेहमान के लिए तेल में तलती हुई पूडियाँ देख कर उनको लेने के लिए जल्दी-जल्दी दौडकर उन चीजों को मागे नही। यदि किसी रोगी मुनि के लिए उन चीजो की आवश्यकता हो तो दूसरी बात है।

यानी- मुनि मछली और मास रोगी मुनि के लिए ले सकता है। इससे इतना तो सिद्ध अपने आप हो जाता है कि रोगी मुनि की चिकित्सा (इलाज) मास के द्वारा हो सकती है। मास मछली से चिकित्सा का अर्थ यह ही है कि वह उस रोगी मुनि को खिलाया जावे क्योकि मास मछली खाने के काम में आते हैं। यदि कोई लोलुपी साधु मास मछली खाना चाहे तो रोगी बनकर चिकित्सा के रूप में मास मछली से अपनी इच्छा तथा बीमारी मिटा सकता है।

तथा-साधु की वैयावृत्य करने के लिए वैयावृत्य करने वाला साधु मास और मछली भी गृहस्थ के यहाँ से मागकर ला सकता है। ऐसा सूत्रकारका तथा टीकाकारका मत है। (यह बात साधुओ के लिए है जो कि पाँच महाव्रतवारी-एकेंद्रिय तक के जीवो की रक्षा करने वाले होते हैं। इससे बढकर अनुचित अभक्ष्य भक्षण की बात और कौनसी होगी। यह सर्वज्ञ देव समझे। कुछ और देखना चाहते हैं तो भी देखिये।)

साधु के चारित्रका ही प्ररूपण करने वाले इसी आचाराग सूत्र के १० वें अध्याय के १० वें उद्देश्य के २०६ वें तथा २०७ वें पृष्ठ पर ६२८ तथा ६३० का अवलोकन कीजिये-

"से भक्खू वा से ज्ज पुण जाणेज्जा, बहुअट्ठिय मसवा, मच्छवा, बहुक्टग, अस्सिं खलु पडिगाहिंतसि अप्पे सिया भोयणाजए, बहुउज्झियधम्मिए-तहप्पगारं बहुअट्टिय मस मच्छवा बहुक टग लाभे सते जावणोपडिजाणेज्जा।।६२।।

अर्थात्-बहुत अस्थियो (हड्डियो) वाला मास तथा बहुत काँटे वाली मछली को जिनके कि लेने में (हड्डियाँ, काटे आदि) बहत चीज छोडनी पडे और थोडी चीज (मास) खाने के लिए बने तो मुनि को वह नही लेना चाहिये।

यानी मुनि ऐसा मॉस खाने के लिए नही लेवे जिसमें फेंकने योग्य हड्डियाँ बहुत हों और खाने योग्य मॉस थोडा ही हो तथा ऐसी मछली भी नही ले जिसके शरीर पर फेंक देने योग्य काटे तो बहुत हों और मास थोडा हो। साराश यह कि जिस मास वा मछली में खाने योग्य चीज बहुत हों उसको साधु खाने के लिए ले लेवे और जिसमें खाने के लिए चीज थोडी ही निकले उसको न लेवे।

आगे का सूत्र भी देखिये–

"से भिक्खू मा जाव समाणे सिया ण परो बहुअट्ठिटएण मसेग, मच्छेण वणिमतेज्जा," आउसतो समणा, अभिकखसि बहुअट्ठिटय मस पडिगाहत्तए ? "एयप्गार णिग्घोस सोच्चा णिसम्म से पुव्वामेव आलोएज्जा, "आउसोत्ति वा बहिणित्ति वाणो खलु में कप्पइ से बहुअट्ठिय मस पडिगाहेत्तए। अभिकखसि मे दाउ, जावइय ताव–इय पोग्गल दलयादि, मा अट्ठियाइ" से सेव वदतस्स परो ओभहदु अतो पडिग्गहगसि बहुअट्ठिय मस परिभाएत्ता णिहट्टु दलएज्जा, तहप्पगार पडिग्गहग परिहत्थसि वा परमायसि वा अफासुय अणेसणिज्ज लाभे सते जाव णो पडिगाहेज्जा। से आहच्च पडिगाहिए सिया, ते णो "हीं" त्ति वएज्जा। णो 'अणहिं' त्ति बइज्जा। से त्त मायाए एगत–मवक्कमेज्जा, अहे आराम सिवा अहे उवस्सयसि वा अप्पडए जाव अप्पसताणए **मसग मच्छग भोच्चा** अट्ठियाइ कटए गहाय से त मायाए एगतभवक्क–मेज्जा। अहे ज्झामथडिलसि वा जाव पमज्जिय परिट्ठवेज्जा ।।६३०।।

अर्थात्–(कदाचित मुनि को कोई मनुष्य निमन्त्रण करके कहे कि हे आयुष्मन् मुने। तुम बहुत हड्डियों वाला मास चाहते हो? तो मुनि यह वाक्य सुनकर उसको उत्तर दे कि "हे आयुष्मन्! या हे बहिन। मुझे बहुत हड्डियों वाला मास नही चाहिये यदि तुम वह मास देना चाहते हो तो जो भीतर का खाने योग्य चीज है वह दे दो हड्डियाँ मत दो। ऐसा कहते हुए भी गृहस्थ यदि बहुत हड्डियों वाला मॉस देने के लिए ले आवे तो मुनि उसको उसके हाथ या बर्तन में ही रहने दे। लेवे नही।

(यदि कदाचित् वह गृहस्थ उस बहुत हड्डियो वाले मास को मुनि के पात्र में झट डाल देवे तो मुनि गृहस्थ को कुछ न कहे किन्तु ले जाकर एकान्त स्थान में पहुच **जीवजतुरहित बाग या उपाश्रय के भीतर बैठ कर उस मास या मछली को खालेवे और उस मास, मछली के काटे तथा हड्डियो को निर्जीव स्थान मे रजोहरण से (पीछी या ओघा से) साफ करके रख आवे।**)

इससे बढकर मास भक्षण का विधान और क्या चाहिये? अहिसा–धर्म की हद हो गई। सूत्र के मास, मत्स्य शब्द का खुलासा करने के लिए इसी २०६ वें पृष्ठ के सबसे नीचे टिप्पणी में यों लिखा है–

"टीकाकार बाह्य परिभोगादि माटे अनिवार्य कारणयोगे मूलपाठना शब्दो नो अर्थ **मत्स्य, मास** अपबाद मार्गे कर दे।"

यानी–सस्कृत टीकाकार शीलाचार्य "**बहुअट्ठिठएण मसेण मच्छेणा**" सूत्रकार के इन शब्दों का अर्थ मत्स्य, मास अनिवार कारण मिलने पर अपवाद मार्ग में करता है।

महाव्रतधारी साधु के लिए मास भक्षण का ऐसा स्पष्ट विधान होने पर हमारे श्वेताबरी भाई अपने आपको या अपने गुरुओ को अहिंसाधर्मधारी या मासत्यागी किस प्रकार कह सकते हैं और किस तरह दूसरे मुनष्यों को मास त्याग करने का उपदेश दे सकते हैं?

दशवैकालिक सूत्र में ऐसा लिखा है

बहुअट्ठिय पुग्गल अणिमिस वा बहुकटय।
अच्छिय तिंदुय बिल्ल उच्छुखडचसिंबति।।
अप्पे सिया मो अणिजाए बहुउज्झियधम्मिय।
दितिअ पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारस।।

अर्थात्– बहुत हड्डियो वाला माँस, बहुत काटे वाला मॉस, तेंदुक, गन्ना (ईख) बेल, शाल्मलि, ऐसे पदार्थ जिनमें खाने का अश थोडा और छोडने का अधिक हो तो उन्हें " मुझे नहीं चाहिये" ऐसा कहकर साधु न ले।

यह जानकर और भी अधिक दुख होता है कि श्वेताबर तथा, स्थानकवासी सप्रदाय में आज तक सैकडों अच्छे विद्वान् साधु हुए हैं किन्तु उनमें से किसी ने भी इन वाक्यो का न तो परिशोध किया न बहिष्कार ही किया और न ऐसे ग्रथों को अप्रामाणिक ही बतलाया। पवित्र जैन ग्रथसमुदाय से कलक मिटाने के लिए यह भी नही लिखा कि शायद ऐसे सूत्र किसी मासभक्षी ने मिला दिये हैं।

मुनि आत्मारामजी ने मॉस विधान आदि को लेकर वेदो की निदा तो बहुत की है और मॉस भक्षण में अगणित दोष बतलाये हैं किंतु उन्होने अपने इस मास विधायक ग्रथो की निदा जरा भी नहीं की है। कहने को वे इन्हें अनेक बार देख गये होगे।

सभव है ऐसे ही कारणों से सूत्र ग्रथो को देखने–पढने का गृहस्थों को श्वेताबरीय आचार्योंने अधिकार नही दिया हो।

यद्यपि हमारी समझ से श्वेताबरीय तथा स्थानकवासी साधु आचाराग सूत्र के लिखे अनुसार मास, मधु आदि अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण नही करते हें। कितु यदि कोई साधु मास खा लेवे तो आचाराग सूत्र के लिखे अनुसार वह अपराधी नही होगा।

तथा एक कौतूहल की बात यह है कि बेचारा व्रती ही नही कितु अव्रती भी गृहस्थ श्रावक तो मास भक्षण न करें क्योकि गुरु जी महाराज ने निषेध कर रक्खा हें और महाव्रती गुरु महाराज आप खा जावें। क्या यहा यह कहावत चरितार्थ नही होती कि **"समरथ को नही दोष गुसाई"**।

आश्चर्य इस बात का भी है कि प्रतिवर्ष कल्प सूत्र को आरम्भ से अत तक सुनने वाले श्रावकों ने भी ऐसे माँस भक्षण विधान को कभी नही पकडा। इसका कारण ऐसा भी सुना है कि श्रावकों को सूत्र ग्रथ सुनने की आज्ञा है, शका करने की उनको आज्ञा नही है क्योकि साधु जी कह देते हैं शास्त्रों में जो शका करे वह अनत ससारी है।

कुछ भी हो श्वेताम्बरीय ग्रथों में इस प्रकार माँस विधान होने के कारण जैन धर्म पर नही तो श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के मस्तक पर अवश्य ही कलक का टीका लगता है। इसका प्रतिरोध हो जाना आवश्यक है।

*****

क्या साधु मधु तथा मद्य सेवन करे?

अब यह विषय सामने आता है कि क्या जैन साधु मधु, (शहद) और मद्य (शराब) खा–पी सकते हैं? इस विषय में दिगम्बरीय जैन शास्त्र तो स्पष्ट तौर से गृहस्थ तथा मुनि को मधु और मद्य के खान–पान का निषेध करते हैं। इन दोनों पदार्थों को माँस के समान अभक्ष्य बतलाया है। जघन्य श्रावक के आठ मूल गुणों में मद्य, मास, मधु इन तीनो अभक्ष्य पदार्थों का त्याग बतलाया है। जो अभक्ष्य श्रावक के लिए त्याज्य है वह दिगम्बर जैन मुनि के लिए भी त्याज्य है। प्राण रक्षण के लिए भी वह इन अभक्ष्यों का भक्षण नही करेगा क्योंकि विनश्वर प्राणों से बढकर धर्म साधन बतलाया है।

किंतु यह बात श्वेताबरीय जैन ग्रथों में नही पाई जाती है। वहाँ पर इस विषय में भारी गड़बड है। धर तो गृहस्थ श्रावक के लिए २२ अभक्ष्य वस्तु बतला मद्य माँस, मधु को उनमें से महाविषय कहते हुए सर्वथा त्याग देने का उपदेश लिखा है किंतु उधर महाव्रतधारी साधुओ के लिए उनकी छूट कर दी है।

हमने मधु और मद्य भक्षण के कुछ श्वेताबरी शास्त्रों के प्रमाण "क्या साधु माँस भक्षण करते हैं।" नामक प्रकरण में दिखलाये हैं। जैसे कि आचाराग सूत्र के (इस ग्रथ में सब पच्चीस अध्याय और एक हजार व्यान वें १०९२ सूत्र हैं, पृष्ठ ४०३ हैं) दशवें अध्याय के चौथे उद्देश्य वाले ५६५ वें सूत्र में १७५ पृष्ठ पर मधु, मद्य, माँस का लेना साधु को लिखा है।

२– कल्प सूत्र के नवमें अध्याय के १११ वें पृष्ठ पर मधु सेवन चौमासे के दिनों में निषेध किया है/ इसका साराश यह ही होता है कि अपवाद दशा में साधु चौमासे के सिवाय अन्य दिनों में मधु यानी शहद खा सकता है।

इसके सिवाय आचाराग सूत्र के दशवें अध्याय के ८ वें उद्देश्य में १९५ वें पृष्ठ पर यह लिखा है कि–

"से भिक्खू वा जाव समाणे सेज्ज पुण जाणेज्जा, आमडाग वा महु वा, मज्ज वा, सप्पि वा, खोल वा। पुराण एत्थ पाणा अणुप्पसूता एत्थ पाणा सवुढ्ढा, एत्थ पाणा जाया, एत्थ पाणा अवुक्कता एत्थ पाणा अपरिणता, एत्थ पाणा अविद्वत्था णो पडिगाहेज्जा।।६०७।।

इसकी गुजराती टीका इसी पृष्ठ पर यों लिखी है–

"मुनिए गोचरीए जताँ अर्धी रधाएल शाकभाजी न लेवी तथा सढेलु खोल न लेवु, तथा जूनु मध, जूनी मदिरा, जूनु घृत, जूनी मदिरानी नीचे वेश तो कचरो ए पण न लेवा, एटले के जे चीज जूनी थता तेमा जीव जतु उपजेला अने हजु हयातीमा वर्तनारा जणाय ते चीज न लेवी।"

यानी – मुनि गोचरी को जाते हुए अधपकी शाक भाजी न ले, और पुराना मधु यानी शहद तथा पुरानी मदिरा यानी शराब, पुराना घी, पुरानी शराब के नीचे बैठा हुआ मसाला ये पदार्थ भी न लेवे क्योंकि ये पदार्थ जब पुराने हो जाते हैं तब उनमें छोटे–छोटे जीव–जतु उत्पन्न हो जाते हैं। और जो वस्तु इसी समय जीव–जंतु वाली मालूम हो जावे तो उसको भी न लेवे।

साराश यह है कि पूर्ण पकी हुई शाक भाजी, बिना सडा खोल तथा नया मधु, नयी शराब, नया घी ये पदार्थ सूत्रकार के लिखे अनुसार साधु ले लेवे, क्योंकि उसमें जीवजन्तु नहीं होते हैं।

किसी पदार्थ के एक अश का निषेध करना उस के दूसरे सभावित अश का विधान ठहराता है। यह अर्थापत्ति न्याय है। जैसे **"साधु पुराना घी नहीं खावे"** इस वाक्य का अर्थापत्ति से मतलब यही निकलता है **"साधु पुरानी मदिरा और पुराना मधु खाने के लिए न लेवे"** इस वाक्य का भी अर्थापत्ति से यह ही अर्थ निकलता है कि **"साधुनयी मदिरा और नया मधु खाने के लिए ले लेवे।"** इसलिए आचाराग के इस ६०७ वें सूत्र से पुराने घी के समान पुरानी मदिरा, मधु के लेने के निषेध से नये घी के समान नयी मदिरा, नये मधु के लेने का विधान सिद्ध होता है।

सूत्र में घी के साथ-साथ मधु और मद्य का उल्लेख है इस कारण घी के समान ही मधु, मदिरा का विधान और निषेध होगा। तदनुसार पुराने घी, मधु, मद्य के निषेध से नये घी, मधु, मद्य का विधान सिद्ध हो जाता है। क्योंकि घी भक्ष्य है। पुराना हो जाने से उसमें जीव-जतु उत्पन्न हो जाने से वह न लेने योग्य हो जाता है। ऐसा ही उन दोनों के लिए ग्रथकार के लिखे अनुसार समझना चाहिये।

इस प्रकार साधु-आचार के प्ररूपण करने वाले श्वेताबरीय ग्रथों में दबे छुपे शब्दो में इस प्रकार अभक्ष्य भक्षण का विधान देखकर हृदय में बहुत दुख होता है। यह जानकर आश्चर्य और भी अधिक बढ जाता है कि ग्रथो के आधुनिक गुजराती टीकाकार महाशयो ने भी ऐसे सूत्रो पर, अभक्ष्य भक्षण विधानों पर कुछ ध्यान नही दिया है।

कहाँ तो साधु आत्मारामजी अपने जैन तत्त्वादर्श ग्रथ में मदिरापान में ५१ दोष लिख कर उसका निषेध करते हैं और कहाँ ये प्राचीन ग्रथ इस प्रकार खोटा विधान करते हैं। इन ग्रथो में इस प्रकार टेढे-सीधे अभक्ष्य भक्षण का विधान रहने पर अन्य मनुष्यो को इनके त्याग करने का उपदेश कैसे दिया जा सकता है ?

इस विषय पर भी अधिक कुछ न लिखकर अपने श्वेताम्बरी भाइयो को धैर्यपूर्वक विचार करने के लिए इस प्रकरण को हम यही समाप्त करते हैं।

■

आगम समीक्षा

श्वेताम्बरीय आगम मान्य क्यों नहीं ?

धार्मिक मार्ग के उद्‌घाटम करने वाले महात्मा के बतलाये गये धार्मिक नियम जिन ग्रथों में पाये जाते हैं वे ग्रथ आगम कहे जाते हैं। जैन आगम वे ही कहे जाते हैं जो सर्वज्ञता, वीतरागता, हितोपदेशकता रूप तीन गुणों से विभूषित श्री अर्हत भगवान् के उपदेश के अनुसार ग्रथ रचे गये हों, जिनमें पूर्वापर विरोध न हो, जो युक्तियो से खडित न हो सकें, सत्य हितकर बातों का उपदेश जिनमें भरा हुआ हो। आगम का यह लक्षण श्वेताबरीय ग्रथ भी स्वीकार करते हैं।

अब हम इस बात को विचार कोटि में उपस्थित करते हैं कि आगम के उपर्युक्त लक्षण पर श्वेताबरीय ग्रथ तुलते हैं या नही ? इस विचार को चलाने के पहले इतना लिख देना और आवश्यक समझते हैं कि अधिकतर श्वेतावरी मज्जनों की यह धारणा है जिसको कि अपने भोले-पन से गर्व के साथ वे कह भी देते हैं कि "इस समय जो आचाराग, समवायाग, स्थानाग आदि आदि श्वेताम्बरीय सूत्र गथ उपलव्ध हैं, ये वे ही ग्रथ हैं जो कि भगवान् महावीर स्वामी की दिव्य ध्वनि के अनुसार श्री गौतम गणधरने द्वादशाग रूप रचे थे। भगवान् की अर्द्धमागधी भाषा ही इन ग्रथों की भाषा है।" इत्यादि।

(श्वेताम्बरी भाइयो की ऐसी समझ गलत है क्योंकि एक तो श्री गोतम गणधर ने शास्त्र न तो अपने हाथ से लिखे थे ओर न किसी से लिखवाये ही थे। उस समय जैन साधु द्वादशाग को कण्ठस्थ स्मरण रखते थे। बुद्धि प्रबल होने के कारण पढने-पढाने के लिए ग्रथ लिखने-लिखाने का आश्रय नही लिया जाता था। गुरुजो मौखिक पढाते थे ओर शिष्य अपने क्षयोपशम (बुद्धि) के अनुसार उसको मौखिक याद कर लेते थे। जब महावीर स्वामी के मुक्ति समय को लगभग पौने पॉच सो वर्ष समाप्त हो गये उस समय मनुष्यो के शारीरिक बल के साथ-साथ मानसिक बल भी इतना निर्बल हो गया कि मौखिक पढकर अभ्याम कर लेना कठिन हो गया। पहले जो साधु द्वादशाङ्ग को धारण कर लेते थे, उस समय पूर्ण अङ्ग की बात तो अलग रही किन्तु पूर्ण पद को धारण कर लेना भी मनुष्यों को असभव सरीखा हो गया। इस कारण उस समय अङ्ग ज्ञान किसी भी साधु को स्मरण नही रहा। यह देखकर आचार्यो ने कलिकाल की विकराल प्रगति को देखकर भगवान् महावीर स्वामी के प्रदान किए हुए, बुद्धि अनुसार थोडे से बचे हुए तत्त्व ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए जेठ सुदी पचमी के दिन उस ज्ञान को लिखकर शास्त्रो के रूप में निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। तदनुसार उस दिन से जैन ग्रथों की रचना आरम्भ हुई। उससे पहले न तो कोई जैन शास्त्र लिखा गया था और न लिखने की पद्धति तथा आवश्यकता थी। इस कारण आचाराग आदि ग्रथों को गौतम गणधर निर्मित कहना गलत है।)

दूसरे- ये श्वेताम्बरीय ग्रथ इस कारण भी गणधरप्रणीत द्वादशाग रूप नही कहे जा सकते क्यों ये बहुत छोटे हैं। कोई भी ग्रथ ऐसा नही जो कि कम से कम एक पद के बराबर भी हो। क्योंकि सिद्धात ग्रथो में एक मध्यम पद के अक्षरो की सख्या सोलह अरब, चौंतीस करोड, तिरासी लाख, सात हजार, आठ सौ अठासी (१६३४८३०७८८८ अक्षर) बतलायी गई है। जिसके कि अनुष्टुप् छन्द (श्लोक) इक्यावन करोड आठ लाख, चौरासी हजार, छहसौ इक्कीस (५१०८८४६२१) होते हैं। यह सिद्धान्त श्वेताम्बरीय सिद्धान्त ग्रथों को भी स्वीकार है। तदनुसार यदि देखा जावे तो कोई भी श्वेताम्बरीय ग्रथ इतना विशाल उपलब्ध नही है, न किसी श्वेताम्बरीय

विद्वान् ने ही कोई ऐसा विशाल ग्रथ बनाया है जिसकी कि श्लोक सख्या इक्यावन करोड तो अलग रही, पाँच करोड या पाँच लाख भी हो। ये आचाराग, स्थानाग आदि शास्त्र ५१ हजार श्लोकों के बराबर भी नही हैं। फिर भला ये असली आचाराग, स्थानाग आदि कैसे हो सकते हैं ?

श्वेताम्वरीय सज्जन शायद यह भूल गये हैं कि उपर्युक्त ५१ करोड श्लोक प्रमाण वाले आचाराग में मध्यम पद अठारह हजार हैं। स्थानाग में बियालीस हजार मध्यम पद होते हैं और समवायाङ्ग में एक लाख चौसठ हजार पद होते हैं। तथा उपासकाध्ययनाग में ग्यारह लाख सत्तर पद होते हैं।क्या कोई भी श्वेताम्वरीय भाई अपने उपलब्ध आचाराग, स्थानाग, समवायाग, उपासकाध्ययनाग आदि ग्रथों का प्रमाण इतना बतला सकता है ? यदि नही तो इनको गणधरप्रणीत द्रव्य श्रुतज्ञान के मूल अग रूप असली शास्त्र मानना तथा कहना कितनी मोटी हास्य जनक भूल है। क्या कोई मनुष्य "महेन्द्र" नाम से ही "महेन्द्र" (चतुर्थ स्वर्ग का इन्द्र) हो सकता है ?

तीसरे—इन ग्रथों की भाषा को अर्द्ध मागधी भाषा कहना भी अयुक्त है क्योंकि भगवान् के शरीर से प्रगट होने वाली निरक्षरी (जिसको लिख न सके) दिव्य ध्वनि को मागध देव समवसरण में उपस्थित समस्त जीवों की भाषा में परिर्वतन कर देते है उसको **अर्द्धमागधी भाषा** कहते हैं। इस कारण सभी तीर्थंकरों की भाषा का नाम **अर्द्धमागधी भाषा** होता है। इन आचाराग सूत्र आदि ग्रथों की भाषा पुरानी अशुद्ध, प्राकृत है। अतएव इसको मनुष्य के सिवाय अन्य कोई भी जीव नहीं समझ सकता है। भगवान् की अर्द्धमागधी भाषाको तो भिन्न-भिन्न अनेक प्रकार की भाषाओ को बोलने वाले सभी मनुष्य, सभी पशु-पक्षी समझते है। इन ग्रथो की भाषा को तो बिना पढे, अभ्यास किये श्वेताम्वरी लोग भी नही समझ सकते। फिर इन ग्रथो की भाषा वास्तविक अर्द्धमागधी भाषा कैसे हो सकती है ? उसका नाम यदि अर्द्धमागधी के स्थान पर दिव्य ध्वनि भी रख दिया जावे तो भी कुछ हानि नही।

यह तो हुआ हमारा युक्ति पूर्ण विचार, अब श्वेताम्बरीय ग्रथो का उल्लेख भी देखिये। हमारी धारणा के अनुसार अनेक विचारशील श्वेताम्बरी विद्वानो की भी यह सुनिश्चित अटल धारणा है कि आचाराग आदि ग्रथ श्री महावीर भगवान् के निर्वाण हो जाने पर लगभग छह सौ वर्ष पीछे बनाये गये हैं। अत न तो वे गणधरप्रणीत हैं और न वे वास्तविक आचाराग आदि ही है तथा उनकी भाषा भी प्राकृत भाषा है। इन विद्वानो मे से एक तो स्वर्गीय मुनि आत्माराम जी हैं उन्होने अपने तत्त्व निर्णय प्रासाद ग्रथ के ७ वें पृष्ठ पर लिखा है कि –

" जो सूत्रार्थ श्री स्कदिलाचार्य ने सधाल करके कठाग्र प्रचलित करा था सो ही श्री देवार्द्धिगण श्रमा श्रमण जी ने एक कोटी पुस्तको मे आरूढ करा ।"

इसी बात को मुनि आत्माराम जी प्रश्नोत्तर रूप में आगे इस प्रकार इसी पृष्ठ पर लिखते है—

"**पूर्व पक्ष**— जब जैन मत के चोदह पूर्वधारी, दशपूर्वधारी विद्यमान थे तब से ही लेकर ग्रथ लिखे जाते तो जैनमत का इतना ज्ञान काहे को नष्ट होता ? क्या तिस समय मे लोग लिखना नही जानते थे ?

उत्तर पक्ष— हे प्रियवर । पूर्वोक्त महात्माओ के समय में किसी की भी शक्ति नही थी जो सपूर्ण ज्ञान लिख सकता, और ऐसे-ऐसे चमत्कारी विद्या के पुस्तक थे जो गुरु योग्य शिष्यो के बिना कदापि किसी को नही दे सकते थे। वे पुस्तक कैसे लिख जाते ? और बीजक मात्र किंचित् लिखे भी गये थे।"

(मुनि आत्माराम जी के इस लेख से स्पष्ट है कि देवर्द्धिगण जी के समय (वीर स ६००) से श्वेताबरीय ग्रथ रचना प्रारम्भ हुई थी ।दिगम्बर श्वेताबर रूप में सघ भेद इसके बहुत पहले हो चुका था। श्वेताबर साधु मुनि आत्माराम जी यह खुले हृदय से स्वीकार करते हैं कि जिस समय साधुओ को अगों तथा पूर्वो का ज्ञान हृदयस्थ था, उस समय ग्रंथ रचना नही हुई। अतएव वर्तमान में उपलब्ध आचाराग आदि ग्रंथ वास्तविक आचाराग आदि ग्रथ नही हैं। उनके नाम से अपूर्ण, सक्षिप्त दूसरे नवीन छोटे ग्रथ हैं।)

अब हम अपनी पहली उद्दिष्ट बात पर आते हैं। इस समय यहॉ यह बात सामने उपस्थित है कि वर्तमान समय में उपलब्ध श्वेताम्बरीय ग्रथ सच्चे आगम कहे जा सकते हैं या नही ?

कतिपय श्वेताम्बरीय प्रख्यात ग्रथो के अवलोकन करने से हमारी यह धारण है तथा अन्य कोई भी निष्पक्ष विद्वान् यदि उन ग्रथों का अवलोकन करेगा तो वह भी हमारी धारणा अनुसार यह विचार प्रगट करेगा कि कल्पसूत्र, आचारागसूत्र आदि अनेक प्रख्यात श्वेताम्बरीय ग्रथों को आगम ग्रथ मानना भारी भूल है। क्योंकि इन ग्रथो में अनेक ऐसी बातें उल्लिखित हैं जो कि धार्मिक कोटि से तथा जैन सिद्धान्त से बाहर की बातें हैं। देखिये-

१-(आचाराग सूत्र ग्रथ केवल महाव्रतधारी साधु के आचरण को प्रकाशित करने वाला श्वेताम्बरीय शास्त्रो में परममान्य ऋषिप्रणीत ग्रथ है। उसमें जो कोई भी बात मिलनी चाहिये वह उच्च कोटि की तथा पवित्र आचार वाली होनी चाहिये। किन्तु इस ग्रथ में ऐसा नही पाया जाता। इस ग्रथ में महाव्रतधारी साधु के लिए मास-भक्षण, मद्यपान, मधु-सेवन आदि पापजनक बातो की ढील दी गई है जो कि न केवल जैन समुदाय में किन्तु सर्व साधारण जनता मे भी निद्य, घृणित कार्य माना जाता है।)

देखिये १७५ वें पृष्ठ पर ५६५ वें सूत्र में लिखा है कि-

कोई साधु किसी गाँव में यह समझ कर कि वहाँ पर मेरे पूर्व परिचित मनुष्य स्त्रियॉं हैं। वे मुझे मद्य-मास,मधु आदि भोजन देंगे ।उन्हें मैं अकेला खा-पीकर पात्र साफ करके फिर दूसरी बार अन्य साधुओ के साथ भोजन लेने चला जाऊँगा। ऐसा करना साधु के लिए दोष-जनक है इस कारण साधु को दूसरे साधुओ के साथ जाना चाहिये।

इस प्रकार इस सूत्र में मद्यपान, मॉस-भक्षण का उल्लेख करके मॉंस-भक्षण का विरोध न करते केवल अकेले भोजन लाने का निषेध किया है।

सूत्र के सस्कृत टीकाकार शीलाचार्य इस सूत्र पर अपनी यह सम्मति लिखते हैं कि कभी कोई साधु प्रमादी और लोलुपी हो जावे, मद्य, मॉस खाना चाहे, उसके लिए सूत्र में ऐसा लिखा है।परन्तु इसका अभिप्राय पाठक महाशय स्वय निकाल लेवे।

पृष्ठ १९५ पर ६०७ वें सूत्र में लिखा है कि-

"साधु पुराना शहद (मधु) पुरानी शराब आदि न लेवे क्योकि पुरानी शराब आदि मे जीव जतु उत्पन्न हो जाते हैं।"

क्या इसका यह अभिप्राय नही है कि नयी शराब, शहद आदि साधु को कोई दे देवे तो उसे वह ग्रहण कर लेवे ? जिस शहद और शराब मे वह चाहे नयी हो अथवा पुरानी, अनन्त जीव पाये जाते हैं उस शराब, शहद का सेवन पुराने रूप से ही निषेध करना ग्रथकार के किस अभिप्राय पर प्रकाश डालता है ? इसका विचार पाठक स्वय करे।

इसके आगे २०१ पृष्ठ पर ६१९ वे सूत्र में लिखा गया है कि-

"साधु किसी गृहस्थ को माँस खाता देखकर अथवा गर्म पूडियाँ तलते देखकर शीघ्रता से दौडकर उस गृहस्थ से वे पदार्थ न माँगे। अगर किसी रोगी साधु के भोजन करने के लिए वे पदार्थ माँगे तो कुछ हानि नहीं।"

इसका अभिप्राय यह हुआ कि रोगी मुनि के लिए अन्य साधु माँस भी ला सकता है। इसमें आचाराग सूत्र रचयिता को कुछ अनुचित नहीं मालूम होता है।

तदनन्तर २०६–२०७ वें पृष्ठ पर ६२९ वें तथा ६३० वें सूत्र में बतलाया गया है कि–

"साधु को यदि ऐसा माँस या मछली भोजन में किसी गृहस्थ के द्वारा मिले जिसमें खाने योग्य भाग थोडा हो और फेकने योग्य हड्डी, काँटे आदि चीजें बहुत हों तो उस माँस, मछली को न लेवें।"

यदि साधु को कोई गृहस्थ निमन्त्रण देकर कहे कि आपको बहुत हड्डी काँटे वाला माँस मछली चाहिये ? तो साधु कहे कि नही, मुझे बहुत छोड़ने योग्य हड्डी, काँटे वाला माँस नहीं चाहिये। यदि तुम देना चाहते हो तो खाने योग्य केवल दे दो। हड्डी आदि न दो, ऐसा कहते हुए भी यदि वह गृहस्थ उस हड्डीवाले माँस, मछली को साधु के बर्तन में झट डाल देवे तो साधु उस गृहस्थ से कुछ न कहकर कहीं एकात में जाकर वह माँस, मछली खा लेवे और वह हड्डी आदि छोडने योग्य चीजें किसी जीव जन्तु रहित स्थान में डाल देवे ।

इन सूत्रों के विषय में टीकाकार का कहना है कि यह माँस, मछली साधु को लेने के लिए किसी अनिवार्य दशा में (लाचारी की हालत में) लिखा है।

इस प्रकार आचाराग सूत्र अपने इन सूत्रों से स्पष्ट तौर से माँस –भक्षण का विधान करता है।

ऐसे माँस–भक्षण विधायक ग्रथ को आगम कहा जाय या आगमाभास ? इस बात का निर्णय स्वय श्वेताम्बरी भाई अपने निष्पक्ष हृदय से कर लेवें। हमने ऊपर सूत्रों का केवल अभिप्राय इस कारण दिया है कि पिछले प्रकरण में उनका मूल उल्लेख आ चुका है।

२– अब कल्पसूत्र का भी थोडा परिचय लीजिये। यह श्वेताम्बर समाज में परम आदरणीय ग्रथ है। पर्यूषण पर्व में यह सर्वत्र पढा जाता है।स्वय कल्पसूत्र में अपनी (कल्पसूत्र की) महिमा ५ वें पृष्ठ पर इस प्रकार लिखी है कि–

"श्री कल्पसूत्र थी बीजु कोई शास्त्र नथी। मुखमा सहस्र जिह्वा होय अने जो हृदयमा केवल–ज्ञान होय तो पण मनुष्योथी आ कल्पसूत्रनु महात्म्य कही शकाय तेम थी"

अर्थात्– कल्प सूत्र के सिवाय अन्य कोई शास्त्र नही है। मनुष्य के मुख में यदि हजार जीभें हों और हृदय में केवलज्ञान विद्यमान हो तथापि इस कल्पसूत्र की महिमा नहीं कही जा सकती है।

कल्पसूत्र के रचयिता ने जो इतनी भारी महिमा अपने कल्पसूत्र की लिखकर केवलज्ञानी भगवान् का सम्मान किया है वह भी देखने योग्य है। साराश यह है कि श्वेताम्बरी भाई कल्पसूत्र को अन्य ग्रथों से अधिक पूज्य समझते हैं। इस कल्पसूत्र में भी अनेक सिद्धान्त–विरुद्ध, प्राकृतिक नियम–विरुद्ध, धर्म –विरुद्ध बातों का समावेश है।

प्रथम ही २४–२५ वें पृष्ठ पर भगवान् महावीर स्वामी के गर्भहरण की बात लिखी है। यह बात प्रकृति विरुद्ध व असभव है, कर्म सिद्धान्त के प्रतिकूल है। ससार का कोई भी सिद्धान्त न यह मान सकता है और न प्रमाणित कर सकता है कि ८२ दिन का गर्भ एक स्त्री के पेट में से निकालकर दूसरी स्त्री के उदर में रक्खा जा सके और फिर बालक का जीवन बना रहे।

दूसरे– जिन भगवान् महावीर स्वामी को श्वेताम्बरी पूज्य समझते हैं उन महावीर भगवान् का इस कथन से अपमान कितना होता है, इस बात का विचार भी शायद श्वेताबरी भाइयों ने नहीं किया है। पूज्य तीर्थंकर देव का पवित्र शरीर दो प्रकार के (ब्राह्मणी व क्षत्रियाणी के) रजों से बने–वास्तविक पिता ब्राह्मण हो और प्रसिद्धि क्षत्रिय पिता के नाम से हो। इत्यादि।

तीसरे– ब्राह्मणको नीच गोत्री लिखना, इद्र द्वारा भगवान् महावीर स्वामी का नीच गोत्र बदल देना, इत्यादि बातें भी ऐसी हैं जिनमें असत्य कल्पना के सिवाय जैन–सिद्धात, कर्म–सिद्धात रचमात्र भी साथ नही देता।

आगे १०३ वें पृष्ठ पर लिखा है कि "महावीर स्वामी के ११ गणधरों में से मडिक तथा मौर्यपुत्र नामक दो गणधरों की माता एक थी किंतु पिता क्रम से धनदेव और मौर्य ये दो थे। गणधरों की माता ने एक पति के मर जाने पर अपना दूसरा पति बनाया था।"

यह बात भी बहुत भारी अनुचित लिखी है। गणधर सरीखे पूज्य पुरुषों को दो पिताओ तथा एक माता से उत्पन्न हुआ कहना इस सरीखा पाप तथा निंदा का कार्य और क्या हो सकता है। कल्पसूत्र के इस कथन के अनुसार स्त्रियों को अनेक पुरुषों को पति बनाकर सन्तान उत्पन्न करने में कुछ हीनता नही। वे इस निन्द्य सदाचार विरुद्ध सयोग से भी गणधर हो सकने योग्य उन्नत आत्मा पुत्र उत्पन्न कर सकती हैं।

इसके पीछे १११ वें पृष्ठ पर लिखा है कि–

"साधु शरीर के उपयोग के लिए मॉस, मधु और मक्खन को अपवाद दशा में (किसी विशेष हालत में) ग्रहण कर सकता है।"

कल्पसूत्र सरीखे श्वेताम्बर समाज के परमपूज्य ग्रथ की यह बात कितनी निन्द्य और धर्म विरुद्ध है, इसको विशेष स्पष्ट करने की आवश्यकता नही। अहिंसा महाव्रतधारी साधु जब अपने शरीर के उपयोग के लिए मॉंस तक ले सकता है, फिर ससार का अन्य कौन सा निन्द्य पदार्थ शेष रह गया ?

इत्यादि दो–चार ही नही किन्तु अनेक बातें इस कल्पसूत्र में ऐसी लिखी हुई हैं जिन पर कि अच्छा आक्षेप हो सकता है। किन्तु हमने यहाँ पर केवल तीन बातों का ही दिग्दर्शन कराया है। पाठक स्वय न्याय कर लेवें कि यह कल्पसूत्र ग्रथ भी सच्चा आगम कहा जा सकता है अथवा नहीं ?

३– प्रवचन सारोद्धार ग्रथ भी जो कि अनेक भागों में प्रकाशित हुआ है, श्वेताबर समाज में एक अच्छा मान्य प्रामाणिक ग्रथ माना जाता है। इसकी प्रामाणिकता का भी परिचय लीजिये। इस ग्रथ के तीसरे भाग में ५१७ वें पृष्ठ पर लिखा है कि–

"भक्ष्य (खाने योग्य) भोजन १८ अठारह प्रकार का होता है उनमें पाँचवाँ भोजन जलचर जीवों का (मछली आदि का) मॉंस, छठा भोजन थलचर जीवों का (हरिण आदि का) मॉस, सातवाँ, नभचर जीवों का (कबूतर आदि पक्षियो का) मॉस है। पद्रहवॉं भोजन पान यानी शराब आदि है।"

इसकी मूल गाथा ४२७ वी ४३१ वी इस प्रकार है।

"जलथलखयहरमसाइतिन्निजूसोउजीरयाइ जुओ।
मुग्गरसो भक्खाणिय खडीखज्जयपमुक्खाणि"।।४२७।।

"पाण सुराइय पाणियजल पाणग पुणो इच्छ।

दक्खावणिय पमुह सागो सोतक्क सिद्धज" ।।४३१।।

इस प्रकार के भोजन में मास, मदिरा का समावेश किया है । जबकि माँस, मदिरा सरीखे पदार्थ ग्रथकार की दृष्टि मे भक्ष्य भोजन है तो पता नही, अभक्ष्य भोजन कौन मे होगे ?

इसी प्रवचनसारोद्धार के तीसरे भाग के ४३ वे द्वार में २६३ वे पृष्ठ पर ६८३ वी गाथा मे साधु के लिए पाँच प्रकार चमडा बतलाया गया है। गाथा यह है-

"अय एल गावि महिसीमिगाणमजिण च पचम होइ।

तलिगाखल्लग वद्धे कोसग कित्तीअ वीय तु।।६८३।।"

(इस गाथा के अनुसार महाव्रतधारी साधु विशेष अवसर पर जूते के लिए, दो प्रकार से, घायल अंगूठे पर बाधने के लिए, बिछाने तथा पहनने ओढने के लिए भी चमडे का उपयोग कर सकता है ऐसा ग्रथकार का अभिमत है।)

जबकि चमडे सरीखी अशुद्ध, असयम-कारक, निषिद्ध वस्तु जनसाधारण मे अपवित्र, हेय समझी जाती है (गृहस्थाश्रम की झझट में लाचारी से भले ही उसका पूर्ण त्याग न किया जा सके) फिर ऐसे निन्द्य हिंसाजनक पदार्थ का उपयोग, परिधारण अहिसा, परिग्रहत्याग महाव्रतधारी साधु के लिए बतलाना कहाँ तक उचित, सिद्धान्त अनुसार, धर्म का साधक है इसका विचार स्वय करें। हम तो केवल इतना लिखते हैं कि यह ग्रथ भी सच्चा आगम ग्रथ कदापि नही हो सकता क्योकि यदि ऐसा ग्रथ भी प्रामाणिक ग्रथ हो सकता है तो हिसा विधान करने वाले अजैन ग्रथ भी अप्रामाणिक, झूठे आगम नही हो सकते।

४- इसी प्रकार भगवती सूत्र ग्रथ भी श्वेताबर समाज का एक अच्छा प्रामाणिक आगम ग्रथ माना जाता है। इसमे ऐसे-वैसे साधारण के विषय में नही किंतु भगवान् महावीर स्वामी के विषय नें अर्हन्त दशा के समय रोग उपशम करने के लिए १२७० तथा १२७१-१२७३ वें पृष्ठ पर कबूतर का माँस खाना लिखा है जिसके कि खाते ही भगवान् का रोग समूल नष्ट हो गया बताया गया है।

विचार-चतुर पाठक महाशय स्वय् निष्पक्ष हृदय से विचार करें कि यह ग्रथ भी प्रामाणिक आगम ग्रथ हो सकता है या नही ?

पाठक महानुभावो के समक्ष श्वेताबरीय चार प्रख्यात ग्रथो का सक्षिप्त प्रदर्शन किया है। अन्य ग्रथों के विषय में भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। उन ग्रथो मे भी अनेक विषय सिद्धात विरुद्ध, प्रकृति विरुद्ध विद्यमान हैं। इस कारण कहना पडता है कि श्वेताबरीय ग्रथ आगम कोटि में सम्मिलित नही हो सकते हैं।

*****

श्वेताम्बरीय शास्त्रों का निर्माण दिगम्बरीय शास्त्रों के आधार से हुआ है

अब हम इस बात पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं कि श्वेताम्बरीय ग्रथकारों ने अपने ग्रथों की रचना में दिगम्बरीय ग्रथों का आधार लिया है। इस कारण हम उनको मौलिक तथा प्राचीन नहीं कह सकते। वैसे तो कोई भी ऐसा श्वेताम्बरीय ग्रथ उपलब्ध नही जो कि दिगम्बरीय ग्रथ रचना के प्रारम्भ काल से पहले का बना हुआ हो। किन्तु फिर भी जो कुछ भी श्वेताम्बरीय ग्रथ उपलब्ध हैं उनका निर्माण दिगम्बरीय ग्रथो की छाया लेकर हुआ है। यह बात सिद्धान्त, न्याय व्याकरण आदि समस्त विषयों के लिये है। जिन प्राचीन श्वेताम्बरीय विद्वानों को महाप्रतिभाशाली, सर्वज्ञतुल्य प्रख्यात पडित माना जाता है, स्वय उन्होंने अपने ग्रथों के निर्माण में दिगम्बरीय ग्रथों का आधार लिया है। इसी विषय को हम प्रकाश में लाते हैं।

श्री १००८ महावीर स्वामी के मुक्त हो जाने के पीछे तीन केवलज्ञानी हुए उनके पीछे पाँच श्रुतकेवली हुए। फिर कलिकाल के प्रभाव से "आत्माओ में ज्ञान शक्ति का विकास दिन पर दिन घटने लगा जिससे कि भगवान् महावीर स्वामी से प्राप्त द्वादशाङ्ग श्रुतज्ञान को धारण करने का क्षयोपशम किसी मुनीश्वर के आत्मा में न हो पाया। इस कारण कुछ दिनों तक कुछ ऋषि ग्यारह अग दश पूर्व के धारक हुए। तदनन्तर पूर्वो का ज्ञान भी किसी को न रहा, अत केवल ग्यारह अगों को धारण करने वाले ही पाँच साधु हुए। उनके पीछे केवल एक आचाराग के ज्ञाता ही चार मुनिवर हुए। शेष दश अग चौदह पूर्व का पूर्ण ज्ञान किसी को न रहा।

तत्पश्चात् चार ऋषीश्वर ऐसे हुए जिनको पूर्ण एक अग का ज्ञान भी उपस्थित न रहा। वे अग और पूर्वों के कुछ भागों के ही ज्ञाता थे। उनमें अन्तिम मुनि का नाम श्री **१०८ धरसेनाचार्य** था। **इन्होंने** विचार किया कि मेरा आयु समय थोडा अवशेष है, इस कारण जो कुछ मुझको गुरु प्रसाद से तत्त्व ज्ञान है, उसको किसी योग्य शिष्य को पढा जाऊ। क्योंकि आगे मुझ सरीखा ज्ञानधारी भी कोई न हो सकेगा। ऐसा विचार कर वेणाक तटपर एक मुनिसघ विराजमान था उसमें से "**पुष्पदन्त**" और "**भूतबलि**" नामक दो तीक्ष्ण बुद्धिशाली शिष्यो को बुलाया और उनको उन्होंने पढाया। वे दोनों मुनि शीघ्र धरसेनाचार्य से पढ कर विद्वान् हो गये। तत्पश्चात् धरसेनाचार्य स्वर्गयात्रा कर गये।

यहाँ तक जैन साधु तथा गृहस्थ श्रावक मौखिक रूप से अपने गुरु से पढते तथा स्मरण रखते रहे। निर्मल बुद्धि और स्मरणशक्ति प्रबल होने के कारण उनको पाठ पढने-पढाने तथा याद करने-कराने के लिए ग्रथो के सहारे की आवश्यकता न होती। किन्तु पूज्य श्री पुष्पदन्त तथा भूतबलि आचार्य ने मनुष्यों के दिनोदिन गिरते हुए क्षयोपशम, बुद्धिबल एव स्मरण शक्ति की निर्बलता देखकर जैन सिद्धान्त की रक्षा के लिए विचार किया कि अब तत्त्वज्ञान लोगों को बिना शास्त्रों के रचे, मौलिक पढने-पढाने से नही हो सकता। इस कारण अवशिष्ट तात्विक बोध को ग्रथ रूप में रख देना अति आवश्यक है। ऐसा निर्णय कर श्री १०८ **भूतबलि** आचार्य ने

सबसे प्रथम **"षट्खड्डागम"** नामक कर्म ग्रथ लिखकर ज्येष्ठ शुक्ल पचमी के शुभ दिवस में बडे समारोह उत्सव में उस ग्रंथ की पूजा करके शास्त्र निर्माण का प्रारम्भ किया। इससे पहले कोई भी जैन शास्त्र नही बना था। तदनन्तर फिर अन्य-अन्य ग्रथों की रचना होती रही। श्री भूतबलि आचार्य का यह समय अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों से विक्रम सवत् से पहले का निश्चित होता है।

(तदनन्तर कुछ समय पीछे विक्रम सवत् ४९ में श्री कु दकु दाचार्य हुए। उन्होंने समयसार, षट्पाहुड, रयणसार, नियमसार आदि अनेक आध्यात्मिक ग्रंथों की रचना की तथा श्री भूतबलि आचार्य विरचित षट्खड आगम ग्रथ पर बडी टीका रची। इस प्रकार कर्म ग्रथों की तथा आध्यात्मिक आदि विषयों के ग्रथों की रचना दिगम्बरीय ऋषियों ने विक्रम सवत् की प्रथम शताब्दी तथा उससे भी पहले कर डाली थी।)

(श्वेताबरीय ग्रथों में से वैसे तो अधिकाश सूत्रग्रथ श्री देवर्द्धिगण सूरिने छठी शताब्दी में बनाये थे। किन्तु कर्मग्रथों में से शिवशर्मसूरि विरचित **"कर्मप्रकृति"** नामक ग्रथ (४७६ गाथाओ में) पाँचवीं शताब्दी में बना था। उससे पहले कोई भी श्वेताबरीय ग्रथकारों ने कर्म ग्रथ नहीं बनाया था। अतएव श्वेताबरीय कर्म ग्रथ दिगम्बरीय कर्म ग्रन्थो से बाद के हैं। "तदनुसार कर्म ग्रथों की रचना का आश्रय श्वेताबरीय ग्रथकारों ने दिगबरीय ग्रथों पर से लिया होगा न कि दिगम्बरीय ग्रथकारों ने श्वेताम्बरीय ग्रथों पर सें" यह एक साधारण बात है कि जिसको प्रत्येक पुरुष मान सकता है।

अनेक श्वेताम्बरीय सज्जन यह कह दिया करते हैं कि दिगम्बरीय ग्रथ श्वेताम्बरीय ग्रथो के आधार से बनाये गये हैं इस कारण दिगम्बरीय ग्रथों का महत्त्व नही बनता। उन सज्जनो को अपने तथा दिगम्बरीय कर्म ग्रथों पर दृष्टिपात करना चाहिए। आधार प्राचीन पदार्थ का ही लिया जाता है न कि पीछे बने हुए का। इस कारण जब दिगम्बरीय कर्मग्रथ श्वेताबरीय कर्म ग्रथों से पहले बन चुके थे तब आप लोगों के आक्षेप को रचमात्र भी स्थान नही रहता। हाँ, दिगम्बर सम्प्रदाय यह कहना चाहे कि श्वेताम्बरीय कर्म ग्रथ दिगम्बरीय कर्म ग्रथों के आधार से बनाये गये हैं तो वह कह सकता है क्योंकि उसको कहने का स्थान है। इतिहास बतला रहा है कि श्वेताम्बरीय ग्रथ दिगम्बरी ग्रथों से ३००-४०० वर्ष पीछे बने हैं।

आत्मानद जैन पुस्तक प्रचारक मडल आगरा से प्रकाशित **"पहला कर्मग्रथ"** नामक श्वेताम्बरीय पुस्तक के १९१ वें पृष्ठ पर मानचित्र खीच कर श्वेताम्बरीय कर्म ग्रथों का विवरण दिया है। वहाँ पर **"कर्म प्रकृति"** नामक ग्रथ को पहला श्वेताम्बरीय कर्मग्रथ लिखकर उसका रचना समय पाँचवी विक्रम शताब्दी लिखी है। श्री भूतबलि आचार्य (दिगम्बर ऋषि) **"षट्खड आगम"**नामक दिगम्बरीय कर्म ग्रथ के बनाने वाले हैं जो कि श्री कुदकुन्दाचार्य से भी पहले हुए हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम की प्रथम शताब्दी में (अनुमान ४९ में) हुए हैं यह अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध है। इस कारण सिद्ध हुआ कि दिगम्बरीय कर्म ग्रथ श्वेताम्बरीय कर्म ग्रथों से पहले बन चुके थे।

अब हम न्यायविषयक ग्रथों पर भी प्रकाश डालते हैं कि न्याय ग्रथों के निर्माण में किस सम्प्रदाय ने किस सप्रदाय की नकल की है।

जैन न्यायग्रंथों के आदि विधाता

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पीछे श्री उमास्वामी आचार्य प्रख्यात जैन साधु हुए। उनके पीछे विक्रम सवत् दूसरी शताब्दी के प्रथम भाग में स्वामी "समन्तभद्राचार्य" नामक असाधारण विद्वत्ता और वाग्मिता के स्वामी दिगम्बर जैन आचार्य हुए। ये वालब्रह्मचारी तथा एक क्षत्रिय नरेश के पुत्र थे। सरस्वती इनकी रचना पर नृत्य करती थी। इन्होंने काची (कर्नाटक) से लेकर पूर्वीय भारत के ढाका (बगाल) नगर तक दिग्विजय की थी। उस जमाने में जिस किसी भी नगर में दिग्गज विद्वानों का समुदाय होता था उसी नगर में जाकर समन्तभद्राचार्य वादभेरी को बजा देते थे ओर वहाँ के विद्वानो से शास्त्रार्थ करके उन्हें पराजित कर देते थे और जैन धर्म का तथा उसके स्याद्वाद सिद्धात का असाधारण प्रभाव जनता पर डालते थे।

काचीपुर, मदसौर (मालवा), बनारस, पटना, सिन्धदेश, ढाका आदि नगरों में पहुँचकर समन्तभद्राचार्य ने बडे-बडे शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की थी , यह बात अनेक ऐतिहासिक प्रमाण प्रमाणित कर रहे हैं।

काशी में अनुपम शिवभक्त राजा शिवकोटिने अपने राजमद में आकर समन्तभद्राचार्य से दुराग्रह किया था कि आप हमारे पूज्य शिवलिंग को नमस्कार कीजिये। समन्तभद्राचार्य ने कहा कि राजन् मेरे नमस्कार को केवल अर्हत प्रतिमा सहन कर सकती है। तुम्हारा शिवलिग मेरे नमस्कार को न सह सकेगा। किन्तु राजहठ से वशीभूत शिवकोटि राजा ने न माना और शिवलिंग को नमस्कार करने का दुराग्रह किया। तब समन्तभद्राचार्य ने स्वयम्भूस्तोत्र बनाकर चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन किया। उस समय सात तीर्थंकरो का स्तोत्र पढ लेने पर जब उन्होंने आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ का स्तोत्र प्रारम्भ किया तब दूसरा श्लोक –

"यस्यागलक्ष्मीपरिवेशभिन्न, तमस्तमोरेरिव रश्मिभिन्नम् ।
ननाश बाह्य बहु मानस च, ध्यान प्रदीपातिशयेन भिन्नम् ।।

पढा ,उस समय शिवलिङ्ग फट कर चूर-चूर हो गया और उसमे से चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की मूर्ति प्रगट हो गई। इस दिव्य अतिशय को देखकर शिवकोटि राजा राज्य का त्याग कर समन्तभद्राचार्य का शिष्य दिगम्बर साधु हो गया। पश्चात् उसने "भगवति आराधना" नामक प्राकृत ग्रथ बनाया जो कि इस समय उपलब्ध भी है।

श्रवणबेलगोल (मद्रास) के ५४ वें शिलालेख में अतिम श्लोक इस प्रकार है–

"पूर्व पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालवसिन्धुढक्कविषये काचीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोह करहाटक बहुभट विद्योत्कट सकट,
वादार्थी विचराम्यह नरपते शार्दूलविक्रीडित।।"

यह श्लोक समन्तभद्राचार्य ने "करहाटक" यानी कराड (सतारा) नगर में वहाँ के राजा के सामने कहा था। इसका अर्थ ऐसा है कि–

पहले मैंने पटना नगर में वाद भेरी (शास्त्रार्थ करने की सूचना देने वाला नगर) बजाई फिर मालवा, सिंधु, ढाका, काचीपुर, भेलसा इन प्रधान–प्रधान नगरों में भी बेरोकटोक वाद भेरी बजाई। अब विद्या के स्थान भूत, सुभटों से भरे हुए इस कराड नगर में आया हूँ। हे राजन् मैं शास्त्रार्थ करने का इच्छुक सिंह के समान निर्भय सर्वत्र घूमता फिरता हूँ।

काशी में शिवकोटि राजा के सन्मुख समन्त ,भद्राचार्य ने जो श्लोक कहा था उसका अन्तिम पद यह है।

"राजन! यस्यास्ति शक्ति स वदतु पुरतो जैन निर्ग्रंथवादी।"

अर्थात्–हे राजन् ! जिसमें मेरे साथ शास्त्रार्थ करने की शक्ति हो वह मेरे सामने आ जावे मैं दिगम्बर जैनवादी हूँ।

श्रवणवेलगोल के १०५ वें (२५४) शिलालेख के अत में लिखा हुआ है कि–

समन्तभद्रस्स चिराय जीया–वादीभवज्राकुशसूक्तिजात ।
यस्य प्रभावात्सकलावनीय बध्यास दुर्वादुकवार्त यापि।।

अर्थात्– वह समन्तभद्राचार्य सदा जयशाली रहे क्योंकि वादी (शास्त्रार्थ करने वाले) रूपी हाथियों को निर्मद करने के लिए वज्र अकुश के समान जिसका वचन है। तथा जिसके प्रभाव से समस्त पृथ्वी मडल दुर्वादियों से शून्य हो गया है। अर्थात् समन्तभद्र के प्रभाव से कोई भी वादी बोलने की शक्ति नहीं रख पाता है।

इत्यादि २–४ शिलालेखों में ही नही किन्तु सैकडों भिन्न–भिन्न ग्रथकारो ने समन्तभद्राचार्य को अपने ग्रथों में आदर के साथ "वादिसिंह, सरस्वती विहार भूमि, कवि कुजर, परवादिदन्तिपचानन, महाकविब्रह्म, महाकवीश्वर, कविवादिवाग्मिचूडामणि" इत्यादि विशेषणों के साथ स्मरण किया है।

अन्य बातों को दूर रख कर हम यदि श्वेताम्बरी ग्रथकारो की ओर दृष्टिपात करें तो उन्होंने भी स्वामी समन्तभद्राचार्य की प्रखर विद्वता को हृदय से स्वीकार किया है। देखिये श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य श्री हरिभद्रसूरिने अपने अनेकान्तजयपताका नामक ग्रथ में "वादि मुख्य" (शास्त्रार्थ करने वालों में प्रधान) विशेषण से समन्तभद्राचार्य का स्मरण किया है। अनेकान्त जयपताका की स्वोपज्ञ टीका में लिखा है कि "आह च वादिमुख्य समन्तभद्र' अर्थात्–वादिमुख्य समन्तभद्र भी यों कहते हैं।

ऐसी विश्वविख्यात विद्वत्ता के अधिकारी श्री समन्तभद्राचार्य ने ही सब से प्रथम जैन न्याय ग्रथों की रचना प्रारम्भ की थी। यद्यपि समन्तभद्राचार्य सिद्धान्त, साहित्य,व्याकरण आदि विषयों के भी असाधारण पडित महाकवि ब्रह्मा कहलाते थे किन्तु इसमें सन्देह नही कि समस्त विषयों से अधिक उन्होंने न्याय विषय का पाण्डित्य प्रगट किया था। वे अपने भगवत्स्तोत्रों में भी असाधारण विद्वता के साथ न्याय विषय को भर गये हैं जिससे कि मनुष्य उनके बनाये हुए स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन आदि ग्रथों को पढकर न्यायवेत्ता विद्वान् बन सकता है।

समन्तभद्राचार्यने "प्रमाणपदार्थ, जीवसिद्धि" आप्तमीमासा, युक्त्यनुशासन आदि अनेक न्याय ग्रथों की रचना की है जिनमें प्रत्येक ग्रथ अपने विषय का असाधारण ग्रथ है। समन्तभद्राचार्य ने न्याय का सबसे प्रधान ग्रथ तत्त्वार्थ सूत्र पर "गन्धहस्तिमहाभाष्य नामक ग्रथ चौरासी हजार ८४००० श्लोकों के परिमाण वाला लिखा है जो कि दुर्भाग्य से आज दिन अनुपलब्ध है।

साराश यह है कि जैन न्याय ग्रथ रचना की नींव समन्तभद्राचार्य ने ही डाली थी। इनके पहले कोई भी जैन न्याय ग्रथ किसी श्वेताम्बर विद्वान् ने नहीं बनाया था। श्वेताबरीय न्याय ग्रथ के आदि विधाता सिद्धसेन दिवाकर को बतलाया जाता है जिन्होंने कि न्यायावतार ग्रथ बनाया है। किन्तु ये सिद्धसेन समन्तभद्राचार्य के पीछे हुए हैं। क्योंकि इन्होंने समन्तभद्राचार्य विरचित रत्नकरड श्रावकाचार का ९ वा श्लोक "आप्तोपज्ञमनुल्लघ्य" इत्यादि श्लोक का उल्लेख न्यायावतार में मूल रूप से लिख दिखाया है।

समन्तभद्राचार्य के पीछे श्री "अकलकदेव" हुए। ये एक राज मन्त्री के बालब्रह्मचारी पुत्र थे। स्मरण शक्ति इनकी इतनी असाधारण थी कि एक बार पढ लेने से ही इनको पाठ याद हो जाता था। इसी कारण इनका नाम एकस्थ था। इनके लघु भ्राता निष्कलक भी बहुत भारी विद्वान् थे, इन दोनों भ्राताओ का जीवन चरित बहुत रोचक है। निष्कलक ने जैन धर्म के लिए प्राण दान किया था। श्री अकलंक देव के समय में बौद्ध धर्म इस भारत वर्ष में बहुत फैला हुआ था। इस बौद्ध धर्म के प्रभाव का अत इन अकलक देव ने किया था।

राजा हिमशीतल की राज सभा में इन्होंने बौद्ध गुरु के साथ शास्त्रार्थ किया था जिसमें थोडी सी देर में ही वह दिग्गज विद्वान् अकलक देव से हार गया। फिर उसने दूसरे दिन अपनी इष्ट तारा देवी का आराधन करके उसको एक घडे में स्थापित करके उसके द्वारा अपनी बोली में अकलक देव के साथ शास्त्रार्थ कराया जो कि बराबर ६ महीने तक चलता रहा। अत में देवलीला समझकर अकलक देव ने उस तारादेवी को भी एक दिन में ही हरा दिया।

यह शास्त्रार्थ अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों से सत्य प्रमाणित है। इस शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करके श्री अकलक देव ने बौद्ध विद्वानों के साथ अनेक स्थानों पर अनेक शास्त्रार्थ किये और उनमें असाधारण विजय प्राप्त करके भारत भर में जैन धर्म का डका बजाया तथा बौद्ध धर्म का उग्र तेज बहुत फीका कर दिया।

श्रवण बेलगोल के शिलालेखों में श्री अकलकदेव स्वामी के निम्नलिखित श्लोक पाये जाते हैं–

> राजन् साहसतुङ्ग सन्ति बहव· श्वेतातपत्रा नृपा
> किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभा।
> तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयोवागीश्वरा वाग्मिनो
> नानाशास्त्रविचारचातुरधिय काले कलौ मद्विधा.।

अर्थात्– हे साहसतुङ्ग राजन्! यद्यपि सफेद छत्रधारक भूपति बहुत से हैं किन्तु तुम सरीखा युद्ध में विजय प्राप्त करने वाला राजा कोई भी नही है। इसी प्रकार यद्यपि इस समय अनेक

विद्वान् पाये जाते हैं किन्तु इस कलिकाल में मुझ सरीखा कवि, वागीश्वर, वाग्मी तथा अनेक प्रकार के शास्त्र विचारों में चातुर्य रखने वाला विद्वान् भी कोई नहीं है।

राजन् सर्वारिदर्पप्रविदलनपटुस्त्व यथात्र प्रसिद्ध-
स्तद्वत्ख्यातोहमस्यं भुवि निखिलमदोत्पाटने पडितानाम् ।
नो चेदेपोहमेते तव सदसि सदा संति सन्तो महान् तो
वक्तुं यस्यास्ति शक्ति स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदिस्यात् ।

अर्थात्- भो राजन्! जिस प्रकार तुम समस्त शत्रुओ का मान भङ्ग करने में कुशल प्रसिद्ध हो उसी प्रकार मैं इस भूमडल पर विद्वानों का विद्यामद दूर करने के लिए प्रसिद्ध हूँ। यदि इस बात को तुम असत्य समझते हो तो तुम्हारी सभा में बहुत से उद्भट विद्वान् विद्यमान हैं उनमें से यदि किसी में शक्ति है तो समस्त शास्त्रवेत्ता विद्वान् मेरे सामने शास्त्रार्थ करने आ जावें।

इन उपर्युक्त श्लोकों से श्री अकलक देव का जो असाधारण प्रखर पाण्डित्य प्रगट होता है उसको जुदे बतलाने की आवश्यकता नही। यद्यपि इन अकलक देव की विद्वत्ता समस्त विषयों में विद्यमान थी किन्तु समय के अनुसार तर्क विषय उनमें से असाधारण था। इसी कारण अनेक शास्त्रार्थों में वे यशस्वी हुए। एव उन्होंने जो ग्रथ बनाये हैं उनमें से अधिकाश ग्रथ न्यायविषयक हैं।

राजवार्तिक, अकलक प्रायश्चित के सिवाय अष्टशती, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रयी, वृहत्त्रयी, न्यायचूलिका आदि ग्रथ न्याय विषय के श्री अकलक देव ने लिखे हैं, जो श्री अकलकदेव कैसे विद्वान् थे, उसकी साक्षी ये ग्रथरत्न दे रहे हैं।

ये स्वामी अकलकदेव विक्रम सवत् की आठवी शताब्दी में हुए हैं ऐसा श्रीमान् सतीश चन्द्र विद्याभूषण आदि विद्वानो ने निश्चय किया है।

अकलक देव के पीछे श्री विद्यानद स्वामी भी एक बडे प्रभावशाली असाधारण तार्किक विद्वान् हुए हैं। ये पहले वेदानुयायी थे किन्तु स्वामी समन्त भद्राचार्य के बनाये हुए श्री देवागम स्तोत्र को मार्ग में चलते हुए सुनकर जैन धर्म की सत्यता जॉचकर दिगम्बर जैन साधु हो गये थे। पीछे इन्होंने जो अनेक ग्रथ रचे हैं वे सभी न्याय विषय के ग्रथ हैं। उन ग्रथो के अवलोकन करने से विद्वान् उनकी अनुपम विद्वत्ता का पता चला सकते हैं।

इन्होंने अष्टसहस्री श्लोकवार्तिक, विद्यानदमहोदय, आप्तपरीक्षप्रमाणनिर्णय, युक्त्यनुशासनटीका, प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा, प्रमाणमीमासा आदि अनेक उच्च कोटि के निर्माण किये हैं। इनका समय विक्रम स ८३२ से ८९५ तक निश्चित होता है। यहाँ तक भी कोई श्वेताबरीय ग्रथ न्याय विषय का नही बन पाया था।

इनके पीछे श्री माणिक्यनदि आचार्य हुए हैं। इन्होने न्याय विषय की सूत्र रूप मे रचना करके 'परीक्षा मुख' नामक ग्रथ बनाया। ये अकलक देव के पीछे हुए हैं, किन्तु कही-कही पर इनका समय विक्रम स ५६९ उल्लिखित है।

इस परीक्षामुख ग्रथ की श्री प्रभा चन्द्र आचार्य ने बहुत भारी टीका रचकर प्रमेय कमलमार्तण्ड नामक उच्चकोटि का न्याय ग्रथ बनाया है। जिसकी बराबरी का न्याय ग्रथ अन्य कोई नही पाया

जाता। इन्हीं प्रभाचन्द्र आचार्य ने प्रमेय कमलमार्तण्ड की समानता रखने वाला न्यायकुमुदचन्द्रोदय ग्रथ भी बनाया है। तथा राजमार्तण्ड, प्रमाण दीपक, वादिकौशिकमार्तण्ड, अर्थ प्रकाश आदि अनेक न्याय विषय के ग्रथ भी प्रभाचन्द्राचार्य ने बनाये हैं जो कि उनकी न्याय विषयक विद्वत्ता की साक्षी दे रहे हैं।

श्री प्रभाचन्द्र आचार्य विक्रम सवत् १०६० से ११९५ तक के समय में हुए हैं। इस समय तक भी कोई श्वेताम्बरीय न्याय ग्रथ नहीं बन पाया था। इस कारण न्याय शास्त्रों के विषय में भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय दिगम्बर सम्प्रदाय पर यह आक्षेप नहीं कर सकता कि दिगम्बरीय न्याय ग्रथ श्वेताम्बरीय न्याय ग्रथों के आधार पर बने हैं। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय को इसके विपरीत कहने का अवसर है कि श्वेताम्बरीय न्यायग्रथ दिगम्बरी न्याय ग्रथों से पीछे बने हैं। इस कारण हो सकता है श्वेताम्बरीय विद्वानों ने न्याय ग्रथों के निर्माण में दिगम्बरीय न्याय ग्रथों का आधार लिया है। यह बात केवल सभावना रूप में ही नही है किन्तु सत्य भी है। इस पर हम प्रकाश डालते हैं।

श्वेताम्बरीय ग्रथकारों में न्यायशास्त्र के प्रख्यात रचयिता श्री वादिदेवसूरि हुए हैं। ये वादिदेवसूरि विक्रम स ११७४ में सूरि पद पर आरूढ हुए थे। श्वेताबरीय ग्रथों में उल्लेख है कि बडे-बडे ८४ शास्त्रार्थों में प्रबल विजय प्राप्त करने वाले दिग्विजयी श्री कुमुदचन्द्राचार्य को वादिदेवसूरिने शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था। इसी कारण इन वादिदेवसूरि की विद्वत्ता का श्वेताबरीय ग्रथों में बहुत गुणगान किया गया है। श्री कुमुदचन्द्राचार्य श्री वादिदेवसूरि के साथ शास्त्रार्थ में हारे या जीते थे इसका उत्तर हम पीछे देंगे किंतु उसके पहले हम दिग्विजयी श्री कुमुदचन्द्राचार्य को जीतने वाले वादिदेवसूरि की विद्वत्ता का परिचय कराते हैं।

वादिदेवसूरिने "प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार" नामक एक न्याय ग्रथ सूत्र रूप में लिख है। वादिदेवसूरि इतने भारी उद्भट नैयायिक विद्वान् थे कि उन्होंने अपना यह ग्रथ बनाने दिगम्बरीय न्याय ग्रथ परीक्षामुख की आद्योपान्त नकल कर डाली है। केवल सूत्रों के शब्दों में उल फेर की है अथवा कुछ अधिक सूत्र बनाये हैं। शेष कुछ भी विशेषता नही रक्खी है। हाँ, इतन विशेषता अवश्य है कि परीक्षामुख के सिवाय आपने प्रमेय-कमलमार्तण्ड को भी सामने रक्ख और कुछ विषय उसमें से लेकर भी सूत्र बना दिये हैं। इस प्रकार परीक्षा-मुख और प्रमेय-कमलमार्तण्ड के आधार से प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार ग्रथ की काया तैयार हुई है। इसका चि निम्नलिखित रूप से अवलोकन कीजिये।

प्रथम ही परीक्षा-मुख और प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार के प्रथम परिच्छेद के सूत्रों क देखिये-

परीक्षा-मुख में पहला सूत्र है "स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान प्रमाण" त प्रमाणनयतत्वालोकालकार में दूसरा सूत्र "स्वपरव्यवसायि ज्ञान प्रमाणम्" है। यहाँ केवल परीक्षा-मुख की नकल करने में "अपूर्व" विशेषण छोड दिया है।

परीक्षा मुख का दूसरा सूत्र है "हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थ हितप्रमाण ततो ज्ञानमेव तत्" इसके स्थान पर वादिदेवसूरिने "अभिमतानभिमतवस्तुस्वीकारतिरस्कारक्षम हि प्रमाणमतो ज्ञानमेवेदम्" यह सूत्र बना दिया है।

जब परीक्षामुख में तीसरा सूत्र "तन्निश्चयात्मक समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत्" है तब प्रमाणनयतत्वालोकालकार में छठा सूत्र "तद्व्यवसायस्वभाव समारोपपरिपन्थित्वात् प्रमाणत्वाद्वा" है।

परीक्षा मुख के सातवें, आठवें सूत्र "अर्थन्येव तदुन्मुखतया, घटमहमात्मना वेद्मि" के स्थान पर प्रमाणनयतत्वालोकालकार में एक १६ वाँ सूत्र "बाह्यस्येव तदामुख्येन करिकलभकमहमात्मना जानामीति" है। यहाँ पर केवल दृष्टान्त और क्रिया बदली है।

परीक्षा मुख के ११ वें १२ वें सूत्र "को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छस्तदेव तथा नेच्छेत, प्रदीपवत्" हैं और प्रमाणनयतत्त्वालकारमें एक १७ वॉ सूत्र उसकी नकल का "क खलु ज्ञानस्यावलबन बाह्य प्रतिभातमभिमन्यमानस्तदपि तत्प्रकार नाभिमन्येत मिहिरालोकवत्" है।

परीक्षामुख का अन्तिम सूत्र "तत्प्रामाण्य स्वत परतश्च" है। प्रमाणनयतत्वालोकालकार में अतिम सूत्र "तदुभयमुत्पत्तौ परत एव ज्ञप्तौ तु स्वत परतेश्चेति" है। इस सूत्र के निर्माण में वादि देव सूरि ने प्रमेयकमलमार्तण्ड का विषय भी उधार ले लिया है!

इस प्रकार प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार का प्रथम परिच्छेद परीक्षा मुख के प्रथम परिच्छेद से बिल्कुल मिलता-जुलता है, केवल शब्दो का थोडा सा अन्तर है ।शेष विषय वर्णन-शैली और सूत्र रचना परीक्षामुख के ही समान है।

अब दोनों ग्रथों के द्वितीय परिच्छेद पर दृष्टिपात कीजिये।वहॉ भी ऐसी ही बात है। परीक्षा-गुख ने जब अपने दूसरे परिच्छेद में प्रत्यक्ष प्रमाणका स्वरूप बतलाया है तब प्रमाण नयतत्वालकारने भी ऐग्ग ही किया है। देखिये-

परीक्षामुख के प्र ।म्भिक दो सूत्र "तद्द्वेधा, प्रत्यक्षेतरभेदात्" हैं तब प्रमाणनयतत्त्वालकार का पहला सूत्र "तद्द्विभेद प्रत्यक्ष च परोक्ष च" है। इनमें कुछ भी अन्तर नही।

परीक्षामुख तीसरा सूत्र "विशद प्रत्यक्षम्" विद्यमान है। प्रमाणनयतत्त्वालकार में उसकी समानता पर "स्पष्ट प्रत्यक्षम्" **सूत्र कर** दिया है। अर्थ दोनो का ठीक एक ही है।

परीक्षामुखका चौथा सूत्र " प्रतीत्यन्तराव्यवधानने विशेषवत्तया वा वैशद्यम् " है। वादिदेवसूरिने इसके स्थान पर "अनुमानाद्याधिक्येन विशेष प्रकाशन स्पष्टतम्" सूत्र बना दिया है।

परीक्षामुख कार ने पाँचवॉ सूत्र "इन्दियानिन्द्रिय निमित्त देशत साव्यवहारिकम्" लिखा है, तब वादिदेवसूरिने भी "तत्राद्य द्विविधमिन्द्रियनिबन्धनमनिन्द्रियनिबन्धन च" यह पाँचवाँ सूत्र बनाया है।

परीक्षामुख के इस द्वितीय परिच्छेद के अंतिम सूत्र "सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसभवात्" की टीकारूप में प्रमेयकमलमार्तण्ड ग्रथ में श्रीप्रभाचन्द्राचार्य ने केवलिकवलाहार का तथा स्त्री मुक्ति का युक्ति पूर्वक निराकरण किया है। वादिदेवसूरिने उस निराकरण को धो डालने के इरादे से अपने प्रमाणनयतत्त्वालोकालकारके द्वितीय परिच्छेद का अन्तिम सूत्र बनाया है- "नच कवलाहारवत्वेन तस्यासर्वज्ञत्व कवलाहारसर्वज्ञत्वयोरविरोधात्" यहाँ पर त्रुटि फिर भी यह रह गई कि स्त्रीमुक्ति के मडन में वादिदेवसूरिने कुछ नहीं लिखा। अथवा लिख न सके।

इस प्रकार दोनों ग्रथों के द्वितीय परिच्छेद को अवलोकन करने से भी यह निश्चित होता है कि प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार का ढाँचा परीक्षामुख के विषय तथा अर्थ एव शैली को लेकर ही तैयार किया गया है।

अब दोनों ग्रथों के तीसरे परिच्छेद को भी देखिये। इस परिच्छेद में परोक्ष प्रमाण का स्वरूप बतलाया गया है।

परीक्षामुख का पाँचवाँ सूत्र "दर्शनस्मरणकारणक सकलन प्रत्यभिज्ञान। तदेवेद तत्सदृश तद्विलक्षण तत्पतियोगीत्यादि" है। प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार का तीसरा सूत्र इसी की समानता पर "अनुभवस्मृतिहेतुक तिर्यगूर्ध्वता सामान्य दिगोचर सङ्कलनात्मक ज्ञान प्रत्यभिज्ञान" बनाया गया है।

तर्क प्रमाण का लक्षण परीक्षामुख के ११ वें सूत्र में "उपलम्भानुपलम्भनिमित्त व्याप्तिज्ञानमूह " यों किया है। उसी तर्क प्रमाण का लक्षण प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार के ५वें सूत्र में "उपलम्भानुपलम्भसम्भव त्रिकालीकलिताध्यसाधन सम्बन्धाद्यालम्वनमिदमस्मिन् सत्येव भवतीत्याद्याकार सवेदनमूहापरनामा तर्क " ऐसा किया है। इन दोनों सूत्रों के अर्थ, तात्पर्य, लक्षण में कुछ भी अन्तर नही है। शब्द भी समान हैं।

साध्य का लक्षण परीक्षामुख ने २० वें सूत्र में "इष्टमबाधितमसिद्ध साध्यम्" किया है। यही लक्षण वादिदेवसूरिने १२ वें सूत्र में "अपतीतमनिराकृतमभीप्सित साध्यम्" इस तरह लिख दिया है केवल इष्ट, अबाधित और असिद्ध इन तीनों शब्दों के पर्यायवाचक अभीप्सित, अनिराकृत, अप्रतीत ये दूसरे शब्द रख दिये हैं। लक्षण और तात्पर्य एक ही है।

परीक्षामुख में ३६ वाँ सूत्र "को वा त्रिधा हेतु मुक्तत समर्थयमानो न पक्षयति" है। इसके स्थान पर प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार में" त्रिविध साधनमभिधायैव तत्समर्थन विदूधान क खलु न पक्ष प्रयोगमङ्गीकुरुते" यह २३ वा सूत्र लिखा है। तात्पर्य और शब्द रचना में रचमात्र भी अन्तर नही है।

उपनय का लक्षण परीक्षामुख ५० वें सूत्र में "हेतोरूपसहार उपनय " किया है तब वादिदेवसूरिने ४६ वें सूत्र में "हेतो साध्यधर्मिण्युपसहरणमुपनय " यो किया है। विज्ञ पाठक दोनों सूत्रों के शब्द देखकर स्वय समझ सकते हैं कि इन दोनों सूत्रों में जरा भी अन्तर नही है।

हेतु के भेद करते हुए परीक्षामुख में ५७ वाँ सूत्र " स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्" है। इस सूत्र के स्थान पर वादिदेवसूरिने ५१ वा सूत्र "उक्तलक्षणो हेतुर्द्विपकार उपलब्धनुपलब्धिभ्या भिद्यमानत्वात्" ऐसा लिखा है। इन दोनों सूत्रों में कुछ भी अतर नही है।

इसके आगे का सूत्र परीक्षामुख में "उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च" यों लिखा है। उसी प्रकार प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार में "उपलब्धिर्विधिनिषेधयो सिद्धि निबन्धनमनुपलब्धिश्च" ऐसा सूत्र लिखा है। विद्वान् पुरुष विचार करें। हेतुओ के भेद कथन, शाब्दिक रचना तथा तात्पर्य रूप से इन दोनों सूत्रों में कुछ भी अन्तर नही है।

सत्तात्मक साध्य के समय अविरुद्ध, उपलब्ध्यात्मक हेतु के छह भेद करते हुए परीक्षामुख में ५९ वाँ सूत्र" अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात्" लिखा गया है। इस एक सूत्र की नकल करते हुए वादिदेवसूरिने प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार में ६४ व ६५ वें "तत्रा-विरुद्धोपलब्धिर्विधिसिद्धौ षोढा, साध्येनाविरुद्धाना व्याप्यकार्यकारणपूर्वचरोत्त-रचरसह

चराणामुपलब्धिरिति" ये दो सूत्र लिखे हैं। शब्दों में थोडा सा फेरफार किया है। शेष सब परीक्षामुख का वाक्य विन्यास कर दिया है। हेतु के भेद जैसे जिनतने तथा जिस नाम के श्री माणिक्यनन्दि आचार्य ने परीक्षामुख में किये हैं ठीक उसी प्रकार वादिदेवसूरिने भी लिख दिये हैं।

इस सूत्र के आगे के सूत्रों में प्रत्येक प्रकार के हेतु भेद के दृष्टात जैसे परीक्षामुख में लिखे हैं उसी प्रकार के दृष्टान्त श्वेताम्बरीय ग्रथ प्रमाणनयतत्त्वालकार में उल्लिखित हैं।

अभावात्मक साध्य के अवसर पर साध्य से अविरुद्ध अनुपलब्धि रूप हेतु के साथ भेद बतलाने वाले ७८ वाँ सूत्र परीक्षामुख में "अविरुद्धानुपलब्धि प्रतिषेधे सप्तधा स्वभाव व्यापक कार्य कारण पूर्वोत्तर सहचरानुपलम्भभेदात" लिखा है। तब वादिदेवसूरिने इस सूत्र के स्थान पर प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार में ९० तथा ९१ वाँ सूत्र "तत्राविरुद्धानुपलब्धि प्रतिषेधावबोधे सप्तप्रकारा, प्रतिषेध्येनाविरुद्धाना स्वभावव्यापक कार्यकारणपूर्णचरोत्तर–चरसहचराणामनुपलब्धिरिति" लिख दिया है। परीक्षामुख के उपर्युक्त सूत्र से इन सूत्रों में किसी भी बात का अतर नही है। यदि प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार ग्रथ को वादिदेवसूरिने परीक्षामुख का बिना आश्रय लिए स्वतन्त्रता से बनाया होता तो परीक्षामुख के सूत्रों के साथ इतनी भारी समानता न होती।

इन सात प्रकार के हेतुओ के दृष्टान्त जिस प्रकार परीक्षामुख में दिये हैं ठीक उसी प्रकार प्रमाणनयतत्त्वालकार में भी दिये गये हैं।

आगम प्रमाण का स्वरूप परीक्षमुख के तीसरे परिच्छेद के अन्त में ही कर दिया है। वादिदेवसूरिने आगमप्रमाण के लिए एक परिच्छेद अलग बना दिया है। परतु परीक्षामुख में आगम प्रमाण का लक्षण बतलाते हुए ९९ वा सूत्र "आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागम " लिखा है। इसी प्रकार इस सूत्र के स्थान पर प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार के चौथे परिच्छेद का पहला सूत्र "आप्त वचनादाविर्भूतमर्थसवेदनमागम " लिखा है। दोनों सूत्रो के शब्द समान हैं और तात्पर्य में भी कुछ अतर नही है।

इस प्रकार उक्त दोनों ग्रथों के तीसरे परिच्छेद का अवलोकन करने से सिद्ध होता है कि प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार की शारीरिक रचना परीक्षामुख का फोटो लेकर हुई है।

इसके आगे परीक्षामुख के चौथे परिच्छेद और प्रमाणनयतत्त्वालकार के पॉचवें परिच्छेद का मिलान किया जावे तो वे दोनों परिच्छेद आदि से अन्त तक ज्यों के त्यों मिलते हैं। सूत्र सख्या भी ८ और ९ ही है परीक्षामुख में केवल एक सूत्र उससे अधिक है।

परीक्षामुख के पहले सूत्र में प्रमाण के गेय विषय का स्वरूप "सामान्याविशेषात्मा, तदर्थो विषय " ऐसा बतलाया है। प्रमाणनयतत्त्वालोकालकारमें इसी सूत्र को "तस्य विषय सामान्य विशेषाद्यने कान्तात्मक वस्तु" ऐसे लिख दिया है। पाठक महाशय समझ सकते हैं कि दोनों सूत्रों के शब्द, अर्थ, तात्पर्य ,उद्देश्य आदि में कुछ भी अन्तर नही है।

इन दो परिच्छेदों के तीसरे सूत्र को देखिये–परीक्षामुख में "सामान्य द्वेवा तिर्यगूर्ध्वताभेदात् ऐसे लिखा है। प्रमाणनयतत्त्वालकार में सामान्य द्विप्रकार

तिर्यक्सामान्यमूर्ध्वतासामान्यञ्च "इस प्रकार लिख दिया है। द्वेधा और द्विप्रकार शब्दों का अर्थ एक ही है अन्तर इतना है कि सूत्र रचना की दृष्टि से अक्षरलाघव के कारण "द्वेधा" शब्द ही होना अच्छा है।

इस प्रकार दोनों ग्रथो के ये दोनों परिच्छेद भी समान ही हैं।

उक्त दोनो ग्रथों में से परीक्षामुख के पचम परिच्छेद में और प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार के षष्ठ परिच्छेद में प्रमाण का फल बतलाया गया है। यह विषय परीक्षामुख ने तीन सूत्रों में और प्रमाणनयतत्त्वालोकालकारने २२ सूत्रों में समाप्त किया है। इस प्रकरण में भी परीक्षामुख का आश्रय लेकर ही प्रमाणनयतत्त्वालकारका यह परिच्छेद रचा गया है। देखिये–

परीक्षामुख का तीसरा सूत्र "य प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीते " इस प्रकार लिखा है तब इसके स्थान पर प्रमाणनयतत्त्वालकार में प्रमिमीते स एवोपादत्ते परित्यजत्युपेक्षते चेति सर्वसव्यवहारिभिरस्खलितमनुभवात्" इस प्रकार लिखा है। बुद्धिमान पुरुष विचार सकते हैं कि दोनों सूत्रों के तात्पर्य में तथा शब्दों में कुछ अन्तर नहीं है। केवल वादिदेवसूरि ने सूत्र में अन्तिम कुछ शब्द बढा दिये हैं।

इस प्रकार श्वेताम्बर आचार्य वादिदेवसूरिने अपना प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार नामक न्याय ग्रथ परीक्षामुख तथा प्रेमयकमलमार्तण्ड नामक दिगम्बरीय ग्रथों के आधार से बनाया है। आरम्भ से अत तक वादिदेवसूरिने परीक्षामुख की छाया ग्रहण की है। कही–कही पर कुछ सूत्र नवीन भी निर्माण कर दिये हैं। इस कारण निष्पक्ष व्यक्ति को हृदय से स्वीकार करना पडेगा कि वादिदेवसूरिने परीक्षा मुख की नकल करके प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार ग्रथ को बनाया है।

वादिदेवसूरि परीक्षामुख ग्रथ के रचयिता श्रीमाणिक्यनदि आचार्य से तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड के बनाने वाले श्री प्रभाचन्द्राचार्य से पीछे हुए हैं ऐसा श्वेताबरीय विद्वानों को भी ऐतिहासिक प्रमाणो के बल पर स्वीकार करना पडेगा। तदनुसार किसने किसके ग्रथ की नकल की यह बात स्वयमेव सिद्ध हो जाती है।

श्वेताम्बरीय प्रख्यात आचार्य वादिदेवसूरिकी उदभट विद्वत्ता का यही एक ज्वलन्त उदाहरण है कि उन्होंने "प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार" नामक सूत्रबद्ध न्याय ग्रन्थ बनाने में स्वय मौलिक प्रयत्न नही किया किन्तु झूठा यश चाहने वाले साधारण विद्वान् के समान परीक्षामुख नामक दिगम्बरीय ग्रथ की आद्योपान्त नकल कर डाली। जो विद्वान् एक साधारण ग्रथ रचना में पूर्ण रूप से किसी अन्य ग्रथ की छाया लेकर ही कृतकार्य हो सकता है वह विद्वान् चौरासी महान् शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त करने वाले कुमुदचन्द्राचार्य सरीखे दिग्विजयी विद्वान् को शास्त्रार्थ में पराजित कैसे कर सकता है ? यह प्रश्न विचारणीय है।

****

श्री कुमुदचन्द्राचार्य और देवसूरि का शास्त्रार्थ

अब हम प्रसङ्गवश श्री कुमुदचन्द्राचार्य और देवसूरि के शास्त्रार्थ पर प्रकाश डालते हैं।

श्वेताम्बरीय ग्रथो में यह बात लिखी हुई है कि श्री कुमुदचन्द्राचार्य दिगम्बर सम्प्रदाय के क बहुत भारी प्रतिभाशाली विद्वान् थे उन्होने भिन्न-भिन्न ८४ प्रसिद्ध स्थानो पर उद्भट अजैन द्वानों के साथ शास्त्रार्थ करके उनको हराया था और जैन धर्म का यश फैलाया था। उन ही गविजयी कुमुदचन्द्राचार्य ने अणहिल्लपुर के शासक जयसिह राज की राज सभा के वेताम्बरीय आचार्य देवसूरि के साथ शास्त्रार्थ किया था जिसमें कि कुमुदचन्द्राचार्य हारे थे और वसूरि जीत गये थे। अतएव कुमुदचन्द्राचार्य को अपमानित करके नगर के अपद्वार से बाहर काल दिया गया था।

इस समय तक जितने भी दिगम्बरीय ग्रथ उपलब्ध हैं उनमें से किसी भी ग्रथ में इस शास्त्रार्थ विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं है। इस कारण इस शास्त्रार्थ के विषय में दिगम्बरीय शास्त्रो के धार पर कुछ नही लिखा जा सकता।

दिगम्बरीय ग्रथो के सिवाय इतर कोई अजैन निष्पक्ष ऐतिहासिक ग्रथ भी श्री मुदचन्द्राचार्य के शास्त्रार्थ में हार जाने को प्रमाणित नही करता है। इस कारण किसी निष्पक्ष ट प्रमाण से भी श्री कुमुदचन्द्राचार्य की पराजय सिद्ध नही होती है।

अतएव इस बात पर विचार दो प्रकार से ही हो सकता है, एक तो श्वेताम्बरीय शास्त्रो के धार पर, कि उनमें जो श्री कुमुदचन्द्राचार्य के हार जाने का विवरण लिखा है वह बनावटी सत्य एव केवल हुल्लडबाजी ही है या कि सचमुच ठीक है ? दूसरे - युक्ति कसौटी पर इस त की परीक्षा की जा सकती है कि वास्तव में श्री कुमुदचन्द्राचार्य उस शास्त्रार्थ में हार सकते थे थवा हारे थे या नही। इन दो मार्गों से विचार करने पर शास्त्रार्थ में देवसूरि श्वेताम्बरीय आचार्य दिगम्बरीय आचार्य श्री कुमुदचन्द्राचार्य के हार जाने की बात सत्य है अथवा असत्य, यह सिद्ध जायगा।

तदनुसार हम प्रथम ही कवि यशश्चन्द्र विरचित "**मुदितकुमुदचन्द्रप्रकरण**" नामक ताम्बरीय नाटक (वीर स २४३२ में बनारस से प्रकाशित) पर प्रकाश डालते हैं। यह नाटक वल श्री कुमुदचन्द्राचार्य और देवसूरि के शास्त्रार्थ के समस्त आद्योपात विषय को प्रगट करने के ए बनाया गया है, अतएव अन्य ग्रथो की अपेक्षा इसी एक ग्रथ के आधार से उक्त शास्त्रार्थ के षय में बहुत कुछ निर्णय हो सकता है।

इस मुदितकुमुदचन्द्र नाटक के ८ वें पृष्ठ पर श्री कुमुदचन्द्राचार्य की प्रशसा में १३ पक्तियों । सस्कृत गद्य लिखी है उसमें ग्रथकार ने स्पष्ट बतलाया है कि कुमुदचन्द्राचार्य ने बगाल, जरात, मालवा, निषध, सपादलक्ष, लाट आदि समस्त भारतवर्षीय विख्यात देशो के उद्भट, ग्मी विद्वानों को शास्त्रार्थों में हराकर निर्मद कर दिया था। गद्य के अन्त में लिखा है कि-

"जयतु चतुरशीति विवाद विजयार्जितोर्ज्जितयश पुञ्जसमर्जितचन्द्र, मुदचन्द्रनाम वादीन्द्र ।"

अर्थात्– चौरासी शास्त्रार्थों की विजय से जिसने बहुत भारी कीर्ति समूह प्राप्त किया है ऐसा कुमुदचन्द्र वादीश्वर जयवन्त हो।

इसके आगे ९ वें पृष्ठ पर कुमुद चन्द्राचार्य की प्रशसा में एक पद्य इस प्रकार लिखा है कि–

"जीयादसौ कुमुदचन्द्र दिगम्बरेन्द्रो दुर्वादिदन्तिमदनिर्दलनेन येन।

भेजे मुदा चतुरशीति विलास भड्गी सम्भोगचारुकरणेः सतत जयश्री ।"

अर्थात्– वह कुमुदचन्द्र दिगम्बराचार्य विजयी हो जिसने वादिरूपी हाथियों का मद सुखा दिया है और चौरासी शास्त्रार्थों में बराबर भाग लेने के कारण जयश्री (जीत) सदा जिसके साथ रहती है।

यद्यपि यह कुमुदचन्द्राचार्य की प्रशसा उनके ही वान्दी द्वारा की गई है किन्तु यह बात भी असत्य नही कि वे इस प्रशसा के पात्र थे। क्योंकि एक तो कुमुदचन्द्राचार्य की विद्वत्ता की प्रशसा इसी रूप से अन्य श्वेताम्बरीय ग्रथों ने भी की है और दूसरे यदि वास्तव में कुमुदचन्द्राचार्य ऐसे दिग्गज विद्वान् न होते तो यह श्वेताम्बरीय नाटककार यहाँ भी उनकी विद्वत्ता की प्रशसा कदापि न करता जैसे कि उसने आगे भी नही की है। इस कारण मानना पडेगा कि श्री कुमुदचन्द्राचार्य कोई ऐसे वैसे साधारण विद्वान् नही थे किन्तु व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि विषयों के असाधारण पडित थे। इसी कारण उन्होने वगाल, मालवा आदि सर्वत्र देशों में बडे–बडे वादियों के साथ शास्त्रार्थ करके विजय पाई थी। कही भी किसी से वे हारे नही थे।

ऐसे प्रतिवादि–भयकर श्री कुमुदचन्द्राचार्य ने सिद्धराज भूपति की राजसभा में देवसूरि के साथ शास्त्रार्थ किस ढग से किया यह मुदितकुमुदचन्द्र नाटक के ४६,४७ वें पृष्ठ पर लिखा हुआ है।

कुमुदचन्द्र – प्रयोगमुद्गृणाति।

देवसूरि – (त दूषयित्वा) वादिना हि द्वय कार्यं, पर पक्ष विक्षेप, स्वपक्ष सिद्धिश्चेति, (स्त्रीनिर्वाणसिद्धये प्रयोगमारचयति)

(भाषार्थ)– कुमुदचन्द्र– स्त्री मुक्तिखडन के लिए प्रयोग कहते हैं।

देवसूरि– उस प्रयोग को दूषित सिद्ध करके स्त्री मुक्ति सिद्ध करने के लिए प्रयोग करते हैं। वादी को परपक्षखडन और स्वपक्षमडन ये दोनो कार्य करने चाहिए।

कुमुदचन्द्र पुनरुच्यताम् ।

देवसूरि – प्रयोग पुन पठति।

कुमुदचन्द्र – (सखेदकालुष्यम्) भूयोप्यभिधीयताम् ।

देवसूरि – पुन प्रकाशयति।

अर्थात्– (देवसूरि के कहे हुए युक्तियुक्त प्रयोग को न समझ सकने के कारण) कुमुदचन्द्र ने कहा कि अपना प्रयोग फिर कहिये।

देवसूरि ने अपना प्रयोग फिर कह दिया।

कुमुदचन्द्र- (खेद खिन्न और घबडाकर प्रयोग को न समझ सकने के कारण) प्रयोग फिर भी कहिये।

देवसूरि- फिर तीसरी बार कहते हैं।

अर्थात्- कुमुदचन्द्र तीसरी बार भी देवसूरिके कहे हुए प्रयोग को न समझकर अटसट तरह से उसका खडन करते हैं।

देवसूरि - अस्य भवद्भासितस्य अनवबोध एवोत्तरम्

देवसूरि - न समझना ही आपके इस कहने का उत्तर है।

कुमुदचन्द्र - लिख्यता कडिन्ने प्रयोग ।

अर्थात्- कुमुदचन्द्रने देवसूरि से कहा कि आप पत्र पर अपना प्रयोग लिख दीजिये।

देवसूरि - सोय गुरुशिष्यन्याय ।

अर्थात् देवसूरिने कहा कि लिखकर बतलाना गुरु शिष्य के मध्य होता है।

महर्षि देव ! समाप्ता वादकथा, जित श्वेतावरेण, हारित दिगम्बरेण, अतोप्यूदृर्ध्वं विकथन पराभूतजृम्भारिसभे महाराजसदसि गोवधमनुबध्नाति।

महर्षि नामक सदस्यने कहा कि महाराज ! शास्त्रार्थ समाप्त हो गया श्वेताबर पक्ष की विजय और दिगम्बर पक्ष की हार हो गई। अब इससे आगे इस शास्त्रार्थ को चलाना आपकी सभा में गोवध का अनुकरण होगा।

देवसूरि - [अनूद्य तद्दूषण च परिहृत्य स्वपक्ष स्थापयन् कोटा-कोटिशब्द प्रयुक्ते]

अर्थात्- देवसूरिने कुमुदचन्द्र के कथन का अनुवाद करके अपने ऊपर आये हुए दूषण को हटा कर तथा अपना पक्ष जमाते हुए **कोटाकोटि** शब्द का प्रयोग किया।

कुमुदचन्द्र - आ ! अपशब्दोयम् ।

यानी-कुमुदचन्द्रने कहा कि आपका कहा हुआ **'कोटाकोटि'** शब्द अशुद्ध है।

उत्साह - अन्तरिक्षाम्बर ! मैवमाचक्षीथा ।

कोटाकोटि कोटिकोटि कोटीकोटिरिति त्रय ।

शब्दा साधुतया हन्त सम्मता पाणिनेरपि।

(इति पाणिनिप्रणीतसूत्र व्याकणेति)

अर्थात् - उत्साह नामक सदस्य ने कहा कि भो दिगम्बर यह बात मत कहो क्योंकि पाणिनिने कोटाकोटि, कोटिकोटि, कोटीकोटि, ये तीनों शब्द ठीक बतलाये हैं।

देवसूरि - आ स्वशास्त्रस्यापि न स्मरसि "अन्त कोटाकोटिस्थितिके सति कर्मणि" इति।

देवसूरि ने कुमुदचन्द्र से कहा कि तू अपने शास्त्र के वाक्य को भी याद नही करता; वहाँ लिखा हुआ है कि "अन्त कोटाकोटि सागर की स्थिति वाले कर्म के रह जाने पर" इत्यादि।

इस प्रकार लिखते हुए देवसूरिकी विजय और कुमुदचन्द्राचार्य की पराजय ग्रथकारने प्रगट कर दी है।

उक्त ग्रथलेखक का लिखना कितना पक्षपातपूर्ण है इसको एक साधारण मनुष्य भी समझ सकता है।

चूँकि कुमुदचन्द्राचार्य दिगम्बर साधु थे और लेखक श्वेताम्बर साधु का उपासक था। इस कारण कुमुदचन्द्राचार्य सरीखे दिग्गज विद्वान् को साधारण विद्वान् से भी गया बीता लिख दिखाया है। मानो उनको 'कोटाकोटि' शब्द का भी परिज्ञान नही था। देवसूरि जो कि प्रमाण नयतत्त्वलोकालकार सरीखे साधारण ग्रथ को भी स्वतन्त्ररूप से अपनी प्रतिभा के आधार पर परीक्षामुख की नकल किये विना नही वना सके, उन देवसूरि को श्वेताम्बर साधु होनें के कारण बडा भारी उद्यट विद्वान कर दिया। ग्रथलेखक ने स्वय ८ वें पृष्ठ पर निम्नलिखित शब्दों में कुमुदचन्द्राचार्य की प्रशसा यों की है।

"जयतु जयतु कुन्तलकलाविदतुलाभिमानाचलदलनदम्भोलिदण्ड, चौडचतुरपाण्डित्य-खण्डनप्रचण्ड, गौडगुणिगर्वसारङ्गशार्दूल, वङ्गविप-विदुपमुखकालुष्यमूल, निपिद्धनैषध-बुधदर्पान्धकार, यश शेपीकृतकान्यकुब्जविद्वज्जनाहङ्कार, विशदशारदादशेकोविदमदच्छे-दवैदुष्यपात्र, प्रगल्भमालवीयकुशलशेमुपीकुशलतालवनदात्र, प्रकृतिवाचाटलाटमुखघटित-मौनकपाट, कृतकौङ्कणकविकुलोच्चाट, विक्षिप्तसपादलक्षदक्षपक्ष, जर्जरीकृत-गुर्ज्जरजनगर्जितकक्ष, तार्किकचक्रचूडामणे, वैयाकरणकमलतरणे, छात्री-कृतच्छन्दश्छेक, साहित्यलतासुधासेक, सरस्वतीहृदयहार, श्वेतावरविडम्बनप्रहसनसूत्रधार, चतुरशीतिविवाद-विजयार्जितोर्जितयश पुञ्ज, समर्जित-चन्द्र, कुमुदचन्द्रनाम वादीन्द्र ।

अर्थात्- भो कुमुदचन्द्र नामक वादीन्द्र । तुम्हारी जय हो जय हो। तुम कुन्तलदेशीय विद्वानों के अतुल अभिमानरूपी पर्वत को चूर्ण करने के लिए वज्र समान हो, चौंड देश के चतुर पडितो का पाडित्य खडित करने के लिए प्रचड हो, गौडदेशवासी विद्यावानो के गर्वरूपी हरिण को नष्ट करने के लिए सिंह समान हो, बगाल के विद्वानो के मुख पर कालिमा पोतनेवाले हो, निषध देश के विद्वानो के गर्वरूपी अन्धकारको दूर करने वाले हो, कान्यकुब्ज के उद्‌भट विद्वानों का अहकार तुमने नि शेष कर दिया है, शारदा देश के विद्वानो का विद्यामद छेद डाला है, मालवा देशवासी प्रतिभाशाली पडितो की कुशल बुद्धि की चतुरता छेदने के लिए तुम दाते (हँसिया) समान हो, लाट देशनिवासी वाचाल (बहुत बोलने वाले) विद्वानो के मुख को बद करने वाले हो, तुमने कोकण देश के कविवरों को भगा दिया है, सपादलक्ष देश के चतुर पडितो को विक्षिप्त बना दिया है, न्यायवेत्ता विद्वानो में सर्वश्रेष्ठ हो, वैयाकरण विद्वानो मे सूर्यतुल्य हो, छन्दशास्त्र के विद्वानो को आपने अपना शिष्य बना लिया है, साहित्यरूपी लता के सींचने वाले हो, सरस्वती के हृदय-हार समान हो, श्वेताम्बरी विद्वानो का तिरस्कार करने के सूत्रधार हो और आपने चौरासी ८४ शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त करके बहुत भारी यश उपार्जित किया है।

अब पाठक महानुभाव स्वय विचार करें कि जिन श्रीकुमुदचन्द्राचार्य ने कुन्तल, चौड, गौड, बगाल, निषध, कान्यकुब्ज, मालवा, लाट, सपादलक्ष, गुजरात, आदि प्राय सभी भारत वर्ष के देशो मे पहुँच कर वहॉ के प्रसिद्ध नगरो के विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ करके विजय प्राप्त की थी, कही भी पराजित नही हुए थे। तर्क, छन्द, व्याकरण, साहित्य ,दर्शन आदि सभी विषयो के असाधारण विद्वान् थे, दो चार नही किन्तु चौरासी शास्त्रार्थ इसके पहले कर चुके थे। फिर

भला स्वप्न में भी कोई बुद्धिमान निष्पक्ष पुरुष यह सभावना कर सकता है कि वास्तव में कुमुदचन्द्राचार्य **'कोटाकोटि'** शब्द को भी नही समझ पाते थे? देवसूरि के पक्षप्रयोग का ठीक अवधारण कर उसका उत्तर भी नहीं दे सकते थे ? तथा जो देवसूरि शास्त्रार्थ करने में कुमुदचन्द्राचार्य के समान न तो पटु थे और न प्रसिद्ध शास्त्रार्थ विजेता एव यशस्वी ही थे, जिन देवसूरिने प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार ग्रथ का निर्माण अपनी प्रतिभाशक्ति से न कर सकने के कारण परीक्षामुख नामक दिगम्बरीय ग्रथ का आधार लिया, वे साधारण विद्वत्ता के अधिकारी देवसूरि दिग्विजयी पडित कुमुदचन्द्राचार्य पर विजय पागये? इस बात को यदि **"कूजडा अपने खट्टे बेरों को भी मीठा बताता है"** इस कहावत का अनुसरण कहा जावे तो कुछ अनुचित नही।

वादी की अथवा प्रतिवादी की जय या पराजय उनकी अकाट्य युक्तियों पर निर्भर होती है। तदनुसार यदि वास्तव में देवसूरिने चौरासी शास्त्रार्थों के विजेता कुमुदचन्द्राचार्य को हराया था तो नाटककार को अथवा अन्य किसी श्वेताम्बर ग्रथकार को वे २-४ प्रबल युक्तियाँ तो लिखनी थीं जिनका प्रत्युत्तर कुमुदचन्द्राचार्य नही दे सके। किन्तु उस युक्तिजाल का नाममात्र भी उल्लेख न करके केवल **'कोटाकोटि'** शब्द पर हार-जीत का निर्णय दे दिया है। मानो दिग्विजयी विद्वान श्री कुमुदचन्द्राचार्य को उतना भी व्याकरणबोध नही था। पक्षपातवश न्याय्य बात पर परदा डाल देना इसी को कहते हैं।

इस कारण श्वेताम्बरीय ग्रथकारो के लिखे अनुसार दिग्विजेता श्री कुमुदचन्द्राचार्य और **परीक्षामुख** नामक दिगम्बरीय न्याय ग्रथ की नकल करके **प्रमाणनयतत्त्वालकार** पुस्तक के बनाने वाले श्री देवसूरिकी विद्वत्ताकी तुलना करते हुए तथा देवसूरि द्वारा प्रतिपादित दो-एक भी **प्रबलयुक्ति** का अभाव देखकर यह कहना पडता है कि चौरासी प्रबल शास्त्रार्थों के विजेता प्रकाण्ड विद्वत्ता के अधिकारी श्री कुमुदचन्द्राचार्य के देवसूरि द्वारा पराजित होने की बात सर्वथा असत्य है।

हाँ यह हो सकता है कि गत दो वर्ष पहले श्वेताम्बर जैन पत्र में हेमचन्द्राचार्य का जो जीवनचरित प्रकाशित हुआ था उसके लिखे अनुसार जिस राजसभा में शास्त्रार्थ हुआ था वहाँ के राजमन्त्री, सदस्य तथा स्वय राजा तक देवसूरि के भक्त थे। तथा हेमचन्द्राचार्य ने रानी को भी 'कुमुदचन्द्राचार्य स्त्रियों की मुक्ति होना निषेध करते हैं,' ऐसी बातो द्वारा बहका कर कुमुदचन्द्राचार्य के विरुद्ध कर दिया था। इस प्रकार समस्त उपस्थित जनता एक मात्र देवसूरि के पक्ष में थी। वहाँ पर यदि हुल्लडबाजी के नाम पर कुमुदचन्द्राचार्य की पराजय कह दी गई हो, तो क्या बात है। वास्तव में विद्वत्ता तथा अखड युक्तिजाल से कुमुदचन्द्राचार्य पराजित नही हुए, यह समस्त उपलब्ध सामग्री से सिद्ध होता है।

****

साहित्य विषय की नकल

अब हम इस विषय पर प्रकाश डालते हैं कि साहित्य ग्रथों की रचना में भी अनेक

की छाया ली है। इस कारण साहित्य विषय में भी

श्वेताम्बरीय ग्रथ दिगम्बरीय साहित्य ग्रथों से अधिक महत्त्व नहीं रखते। इस विषय को सिद्ध करने के लिए हम केवल एक साहित्य ग्रथ का नमूना पाठक महाशयों के सामने रक्खेंगे।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हेमचन्द्राचार्य एक अच्छे प्रभावशाली विद्वान् हो गये हैं। उन सरीखा कोई अन्य विद्वान् कलिकाल में नहीं हुआ, ऐसा सब श्वेताम्बरी भाई मुक्तकठ से कहते हैं। इसी कारण इनको 'कलिकाल सर्वज्ञ' भी श्वेताम्बरी भाई कहते हैं। ये हेमचन्द्राचार्य प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार ग्रथ के रचयिता देवसूरि के समकालीन बारहवीं विक्रम शताब्दी में हुए हैं। इन्होंने न्याय, व्याकरण, साहित्य, कोष आदि अनेक ग्रथ बनाये हैं।

उन्ही ग्रथों में से उन्होंने 'काव्यानुशासन' नामक एक साहित्य ग्रंथ भी लिखा है। ग्रथ यद्यपि अपने विषय का एक अच्छा ग्रथ है किंतु इसमें भी सन्देह नहीं कि यह ग्रथ दिगम्बरीय महाकवि वाग्भट विरचित काव्यानुशासन ग्रथ की खासी नकल है। महाकवि वाग्भट हेमचन्द्राचार्य से पहले हुए हैं और इन्होंने 'नेमिनिर्वाण, वाग्भटालकार, ऋषभदेवचरित आदि अनेक महाकाव्य, अलकार, वैद्यक आदि ग्रथ निर्माण किये हैं। इन्होंने काव्यानुशासन नामक साहित्य ग्रथ गद्यरूप में लिखकर स्वय उसकी टीका भी लिखी है। इसी ग्रथ की छाया लेकर हेमचन्द्राचार्य ने भी गद्यरूप में स्वोपज्ञटीकासहित उसी नामका 'काव्यानुशासन' ग्रथ लिखा है। देखिये–

कवि वाग्भट्ट ने प्रथम ही काव्यरचना का उद्देश्य बतलाया है–

काव्य प्रमोदायानर्थपरिहाराय व्यवहारज्ञानाय त्रिवर्गफललाभाय कान्तातुल्यतयोपदेशाय कीर्तये च।

इसके स्थान पर हेमचन्द्राचार्य ने पहला सूत्र यह लिखा है–

'काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशाय च'

उपर्युक्त दोनों वाक्य बिलकुल समान हैं। दो एक शब्दों का अन्तर है।

काव्यरचना का हेतु कविवर वाग्भट्टने यह लिखा है–

'व्युत्पत्त्यभ्याससस्कृता प्रतिभास्य हेतु '

इसके स्थान पर हेमचन्द्राचार्य ने यो लिखा दिया है–

'प्रतिभास्य हेतु

अभ्यास का लक्षण वाग्भट्टने यह किया है–

काव्यज्ञशिक्षया परिशीलनमभ्यास

इसी को हेमचन्द्राचार्य ने यों लिख दिया है–

काव्यविच्छिक्षया पुन पुन प्रवृत्तिरभ्यास'

काव्य का लक्षण वाग्भट्ट ने यह लिखा कि–

शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्राय. सालकारौ काव्यम्

हेमचन्द्राचार्य ने इसको यों लिख दिया है–

अदोषौ सगुणौ सालकारौ शब्दार्थौ काव्यम्

काव्य के दोष वाग्भट्ट ने ये बतलाये हैं–

निरर्थकनिर्लक्षणाश्लीलाप्रयुक्तासमर्थानुचितार्थश्रुतिकटुक्लिष्टा–

विमृष्टविधेयाशविरुद्धबुद्धिकृन्नेयार्थनिहितार्थप्रतीतग्राम्यसदिग्धावा–

धकत्वानि शब्ददोषा॰ पदे वाक्ये च भवन्ति।

इसके स्थान पर हेमचन्द्राचार्य ने यह लिखा

अप्रयुक्ता॰ लीलासमर्थानुचितार्थश्रुति-कटुक्लिष्टाविमृष्टविधेया-शविरुद्धबुद्धिकृत्वान्युभयो ।

दोनों वाक्य एक सरीखे हैं। इसके आगे अलकारों के लक्षण भी हेमचन्द्राचार्य ने वाग्भट्ट कवि के लिखे हुए लक्षणों सरीखे ही किये हैं। रूपकालकारको देखिये-

साश्याद्भेदेनारोपो रूपकम् ।

हेमचन्द्राचार्य ने इसको यों लिख दिया है-

सादृश्ये भेदेनारोपो रूपकमेकानेकविषयम्।

दोनों लक्षण शब्द अर्थ से समान हैं। अर्थान्तरन्यास अलकारका लक्षण महाकवि वाग्भट्ट ने यह किया है-

विशेषस्य सामान्येन समर्थनमर्थान्तरन्यास साधर्म्येण वैधर्म्येण च

इसके स्थान पर हेमचन्द्राचार्य यों लिख गये हैं-

विशेषस्य सामान्येन साधर्म्यवैधर्म्याभ्य समर्थनमर्थान्तरन्यास ।

दोनों लक्षण बिलकुल समान हैं। स्मृति अलकार लक्षण जब वाग्भट्ट कविने यह लिखा है-

सहशदर्शनात्पूर्वार्थस्मरण स्मृति॰

तब हेमचन्द्राचार्य ने भी उसको यो लिख दिया है-

सहशदर्शनात्स्मरण स्मृति॰

परिसख्यालकार वाग्भट्ट ने यह लिखा है-

पृष्टमपृष्ट वा यदन्यव्यवच्छेपरतयोच्यते सा परिसख्या।

इसकी नकल हेमचन्द्रचार्य ने यों की है-

पृष्टेऽपृष्टे वान्यापोहपरोक्ति परिसख्या

दोनों समान हैं। सकर अलकारको जब महाकवि वाग्भट्टने इन शब्दों में लिखा है-

स्वातन्त्र्येणाङ्गत्वेन सशयेनैकपद्येनवा अलकाराणामेकत्रावस्थान सकर ।

इसकी नकल हेमचन्द्राचार्य ने इन शब्दों में की है-

स्वातन्त्र्याङ्गत्वसशयैकपद्यैरेषामेकत्र स्थितिः सकरः।

दोनों लक्षण बिलकुल एक सरीखे हैं। इसी प्रकार अन्य अलकारों के लक्षण भी हेमचन्द्राचार्य ने कतिपय शब्दों के हेरफेर से महाकवि वाग्भट्ट के उल्लिखित लक्षणों को ही लिख दिखाया है।

इसके पीछे यदि रसों के लक्षणो पर दृष्टिपात किया जाय तो वहाँ पर भी यह ही हाल है। वहाँ पर तो हेमचन्द्राचार्य ने कविवर वाग्भट्ट के उल्लिखित लक्षणों की समूची ज्यों की त्यों नकल कर डाली है। प्रथम ही करुणरसको देखिए, वाग्भट्ट ने लिखा है–

इष्टवियोगानियस (प्र) योगविभावो दैवोपालभनि श्वासतानव-मुखश्लेषस्वरभेदाश्रुपातवैवर्ण्य–प्रलयस्तम्भ (वै) कम्पभूलुठन–विलापगात्रा–शाद्यश्रुभावनिर्वे-दग्लानिचिन्तौत्सुक्यमोहश्रमत्रासविषाद दैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मारालस्यमरण-प्रभृतिदु खमयव्यभिचारी चित्तवैधुर्यलक्षण शोकाभिधान स्थायिभाव श्चर्वणीयता गत करुणरसता याति।

इसके स्थान पर हेमचद्राचार्य ने जो कुछ लिखा है वह उनके काव्यानुशासन के ७६ वें पृष्ठ पर यों है–

इष्टवियोगानिष्ट–सम्प्रयोगविभावोदैवोपालम्भनि श्वासतानवमुखशोपणस्वर भेदाश्रुपातवैवर्ण्यप्रलयस्तम्भकम्पभूलुठनगात्रस्रसाक्रदाद्यनुभाव निर्वेदग्लानिचिन्तौ-त्सुक्यमोह–श्रमत्रासविषाददैन्यव्याधिजडतोन्मादापस्मारालस्य मरणप्रभृतिदु स्वमथव्यभिचार चित्तवैधुर्यलक्षथण शोक स्थायीभावश्चर्वणीयता गत करुणो रस ।

उपर्युक्त दोनों लक्षण बिलकुल समान हैं इसको साधारण पुरुष भी समझ सकता है। इसके पीछे वीररस का लक्षण वाग्भट्ट कविने इन शब्दो में किया हे–

प्रतिनायकवर्तिनयविनयसमोहाध्यावसाबलशक्तिप्रतापप्रभाव विक्रमाधिक्षे-पादिविभाव स्थैर्योदार्यधैर्यगाम्भीर्य–शौर्यविशारदाद्यनुभावो धृतिस्मृत्यौग्र्यग-र्वामर्षामत्यावेगहर्षादिव्यभिचारी उत्साहाभिवान स्थायिभावश्चर्वणीयता गतो वीररसता याति।

इसकी प्रतिलिपि हेमचन्द्राचार्यने अपने काव्यानुशासन के ७७ वें पृष्ठपर यों की है––

प्रतिनयकवर्तिनयविनयासमोहाध्यवसायबलशक्तिप्रतापप्रभावविक्रमा-विक्षेपादिविभाव स्थैर्यधैर्यशौर्यगाम्भीर्यत्यागवैशारद्याद्यनुभावो धृतिस्मृत्यौग्र्यगर्वामर्षामि-त्यावेगहर्षादिव्यभिचारी उत्साह स्थायिभावश्चर्वणीयता गतो धर्मदानयुद्धभेदात्रेधा वीर ।

इन दोनों लक्षणों में भी रचमात्र अन्तर नही। वीरके जो तीन भेद यहाँ अधिक जोडे हैं वे भी वाग्भट्टने आगे बताये हैं। इसी प्रकार वीभत्स रसके लक्षण भी देखिये। महाकवि वाग्भट्टने अपने काव्यानुशासनके ५६ वें पृष्ठपर इस रसका लक्षण यों लिखा है–

अहृद्यानामुद्वान्तव्रणपूतिकृमिकीटादीना दर्शनश्रवणादिविभावोङ्गसकोचहल्लास-नासामुखविकूणनाच्छादननिष्ठीवनाद्यनुभावोप ऽस्मारौग्र्यमोहदादि व्यभिचारी दव्यभिचारी जुगुप्साभिधान स्थायिभावश्चर्वणीयता गतो वीभत्सतामाप्नोति।

इस गद्यकी हूबहू नकल हेमचन्द्राचार्यने अपने काव्यानुशासनके ७९ वें पृष्ठपर इस प्रकार की है–

अहृद्यानामुद्वान्तव्रणपूतिकृमिकीटादीना दर्शनश्रवणादिविभावा अङ्गसङ्को– चहल्लास नासामुखविकूणनाच्छादननिष्ठीवनाद्यनुभावा ऽस्मारौग्र्यव्यभिचारिणी जुगुप्सा स्थायिभावरूपा त गता वीभत्स ।

पाठक महानुभाव स्वय समझ सकते हैं कि उपर्युक्त दोनो गद्योंमें शब्द तथा अर्थ रूपसे कुछ भी अन्तर नही है। इसी प्रकार अद्भुत, भयानक, शन्त, रौद्र आदि रसोका लक्षणरूप गद्य भी परस्पर बिलकुल मिलता है। उसको पाठक स्वय दोनो ग्रथ सामने रखकर मालूम कर सकते हैं। अन्य अनेक बातें भी इन दोनों काव्यानुशासनोकी आपसमें गद्य, पद्य अर्थरूपसे मिलती जुलती हैं, जिससे कि नि सन्देह यह सिद्ध हो जाता है कि हेमचन्द्राचार्यने महाकवि वाग्भट्ट–विरचित काव्यानुशासनकी प्रतिलिपि करके ही अपना काव्यानुशासन ग्रथ बनाया है।

इसके सिवाय **कलिकालसर्वज्ञ** पदवीप्राप्त हेमचन्द्राचार्यने **सिद्धहैम शब्दानुशासन** नामक व्याकरण भी दिगम्बरीय आचार्योंके निर्माण किये हुए व्याकरणों की नकल करके बना दिखाया है। शाकटायन तथा जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्र भाष्य आदिकी आद्योपान्त नकल की है। स्वतन्त्ररूपसे मौलिक ग्रथ नही बनाया है।

****

नवीन – नकल

अब हम इसी शताब्दी होने वाले प्रसिद्ध श्वेताम्बर आचार्य श्री आत्मारामजी के विषयमें ऐसा ही एक उदाहरण पाठकोंके सामने रखकर इस प्रकरणको समाप्त करते हैं।

श्वे आचार्य आत्मारामजीको श्वेताम्बरी भाई **कलिकालसर्वज्ञ** कहते हैं। **सम्यक्त्वशल्योद्धार** आदि छपे हुए ग्रथोके ऊपर यह पदवी छपी भी गई है इस कारण कमसे कम यह तो अवश्य मानना पडेगा कि ये श्वे आचार्य भी बहुत भारी विद्वान हुए होंगे। इन्होंने कई ग्रथ लिखे हैं। तदनुसार अनेक पद भी बनाये हैं जो कि श्वेताम्बर आम्नायमें बहुत प्रचलित हैं। सौभाग्यसे आपके रचे हुए पदोकी सग्रह रूप छपी हुई पुस्तक हमें भी मिल गई जिसका नाम प्रकाशकने **"श्री ६ सम्वेगी आनदबिजे जी प्रसिद्ध श्री आत्मारामजी कृत सत्रा भेदी पूजा स्तवन"** रक्खा है।

यह पुस्तक जौहरी हजारीमल रामचन्द्रने काशीमें लीथो प्रेससे माघ सुदी १२ रविवार सवत् १९३९ में छपवाई है। इस कारण यह स्वय सिद्ध हो गया कि यह पुस्तक श्री श्वे आचार्य आत्मारामजी के जीवनकालमें यानी उनके सामने ही छप गई थी। क्योंकि आत्मारामजीका स्वर्गवास सवत १९५३ में हुआ था। इस कारण उनके देहावसान होनेके १४ चौदह वर्ष पहले उपर्युक्त पुस्तक छप गई थी।

टीप १– अधिक न लिखकर हम केवल उदारहण देते हैं। जैनेद्र व्याकरणके कर्त्ता, हेमचद्रसे बहुत ही पुराने हैं और अष्ट महाव्याकरणोंमें जैनेन्द्रका ही उल्लेख आया है। इस जैनेद्रका प्रथम सूत्र है–

"सिद्धिरनेकान्तात्"।

इसकी नकल हेमचद्रने की है वह,

"सिद्धि स्याद्वादात्"।

क्या इन दोनो सूत्रोमे जरा भी फर्क कहा जा सकता है? नहीं। इसी प्रकार ज्ञानार्णवकी नकल योगार्णव है।

(पाँचसौ दश) वर्ष व्यतीत हो जानेपर हुए थे। इसका तात्पर्य वही निकला कि श्वेताम्बरीय ग्रथरचना देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण जी द्वारा विक्रम सवत् की छठी शताब्दीमें हुई, इसके पहले उनका कोई भी ग्रथ नही बना था।

परन्तु दिगम्बरीय ग्रथोंका निर्माण विक्रम सवत् से भी पहले शुरू हुआ है। श्री भूतबलि आचार्यने सबसे प्रथम "षट्खड आगम" नामक ग्रथ बनाया था। श्री भूतबलि आचार्य श्री कु दकु दाचार्यसे बहुत वर्ष पहले हुए हैं जब कि श्री कु दकु दाचार्य जिन्होने कि समयसार आदि अनेक ग्रथ लिखे, वे विक्रम सवत् की पहली शताब्दी में यानी पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाणोंसे विक्रम सवत् ४९ में हुए हैं।

तात्पर्य – इस कारण सिद्ध हो गया कि श्वेताम्बरीय शास्त्रो के निर्माण होने से सेकडों वर्ष पहले दिगम्बरीय ऋषियोने अनेक ग्रथ बना दिये थे।

****

सिद्धांत विरुद्ध कथन
भोगभूमिजका अकाल मरण

कुछ आयुकाल शेष रहने पर विष, शस्त्र आदि किसी आकस्मिक कारण से आयुसमाप्ति के प्रथम ही जो मृत्यु हो जाती है उसको **अकालमरण** कहते हैं। अकालमरण कर्मभूमिवाले साधारण जो त्रेसठशलाका पुरुषोंमेंसे न हो ऐसे मनुष्य पशुओ का ही होता है। शेष किसी का नहीं होता। इस सिद्धान्त को श्वेताम्बर सप्रदाय भी स्वीकार करता है।

किन्तु फिर भी श्वेताम्बरीय ग्रथो में भोगभूमिवाले मनुष्योके अकालमरणका उल्लेख पाया जाता है ऐसे उल्लेखको सिद्धान्त विरुद्ध ही कहना चाहिये।

कल्पसूत्रके सप्तम व्याख्यानमें भगवान् ऋषभनाथका चरित वर्णन करते हुए भगवान् की पत्नी सुनदाके विषयमें वह ग्रथकार लिखता है कि –

"कोइक युगलीआ ने तेमना मातापिताए तालवृक्षनी नीचे मुक्य हतु ते तालवृक्षनु फल नीचे पडवाथी पुरुष मृत्यु पाम्यो। अने एवी रीते पेहेलजु अकालमृत्यु थयु।"

अर्थात् – किसी एक युगलियाको (स्त्री पुरुषको) उनके माता- पिताने तालवृक्षके नीचे छोड दिया था। उस समय तालवृक्षका फल शिरपर गिरनेसे पुरुषका मरण हो गया। इस प्रकार यह पहलीही अकाल मृत्यु हुई है।

इस अकाल मरणसे मरे हुए पुरुषकी स्त्रीके साथही भगवान् ऋषभनाथका विवाह किया गया, नाम सुनदा रखा गया। इस प्रकार यदि उस समयकी अपेक्षासे इस बात का विचार करें तो अकाल मृत्युसे मरे हुए उस भोगभूमियाकी वह स्त्री बच गई। और उस स्त्री के साथ भगवान् ऋषभदेवने विवाह किया।

यह भोगभूमिया मनुष्यकी अकाल मृत्यु बतलाना सिद्धान्त विरुद्ध है क्योंकि स्वय श्वेताबरीय सिद्धान्तशास्त्र ही भोगभूमिया मनुष्य तिर्यंचकी अकालमृत्युका निषेध करते हैं। आचार्य उमास्वामि विरचित तत्वार्थाधिगमसूत्रके दूसरे अध्यायके ५२ वें सूत्र में बतलाया है-

औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासख्येयवर्षायुषो ऽनपवर्त्यायुष ।

अर्थात्- औपपादिक, (देव, नारकी) उत्तर चरमशरीरी (त्रेसठ शलाका पुरुष) और असख्यात वर्षोकी आयुवाले (भोगभूमिया) मनुष्य तिर्यंचोंकी अकालमृत्यु नही होती है।

इसी सूत्रकी सिद्धसेनगणिप्रणीत सस्कृत टीकामें "असख्येयवर्षायुष" का खुलासा २२३ वें पृष्ठपर यों किया है।

"कर्मभूमिषु च ये मनुष्या प्रथमद्वितीयतृतीयसमासु यदा भवन्त्यखयेवर्षायुषस्तदा तेनपवर्त्यायुषो मन्तव्या ।" अर्थात् -(कर्म- भूमियो में (भरत, ऐरावत, पूर्व पश्चिम विदेहो में) जो मनुष्य पहले, दूसरे, तीसरे समयमें जव उत्पन्न होते हैं तब वे असख्यात वर्षोंकी आयु वाले होते हैं और तब ही वे अनपवर्त्य आयुवाले यानी अकालमृत्युसे न मरनेवाले होते हैं।)

इस प्रकार तत्वार्थाधिगम सूत्रके अटल, अमिट सिद्धान्तके विरुद्ध कल्पसूत्रका कथन ठहरता है। दोनों ही ग्रंथ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें ऋषिज्ञ-प्रणीत माने जाते हैं किन्तु एकके प्रामाणिक माननेपर दूसरा अप्रामाणिक ठहरता है।

****

भोगभूमियाका नरकगमन

श्वेतम्बरीय ग्रथोंने १० अछेरे (आश्चर्यजनक बाते) बतलाये हैं उनमें से ७ वॉ अछेरा हरिवशकी उत्पत्ति वाला इस प्रकार है।

कौशाबी नगरमें सुमुख राजा था। उसी नगर में वीरकुविन्द नामक एक सेठ रहता था। उसकी स्त्री वनमाला बहुत सुन्दरी थी। एक दिन राजाने उसकी सुन्दरता देख कामासक्त होकर दूतीके द्वारा उसको अपने घर बुला लिया। राजाके घर पहुँचकर वनमाला भी राजाके साथ रहने लगी। वीर-कुविन्दने जब अपनी स्त्री को घर पर नही पाया तो वह उस के प्रेम से विह्वल होकर इधर-उधर घूमने लगा। मरण समीप आनेपर उसने कुछ अपने भाव अच्छे बना लिए इस कारण वह मरकर सौधर्म स्वर्गमें किल्विषक देव हुआ। उस सुमुखराजा और वनमालाके ऊपर बिजली गिरी जिससे वे दोनो मरकर हरिवर्ष क्षेत्र में युगलिया (भोगभूमिया) उत्पन्न हुए। वीर कुविन्दके जीव किल्विषक देवने अवधिज्ञानसे अपने पूर्वभवका वृत्तान्त विचार करके उस पूर्वभवमें अपने असह्य सतापका कारण सुमुख राजा और अपनी स्त्री वनमालाको समझा। तदनुसार उन दोनो को अपना शत्रु समझकर उनसे बदला लेनेके लिए हरिवर्ष क्षेत्रमें आया। वहाँ आकर उसने उस भोगभूमिया युगल को भोगभूमिके सुखोसे वचित करने के लिए तथा अकालमरण कराकर उसको (स्त्री, पुरुषको) नरक भेजनेके लिए वहाँसे उठाकर इस भरतक्षेत्रकी चपा नगरीमें लाकर रख दिया।

उस समय वहाँका राजा मर गया था। उसका उत्तराधिकारी कोई पुत्र नही था, इस कारण उस देवने उस राजसिंहासनपर उस भोगभूमिया युगलको बैठा दिया। नरक आयुका वध करानेके

लिए उसने उन दोनो को (स्त्री पुरुषको) मद्य, मॉस खिलाया तथा अपनी शक्तिसे उनकी आयु थोडी करके उनको नरक भेज दिया। उस राजाके वशका नाम **"हरिवश"** प्रसिद्ध हुआ।

इसी बातको समाप्त करते हुए कल्पसूत्रकारने कल्पसूत्रके १९ वें पृष्ठपर यो लिखा है-

"तेथी से बनेने हु दुर्गतिमॉं पाडु , आवु चितवी पोतानी शक्तिथी देह सक्षेप करी तेओने अही लाव्यो लावी ने राज्य आपी तेमो ने सात व्यसन शीखडाव्या। ते पछी तेओ तेवा व्यसनी थइ मृत्यु पामी नरके गया। तेनो जे वश ते हरिवश कहेवाय। अही जुगलियाने अही लाव, शरीर तथा आयुष्यनो सक्षेप करवो अने नरकमॉं जवु ए सर्व आश्चर्य छे।-

यानी- इसलिए कैसे इन दोनोंको (स्त्री पुरुषोंको) दुर्गति (नरक) में डाल दू ऐसा विचार कर अपनी शक्तिसे उनका शरीर छोटा बनाकर उनको भरतक्षेत्रमें लाया। यहाँ लाकर उनको राज्य देकर उन्हें सात व्यसन सेवन करना सिखलाया। तदनतर वे दोनों व्यसनी होकर, मरकर नरक गये। उनका वश हरिवश कहलाया। यहाँ पर भोगभूमिके जुगलियाको भरतक्षेत्रमें लाना, उनके शरीर, आयुको घटाना तथा उनका मरकर नरक में जाना यह सब आश्चर्य है।

(इस सातवें अछेरेके कथनमें अनेक सिद्धान्तसे विरुद्ध बातें हैं। पहली तो यह कि उस युगलियाका शरीर छोटा कर दिया। क्योंकि देवोमें यद्यपि अपने शरीरमें अणिमा महिमा आदि रूपसे छोटा बडा रूप करने की शक्ति होती है। किंतु उनमे यह शक्ति नही होती कि नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए किसी मनुष्यशरीरके आकारको घटा-बढा देवे। क्योंकि यह कार्मण शक्तिका कार्य है। देव ही यदि अन्य जीवों के शरीरका आकार छोटा-बडा कर देवे तो समझना चाहिये कि उनकी शक्ति नामकर्मसे भी बढकर है। यदि ऐसी शक्ति उनमे विद्यमान हो तो वे अपने शरीरका भी रग, रूप, प्रभा आदिको बढाकर उन्हे देवोसे भी अधिक सुदर कर सकते है। किंतु ऐसा न तो होता है और न कोई साधारण देव ही क्या इद्र अहमिद्र भी ऐसा कर सकता है। अत पहली सिद्धानविरुद्ध बात तो उनके शरीर को छोटा करने की है।)

दूसरी -(सिद्धातविरुद्ध बात यह है कि उस किल्विषक देवने उन युगलियोकी आयु कम कर दी। हमारी समझमें नही आता कि कर्मसिद्धान्तके जानकार श्वेताम्बरीय ग्रथकारोंने यह बात कैसे लिख दी है? क्या कोई देव किसी भी जीवकी आयु कम कर सकता है? यदि ऐसा ही हो तो सब कुछ कर सकने वाले देव ही हो गये। पूर्व उपार्जित कर्मों में कुछ भी शक्ति नही हुई। आयुकर्म नाम मात्रका हुआ। क्योकि हरि वर्षके युगलियाके दो पल्यकी अखडनीय आयुका उदय था जिससे कि उसे अवश्य ही दो पल्य तक जीवित रहना चहिये था। किन्तु किल्विषक देवने उस की आयु घटा दी। इसका अभिप्राय यह होता है कि या तो श्वेताम्बरोंका कर्मसिद्धान्त झूठा है क्योकि आयुको देवलोग भी घटा सकते है। भले ही वह आयु कर्मकी लम्बी स्थितिके कारण बडी क्यों न हो। अथवा यदि श्वेताम्बरी कर्मसिद्धान्त सत्य है और तदनुसार आयु घटाने-बढानेकी शक्ति अन्य किसीमें नही है स्वय आयु कर्ममें ही विद्यमान है तो कल्पसूत्र प्रवचनसारोद्धार आदि ग्रथोंको झूठा कहना पडेगा।)

भोगभूमिके युगलियोकी बधी आयु किसी भी प्रकार कम नही हो सकती इस बातको श्वेताम्बरों का मान्य तत्वार्थाधिगम सूत्र अपने दूसरे अध्यायके ५२ वे सूत्र -

"औपपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासख्येयवर्षायुषो ऽनपवर्त्यायुष ।'

से प्रगट करता है। ऐसी अवस्थामें स्वय श्वेताम्बर लोग तत्वार्थाधिगमसूत्र और कल्पसूत्रमे से किसी एक ग्रंथको प्रामाणिक कह सकते हैं और उन्हें दूसरे ग्रथ को अप्रामाणिक अवश्य कहना पडेगा।

तीसरी – (सिद्धान्तविरुद्ध बात इस कथामे यह है कि भोगभूमिया मनुष्य स्त्री मर कर नरकको गये। भोगभूमि मनुष्य तिर्यच नियमसे देवगतिको प्राप्त होने है इस बातको स्वय श्वेताम्बर ग्रथ भी स्वीकार करते हैं फिर हरिवर्षका युगलिया मरकर नरकमे कैसे जा सकता है? ऐसे गडबडपूर्ण सिद्धान्तो और कथाओ से श्वेताम्बरीय ग्रथोकी कोई भी बात सत्य नही मानी जा सकती है।)

इस प्रकार हरिवश उत्पत्तिका उक्त कथानका सिद्धान्तविरुद्ध हो

****

केवलज्ञानीका घरमें निवास

गृहस्थ की मोक्ष होना यह तो एक जुदी बात रही किन्तु एक दूसरी अद्भुत बात श्वेताम्बरीय ग्रथो मे और भी पाई जाती है। वह यह कि केवलज्ञानी घरमे छह मास तक रह सकते हैं। श्वेताम्बर आचार्य आत्मानदजीने अपनी **सम्यक्त्वशल्योद्धार** पुस्तक के १५७ वे पृष्ठपर लिखा है कि ---

"कूर्मापुत्र केवलज्ञान पाने पीछे ६ महीने घरमें रहे कहा है (यह ढूढिया विद्वान जेठमलजीका श्वेताम्बर सम्प्रदायपर आक्षेप है) अब आत्मानदजी इसका उत्तर देते है – जो गृहस्थवासमे किसी जीवको केवलज्ञान होवे तो उसको देवता साधुका भेष देते है और उसके पीछे विचरते तथा उपदेश देते हैं। परन्तु कूर्मापुत्रको ६ महीने तक देवताने साधुका भेष नही दिया और केवलज्ञानी जैसे ज्ञानमें देखे तैसे करे। इस बातसे जेठमलके पेटमें क्यो शूल हुआ सो कुछ समझमे नही आता है।"

आत्मानदजीके इस लेखसे यह प्रमाणित हो गया कि कूर्मापुत्र नामक किसी गृहस्थको बिना तपस्या, त्याग आदि किये ही अपने घर मे केवलज्ञान हो गया और अर्हन्त हो जानेपर भी यह कूर्मापुत्र ६ मास तक साधारण मनुष्यो के समान घरमे ही रहे। क्योकि तब तक किसी देवने वहाँपर आकर उस कूर्मापुत्रके वस्त्र आभूषण आदि उतारकर वीतराग भेष नही बनाया था। शायद देव यदि भूलसे १०/५ वर्ष तक नही आते तो कूर्मापुत्रको १०/५ वर्ष तक भी घरमे रहना पडता। और यदि आयुसमाप्तिके पहले सयोगवश किसी देवका उनके घर आगमन न होता तो उनको मोक्ष होने तक घरमें रहना पड़ता तथा अन्त तक वे सराग गृहस्थके समान वस्त्र–आभूषणोसे सुसज्जित रहते। इस प्रकार कूर्मापुत्र केवलीका विहार देवोंके अधीन रहा। अनन्तचतुष्टय प्राप्त कर लेने पर भी वे पूर्ण स्वतन्त्र नही हो पाये।

घरमे रहते हुए वे अपने घरके बने हुए षड्रस भोजन भी करते होगे। क्योकि श्वेतांबर मतानुसार केवलज्ञानी भोजन करते हैं जो कि उनके लिए बनाया जाता होगा। इस प्रकार उद्दिष्टदोष वाला भोजन भी वे साधारण मनुष्योके समान करते होगे।

आत्मानदजी कहते हैं कि "**केवलज्ञानी जेसे ज्ञानमे देखे तेसे करे**" सो इससे क्या आत्मानदजी, केवलज्ञान हो जानेपर भी इच्छापूर्वक कोई काम किया जाता है?

न मालूम यह घटना किस सिद्धान्त वाक्य के अनुसार सत्य प्रमाणित हो सकती है? और आत्मानद जीका युक्तिशून्य उत्तर किस सैद्धान्तिक नियमके अनुसार चरितार्थ हो सकता है? तथा क्या केवलज्ञान हो जाने पर भी केवलज्ञानी देवों द्वारा चलाने पर ही चल सकते हैं?

****

क्या केवलज्ञानी नाटक भी खेलते हैं?

श्वेताम्बरीय कथा ग्रथोंमें ऐसी -ऐसी कथाएँ उल्लिखित हैं जो कि सिद्धान्तविरुद्ध तो है ही किन्तु साथ ही वे अच्छी हास्यजनक भी है। हम यहाँ पर एक कथा ऐसी ही बतलाते हैं।

श्वेताम्बरीय परममान्य ग्रथ भगवती सूत्रमें कपिल नामक केवलीके विषयमें ऐसा लिखा है कि **"उन्होने चोरोको प्रतिबोध (आत्मज्ञान) करानेके लिए नाटक खेला था"। इसी बातको श्वेताम्बरी आचार्य आत्मानदजी ने सम्यक्त्वशल्योद्धार** पुस्तकके १५१ वें पृष्ठ पर इस तरहसे समाधान सहित दिखाया है--

"श्री भगवती सूत्र में कहा है कि केवलि हँसना, रमना, सोना, नाचना इत्यादि मोहनी कर्म का उदय न होवे और प्रकरण में कपिल केवलीने चोरो के आगे नाटक किया ऐसे कहा। (इसका) उत्तर-कपिल केवलीने ध्रुपद छद प्रमुख कहके चोर प्रतिबोधे और तालसयुक्त छद कहे तिसका नाम नाटक है परन्तु कपिल केवली नाचे नही हैं।"

आत्मानदजी के इस लेख से यह प्रमाणित हो गया, कपिल केवली ने चोरों के आगे नाटक किया था, यह बात श्वेताम्बरी ग्रथ में विद्यमान है। जेठमलजी की बलवती अखडनीया शका का जो कुछ आगमविरुद्ध, युक्तिशून्य, उपहासजनक उत्तर दिया है उसको प्रत्येक साधारण मनुष्य भी समझ सकता है।

दूसरे–मोहनीय कर्म समूल नष्ट हो जाने पर न तो रागभाव रहता है और न द्वेषभाव। केवल उपेक्षा भाव रहता है ऐसा श्वेताबरीय सिद्धान्त भी कहते हैं। फिर कपिल केवली ने चोरों को प्रतिबोध करने का क्यों उद्योग किया ? इच्छापूर्वक किन्ही विशेष मनुष्यों का उपकार करना रागभाव से शून्य नही। जब कि उन्होने चोरो को आत्मज्ञान कराने के विचार से उनके सन्मुख नाटक तक खेला तब यह कौन कह सकता है कि चोरों पर कपिल केवली को अनुराग नहीं था। अन्यथा वे अपनी विशेष चेष्टा क्यो बनाते ?

तीसरे–ध्रुपद या तालसयुक्त छदों का गाना भी मोहनीय कर्म का ही कार्य है। आत्मानदजी अथवा अन्य कोई विद्वान् यह प्रमाणित नही कर सकते कि गायन गाना मोहनीय कर्म के बिना भी हो जाता है। क्योकि गायन अपना तथा अन्य का चित्त प्रसन्न करने के लिए ही गाया जाता है। इस कारण गायन कषायशून्य नही हो सकता।

चौथे–कपिल केवली को केवल चोरों को प्रतिबोध कराने की क्या आवश्यकता थी।? और यदि प्रतिबोध ही कराना था तो नाटक करने की ही क्या जरूरत आ पडी थी? क्या उनके वचन में इतनी शक्ति नही थी कि वे अपने उपदेश से ही चोरो को प्रतिबोध दे सकते हो?

नाटक अपना तथा दर्शकों का चित्त प्रसन्न करने के लिए सरागी पुरुष खेलते हैं **केवलज्ञानी नाटक खेले यह श्वेताम्बरीय ग्रथो के सिवाय अन्यत्र नहीं मिल सकता।**

सारांश- यह है कि यदि कपिल ने वास्तव में चोरों को उपदेश देने के लिए नाटक किया था तो वह केवलज्ञानी तो दूर की बात रही किंतु छठे गुण स्थान के साधु भी नही थे क्योंकि नाटक खेलना महाव्रतधारी साधु की चर्या के भी विपरीत है और सभ्य गृहस्थों के भी विरुद्ध है। यदि कपिल वास्तव में केवलज्ञानी अर्हंत था तो उसने नाटक नही खेला। अतएव नाटक खेलने की कथा का उल्लेख असत्य, अप्रामाणिक है, ऐसा मानना पडेगा।

****

देव पर मार और स्वर्ग से निर्वासन

तत्वार्थाधिगम सूत्र के चौथे अध्याय के प्रथम सूत्र "देवाच्चतुर्निकाया" की सिद्धसेनगणिप्रणीत टीका में लिखा है-

दीव्यन्तीति देवा स्वच्छन्दचारित्वात् अनवरतक्रीडासक्तचेतस क्षुत्पिपासादि-भिर्नात्यन्तमान्धता इति भावार्थ ।

यानी-जो स्वच्छन्दरूपसे (स्वतन्त्रता से) निरन्तर (सदा) क्रीडा भोग विलासो में आसक्त रहते हैं, तथा भूख, प्यास आदि से बहुत नही सताये जाते हैं ऐसे देव होते हैं।

किन्तु सगम देव के विषय में कल्पसूत्र में लिखा है कि-

एक बार सौधर्म स्वर्ग में इन्द्रने महावीर भगवान् के अटल तपश्चरण की प्रशसा की। उस प्रशसा को सुनकर एक सगम देवने प्रतिज्ञा की कि मैं महावीर स्वामी को ध्यान तथा तपस्या से भ्रष्ट करूँगा। तदनतर उसने आत्मध्यान में लगे हुए महावीर स्वामी के ऊपर अनेक प्रकार के घोर उपद्रव किये। किन्तु उन उपद्रवों से महावीर भगवान् रचमात्र भी विचलित नही हुए। उसके पीछे उस देवने ६ मास तक उनके भोजन में अन्तराय किया जिससे उन्होने ६ मास तक आहार ग्रहण नही किया। तदनन्तर भगवान् को तपश्चरण से चिगाने के लिए अपने आपको असमर्थ जानकर वह अपने निवासस्थान प्रथम स्वर्ग को चला गया। भगवान् को जब तक अन्तराय तथा उपद्रव होते रहे तब तक सौधर्म स्वर्ग के समस्त देव और इन्द्र चिन्तातुर एव दु खित रहे।

इसके पीछे कल्पसूत्र के ७४ वे पृष्ठ पर यो लिखा है-

"पछी भ्रष्ट थएल छे प्रतिज्ञा जेनी तथा श्याममुखवाला एवा ते सगम देवने त्या आवतो जोइने, इन्द्र पराङ्मुख थइने देवों ने कह्य के, अरे देवो आ दुष्ट कर्मचडाल आवे छे माटे तेनु दर्शनपण महापापो आपनारु थाय छे वली आणे आपणनो मोटो अपराध करेलो छे केमके तेणे आपने स्वामिने कदर्थना करी छे तेम आपणाथी डर्यो नथी, तेम पापथी पण डर्यो नथी, माटे दुष्ट अने अपवित्र एवा, देवने स्वर्गमा थी कहाडी मेलो। एवी रीते आज्ञा अपाएला इद्रना सुभटोए तेने मुष्टि लाकडी आदिकना मारथी मारीने तथा बीजा देव देवओए पण तेने निभूछीने हडकाया कुतरानी पेठे कहाडी मेल्यो। तेथी ठरी गएला अगरानी पेठे निस्तेज थयो थको ते परिवारविना फक्त एकाकी मदराचलना शिखरपर गयो तथा त्या पोतानु बाकी रहेलु एक सागरोपमनु आयुष्य ते सपूर्ण करशे।"

अर्थात् - पीछे टूट चुकी है प्रतिज्ञा जिसकी ऐसे श्याममुखवाले सगमदेवको वहाँ आता देखकर इन्द्रने देवों से कहा कि हे देवो ! यह दुष्ट, चाडाल सगम आ रहा है। इसको देखना भी

महापाप दायक है। इसने हमारा बहुत भारी अपराध किया हे क्योकि इसने हमारे स्वामी महावीर भगवान् का अनादर किया है। उससे यह नही डरा तथा पाप से भी नही डरा। इस कारण दुष्ट, अपवित्र ऐसे इस देवको स्वर्ग में से निकाल दो। इन्द्र की ऐसी आज्ञा पाकर इद्र के योद्धाओ ने उसको लकडी, मुक्के आदि की मारसे मारा तथा अन्य देव देवियो ने उसको भर्त्सना देकर फटकारा, कुत्ते के समान स्वर्ग से निकाल बाहर किया। इस अपमान से बुझे हुए अगारे के समान तेजरहित होकर वह अपने कुटुम्ब बिना अकेला मदर पर्वत पर चला गया। वहाँ पर वह अपनी शेष रही एक सागर की आयु को पूर्ण करेगा।

यहाँ पर दो बातें सिद्धान्त विरुद्ध हैं। एक तो यह कि सगम देव पर लात, घूसो, लकडी आदि की भारी मार पडी। क्योकि देवों में न कभी परस्पर लडाई होती है और न कभी किसी देव पर मार ही पडती है। ऐसा जैन सिद्धात है।

दूसरे– उस सगमक देवको स्वर्ग से बाहर निकाल दिया यह बात भी सिद्धान्तविरुद्ध है क्योंकि देवो को अपने स्वर्ग स्थान से आयु पूर्ण होने के पहले किसी प्रकार कोई नही निकाल सकता। स्वर्ग से बाहर विहार करने के लिए वे अपनी इच्छा के अनुसार भले ही जावे। किसी के निकालने से वे नही निकल सकते।

तीसरे–इन्द्र मे यदि उस देव को दडित करने की शक्ति ही थी तो वह उसको महावीर स्वामी पर उपसर्ग करते हुए तथा ६ मास तक भोजन में अन्तराय करते समय भी रोक सकता था। ऐसा करने से उसके दोनो कार्य बन जाते।

*

महाव्रती साधु क्या रात्रिभोजन करे?

जैन धर्म मे अहिसा व्रत को सुरक्षित रखने के लिए अन्य बातो के सिवाय रात्रि भोजन भी त्याज्य बतलाया है। तदनुसार अणुव्रती श्रावक को भी सूर्य अस्त हो जाने पर भोजन करने का निषेध जैन ग्रथो में किया गया है। महाव्रती साधु के लिए तो यह रात्रि भोजनत्याग व्रत सर्वथा ही पालनीय है। इस बात को श्वेताम्बरीय ग्रथ भी स्वीकार करते हे। तदनुसार अनेक गृहस्थ श्वेताम्बरी भारी विपत्ति आ जाने पर भी रात को पानी तक नही पीते हैं।

किन्तु दु ख है कि श्वेताम्बरीय प्रसिद्ध बृहत्कल्प की टीका मे महाव्रती साधु को रात्रि भोजन का भी विधान कर दिया है। जैसा कि सम्यक्त्वशल्योद्धार के १८९ वे पृष्ठ १० वें प्रश्नोत्तर मे आत्मानदजी की लेखनीसे लिखा हुआ है।

"श्री दशवैकालिक सूत्र मे साधु के लिए रात्रि भोजन करना कहा है। उत्तर बृहत्कल्प के मूल पाठ में भी यही बात है परन्तु तिसकी अपेक्षा गुरुगम मे रही हुई है।

इस प्रकार श्वेताम्बर समाज के प्रसिद्ध गुरु महाराजने भी साधु के रात्रिभोजनका प्रतिवाद न करके उलटे उसकी पुष्टि कर दी। यह बात कितनी अनुचित साधुचर्या के विपरीत हास्यजनक और शिथिलाचार पोषक है इसका विचार स्वय पाठक महाशय कर लेवे। इतना हम अवश्य कहते हैं कि श्वेताम्बरीय ग्रथो ने साधुचर्या का इतना ह्रास किया है कि उसकी कुछ बात साधारण गृहस्थको भी लजाने वाली हो गई है।

चरबीका लेप

ससार में सर्व साधारण रूप से रक्त, मॉस, हड्डी, चमडा आदि पदार्थ अपवित्र माने जाते हैं। इसी कारण उनका उपयोग करना प्राय सभी शास्त्रो ने निषिद्ध ठहराया हे। लोहू, मॉस आदि पदार्थों के समान चरबी भी अपवित्र पदार्थ है। क्योकि वह भी त्रस जीवो के शरीर का एक भाग है। अत:एव किसी भी शास्त्रकारने चर्बीका व्यवहार करना उचित नही बतलाया हे। किन्तु श्वेताम्बरीय जैन शास्त्रों ने मद्य, मॉस आदि पदार्थों के समान ही चरबी का उपयोग करना भी बतला दिया है। यह आदेश किसी ऐसे वैसे भी श्वेताम्बर ग्रथ में नही है किन्तु बृहत्कल्प सरीखे ग्रथ में विद्यमान है।

इस बात को स्वय श्वेताबर आचार्य आत्मानदजी ने अपने "सम्यक्त्वशल्योद्धार ग्रथ में १६७ वें पृष्ठ पर यो लिखा है ।

"श्री बृहत्कल्पसूत्र मे चरबी का लेप करना कहा हे।"

यदि कोई अजैन मनुष्य जैन धर्म के अहिसातत्व के ऐसे विधानो का आश्रय लेकर हॅसी उडावे और जैन धर्म की निदा करे तो हमारे श्वताबरी भाई उसका क्या उत्तर दे सकेगे? इस बात का स्वय पाठक महोदय विचार करें।

संघभेदका इतिहास

श्वेतम्बरीय ग्रथकारो ने अपने श्वेताबर सम्प्रदाय की उत्पत्ति का जो बनावटी कल्पना की है उसको सुनकर हॅसी आती हे। उनका बनावटी कथन स्वय उनको असत्य सिद्ध करते हुए दिगम्बर सम्प्रदाय को पुरातन सिद्ध करता है।

इस बनावटी कथा को प्रसिद्ध श्वेताम्बर साधु आत्मानन्दजी ने **तत्वनिर्णयप्रासाद** ग्रथ के ५४२-५४३ और ५४४ वें पृष्ठो पर यो लिखा है

"रहवीर-रथवीरपुर नगर तहॉ दीपकनामा उद्यान तहॉ कृष्णानामा आचार्य समासरे (पधारे) तहॉ रथवीरपुर नगर में एक सहस्रमल्ल शिवभूतिनाम करक पुरुष था तिसकी भार्या तिसकी माता के साथ (सासु के साथ) लडती थी कि तेरा पुत्र दिन २ प्रति आधी रात्रि का आता है, मैं जागती ओर भूखी पियासी तब तक बैठी रहती हू। तब तिसकी माता ने अपना बहू से कहा कि आज तू दरवाजा बद करके सो रहे ओर मै जागूगी। बहू दरवाजा बद करके सो गई, माता जागती रही। सो अर्द्धरात्रि गये आया। दरवाजा खोलने का कहा। तब तिसकी माता ने तिरस्कार से कहा कि इस वखत मे जहाँ उघाडे दरवाजे है तहॉ तू जा सो वहॉ से चल निकला। फिरते फिरते (उसने) साधुओ का उपाश्रय उघाडे दरवाजा देखा तिस में गया। नमस्कार करके कहने लगा मुझको प्रव्रजा (दीक्षा) देओ। तब आचार्यो ने ना कही। तब आप ही लोच कर लिया। तब आचार्यो ने तिसको जैनमुनि का वेष दे दिया। तहॉ से सर्व विहार कर गये। कितनेक काल पीछे फिर तिसनगर में आये। राजा ने शिवभूति को रत्नकबल दिया। तब आचार्यो ने कहा एसा वस्त्र यति को लेना उचित नही। तुमने किस वास्ते ऐसा वस्त्र ले लीना? ऐसा कहके तिसका विना ही पूछे आचार्यो ने तिस वस्त्र के टुकडे करके रजोहरण के निशीथिये कर दीन। तब सो गुरुओ से कषाय करता हुआ।"

"एकदा प्रस्तावे गुरु ने जिनकल्पका स्वरूप कथन करा जैसे जिन कल्पी साधु दो प्रकार के होते हैं। एक तो पाणिपात्र (हाथों में भोजन करने वाला) और ओढ़ने केवस्त्रों रहित (नग्न) होता है। दूसरा पात्रधारी (खाने-पीने के बर्तन अपने साथ रखने वाला) वस्त्रों करके सहित होता है। पहिला भेद जो पाणिपात्र और वस्त्ररहित कहा है सो ही आठ विकल्पों में से प्रथम (उत्कृष्ट) विकल्प वाला जानना।"

"जब आचार्यो ने जिनकल्पका ऐसा स्वरूप कथन करा तब शिवभूति ने पूछा कि किस वास्ते आप अब इतनी उपाधि रखते हो ? जिनकल्प क्यों नहीं धारण करते हो? तब गुरु ने कहा कि इस काल में जिनकल्पकी सामाचारी नहीं कर सकते हैं क्योकि जबूस्वामी के मुक्ति गमन पीछे जिनकल्प व्यवच्छेद हो गया है। तब शिवभूति कहने लगा कि जिनकल्प व्यवच्छेद हो गया क्यों कहते हो? मैं करके दिखाता हू। जिनकल्प ही परलोकार्थी को करना चाहिये। तीर्थंकर भी अचेल (नग्न) थे। इस वास्ते अचेलता ही अच्छी है। तब गुरुओ ने कहा देह के सद्भाव हुए भी कषाय मूर्छादि किसी को होते हैं तिस वास्ते देह भी तेरे को त्यागने योग्य है। और अपरिग्रहपणा मुनि को सूत्र के कहा है सो धर्मोकरणों में भी मूर्छा न करनी। और तीर्थंकर भी एकात अचेल नहीं थे क्योंकि कहा है कि सर्व तीर्थंकर एक देवदूष्य वस्त्र लेके ससार में निकले हैं, यह आगमका वचन है। ऐसे गुरुओ ने तिसको समझाया भी, तो भी कर्मोदय करके वस्त्र छोड केनग्न होके जाता रहा। तिस शिवभूति ने दो चेले करे१ कौडिन्य २ कोष्टवीर। इन दोनों की शिष्यपरपरा से कालातर में मतकी वृद्धि हो गई। ऐसे दिगम्बर मत उत्पन्न हुआ।"

दिगम्बर सघ की उत्पत्ति की यह कथा इसी रूप से अन्य श्वेताबर ग्रथों ने भी लिखी है।

विचारशील सज्जन यदि विचार करें तो कल्पित कथा उलटी श्वेताबर ग्रथों के अभिप्राय में बाधा खड़ी करती है क्योंकि साधारण मनुष्य भी इसको पढकर यह समझ सकता है कि दिगम्बर सम्प्रदाय लाखों- करोडों वर्ष पहले से ही नही किन्तु जैन धर्म के आदि प्रवर्तक भगवान् श्री ऋषभदेव के समय से ही विद्यमान था। वीर निर्णण सवत् ६०९ के पीछे ही नवीन उत्पन्न नहीं हुआ। क्योंकि महाव्रतधारी साधु भगवान् ऋषभदेव के समय से ही होने लगे थे। महाव्रतधारी साधु श्वेताम्बरी ग्रथों के लिखे अनुसार तथा स्वय मुनि आत्मानदजी के लिखे अनुसार दो प्रकार के होते हैं। एक तो पाणिपात्र जो कि बिलकुल परिग्रहरहित नग्न दिगम्बर होते हैं। श्वेताम्बरीय ग्रथों के मतानुसार वे ही सबसे ऊचे दर्जे के साधु होते हैं। इन ही पाणिपात्र साधुओ को दिगम्बर सम्प्रदाय में महाव्रतधारी साधु (मुनि) माना गया है। दूसरे-पात्रधारी-यानी कपडे, बर्तन, दड आदि परिग्रह के धारण करने वाले साधु होते हैं। जैसे आजकल श्वेताम्बरीय साधु दीख पडते हैं जिनको कि दिगम्बर सम्प्रदाय में नवमी-दशमी, सातवीं-आठवी प्रतिमाधारी श्रावक बतलाया गया है। पाणिपात्र वस्त्ररहित नग्न उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु भगवान् ऋषभदेव के समय से ही होते आये हैं, ऐसा श्वेताम्बरीय ग्रथ भी स्वीकार करते हैं। तदनुसार श्वेताम्बरीय ग्रथों से तथा श्वेताम्बरीय मुनि आत्मानदजी के मुख से स्वय सिद्ध हो गया कि जब से जैन धर्म का उदयकाल है, नग्न दिगम्बर साधु तब से ही होते हैं।

कल्पसूत्र सस्कृत टीका के प्रथम पृष्ठ पर आचेलक्य कल्प के विषय में इस प्रकार स्पष्ट लिखा है-

आचेलक्यामिति–न विद्यते चेल वस्त्र यस्य सोचेलकस्तस्य भाव अचेलकत्व विगतवस्त्रत्व इत्यर्थ ।

इसकी गुजराती टीकावाले कल्प सूत्र के प्रथम पृष्ठ पर यो लिखा है–

"जेने चेल एटले वस्त्र न होय तो अचेलक कहेवाय। ते अचेलकनो भाव ते आचेलक्य अर्थात् वस्त्ररहितपणु । ते तीर्थंकरोने रहेलु छे तेमाँ पेहेला अने छेल्ला तीर्थंकरो ने शक्रेन्द्रे लावी आपेला देवदूष्य वस्त्रनो अपगम थवाथी तेओने सर्वदा अचेलकत्वा एटले वस्त्ररहितपणु छे अने बीजा तीर्थंकरो ने सो सर्वदा सचेलकत्व वस्त्रसहितपणु छे। आ विषे किरणावली टीकाकारे जे चौबीस तीर्थंकरोने पण शक्र इन्द्रे आपेला देवदूष्य वस्त्रना अपगम थवाथी अचेलकपणु कह्यु छे ते शक भरेलु छे।"

अर्थात्–जिस साधु के पास कोई कपडा नही होता उसको अचेलक (नग्न) कहते हैं। अचेलक के भाव को आचेलक्य यानी नग्नपना कहते हैं। वह नग्नपना तीर्थंकरों के आश्रय से रहा आया है। उनमे से पहले और अतिम तीर्थंकरके इद्र द्वारा लाकर दिये गये देवदूष्य वस्त्र के हट जाने से उनके सदा अचेलकत्व यानी नग्न वेष रहा है। और अन्य तीर्थंकरों के तो सदा सचेलकत्व यानी वस्त्र–सहितपना है। इस विषय में किरणावली टीकाकार जो चौबीसों तीर्थंकरों के इद्र द्वारा दिये गये देवदूष्य वस्त्र हट जाने से नग्न पना कहता है सो सन्देह भरी हुई बात है। कल्पसूत्र के इस लेख से यह सिद्ध हुआ कि श्वेतावरीय ग्रथकार जैन साधुओ के नग्न दिगम्बर वेष को केवल दो हजार वर्ष पहले से ही नही किन्तु भगवान ऋषभदेव के समय से ही स्वीकार करते हैं। कतिपय श्वेताबरी ग्रथकार (किरणावली टीकाकार आदि) समस्त तीर्थंकरों की साधु अवस्था को नग्न दिगम्बर रूप में मानते हैं और लिखते हैं। फिर मुनि आत्मानदजी के लिखने में कितनी सत्यता है इसका विचार स्वय श्वेताम्बरी भाई करें ।

समस्त राजवैभव, धनसपत्ति का परित्याग करने पर भी तीर्थंकर इन्द्र के दिये हुए लाखों रुपये के मूल्य वाले देवदूष्य कपडे को अपने पास क्यो रखते हैं ? उस वस्त्र से उनके साधु चारित्र में क्या सहायता मिलती है ? इन्द्र इस देवदूष्य वस्त्र को तीर्थंकरके कधे पर रख देता है। फिर उस वस्त्र को तीर्थंकर ओढ लेवें तो उनके उस वस्त्र मे ममत्वभाव होने से परिग्रह का दोष क्यों नहीं । और ओढते नही तो वह वस्त्र कधे पर सदा रक्खा कैसे रह सकता है ? उठने, बैठने, चलने, ठहरने, आदि दशा में शरीर के हिलने चलने से तथा हवा आदि से दूर क्यो नही हो जाता? समस्त परिग्रह छोड देने पर उस अमूल्य देवदूष्य वस्त्र को स्वीकार करके अपने पास रखने की तीर्थंकरों को आवश्यकता क्या है ? यदि देवदूष्य वस्त्र रखकर भी तीर्थ निर्दोष रहते हैं तो मुकुट, अगरखा, धोती, दुपट्टा, आदि वस्त्र पहन कर भी निर्दोष क्यों नही रह सकते ? इत्यादि अनेक प्रश्न ऐसे हैं जो कि तीर्थंकरों के देवदूष्य वस्त्र रखने की कल्पना को एक दम उडा देते हैं।

कल्पसूत्र के ६६ वें पृष्ठ पर उल्लेख है कि–

"हवे एवी रीते श्रमण भगवत श्री महावीर स्वामी एक वर्ष अने एक मास सुधि वस्त्रधारी . तेवार पछी वस्त्र रहित ह्या तथा हाथ रूपीज पात्र वाला रह्या"

यानी– इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर स्वामी एक वर्ष और एक महीने तक वस्त्र धारी उसके पीछे वस्त्र रहित नग्न ही रहे और हाथ रूपी पात्र में भोजन करने वाले हुए।

कल्पसूत्र के इस लेख से यह सिद्ध हुआ कि १३ माग पीछे अत समय तक स्वय भगवान महावीर स्वामी नग्न दिगम्बर साधु रहे। फिर ऐसा होने पर तत्वनिर्णयप्रासाद के ५४२ वें पृष्ठ पर लिखा हुआ मुनि आत्मानद का "श्री महावीर भगवत के निर्वाण हुआ पीछे ६०९ वर्षे बोटिकों क मत की दृष्टि अर्थात् दिगम्बर मत की श्रद्धा रथवीरपुर नगर में उत्पन्न हुए।" यह लेख कैसे मेल खा सकता है। इन दोनो में से या तो कल्पसूत्र का कथन असत्य होना चाहिये अथवा तत्वनिर्णय प्रासाद का लेख असत्य होना चाहिये।

किन्तु कल्पसूत्र का कथन तो इसलिए असत्य नही कि आचाराग सूत्र आदि ग्रथो में भी भगवान् ऋषभदेव, महावीर आदि तीर्थकरो क नग्न दिगम्बर वेष का उल्लेख है तथा सर्वोत्कृष्ट जैन साधु जिनकल्पी मुनि का नग्न दिगम्बर होना ही बतलाया है जिसको स्वय मुनि आत्मानद जी भी स्वीकार करते है। अतएव दो हजार वर्षो से ही दिगम्बर मत की उत्पत्ति कहने वाला आत्मानदजी का लेख ही असत्य है।

हम को बहुत भारी आश्चर्य तो मुनि आत्मानदजी की (जिनको श्वेताम्बरी भाई अपना प्रख्यात कलियुगी सर्वज्ञ आचार्य मानते है अतएव पालीताना के मदिरो में उनकी पाषाण प्रतिमा विराजमान करके पूजते है) समझ पर आता है कि उन्होने दिगम्बर सघ की उत्पत्ति कहने वाली कल्पित कथा लिखते समय यह विचार नही किया कि हमारे इस कल्पित लेख से भी दिगम्बर मत की प्राचीनता ही सिद्ध होती है।

विचार करने का विषय है कि प्रथम तो रथवीरपुर और उसमे रहने वाला शिवभूति कोई पुरुष नही हुआ। किसी भी दिगम्बर शास्त्र मे उसका रच मात्र उल्लेख नही। केवल कल्पित उपन्यास या गल्प के ढग पर कपालकल्पित कथा जोडने के लिए श्वेताम्बरीय ग्रथो मे रथवीर पुर और शिवभूति का नाम लिख दिया है।

दूसरे- यदि कपोल कल्पित रूप से रथवीरपुर नगर तथा उसके रहने वाले शिवभूति का अस्तित्व मान भी लिया जाय तथापि दिगम्बर सघ की उत्पत्ति वीर निर्वाण स ६०९ अथवा विक्रम स १३८ में न होकर लाखो करोडो वर्ष पहले के जमाने से अर्थात् प्रथम तीर्थङ्कर के समय से ही सिद्ध होती है। क्योंकि इस कल्पित कथा का लिखने वाला स्वय कहता है कि "एक समय गुरु ने जिन कल्प का स्वरूप वर्णन किया जिसमे उत्तम जिनकल्पी साधु वस्त्र रहित, (नग्न) पाणिपात्र हाथो मे भोजन करने वाले बतलाया"। यदि नग्न वेष (दिगम्बर) के धारण करने वाले साधु पहले समय मे नही होते थे तो श्वेताम्बरी गुरु ने उनका स्वरूप कैसे बतलाया ? स्वरूप तो उसी का कहा जाता है जो कि पहले विद्यमान हो। गधे का सीग यदि ससार मे अब तक कही नही पाया गया तो अब तक उसकी मूर्तिका वर्णन भी किसी ने नही किया। अत सिद्ध होता है कि उत्तम जिन कल्पधारी साधु अर्थात् दिगम्बर मुनि पहले जमाने से ही पाये जाते थे।

यदि जिनकल्पधारी अर्थात् नग्न दिगम्बर साधु पहले जमाने से ही होते आये है जैसा कि स्वय मुनि आत्मानद जी कल्पित कथाकार की ओर से कहते हैं कि "जम्बूस्वामी के मुक्ति गमन पीछे जिनकल्प का (अर्थात दिगबर सघ का) व्यवच्छेद हो गया" तो फिर दिगम्बर सघ की मूल उत्पत्ति जम्बु स्वामी के ६०० छह सो वर्ष पीछे कहना बडी भारी हास्यजनक मूर्खता है। इस प्रकार कल्पित कथा का लिखने वाला स्वय अपने मुख से आप झूठा ठहरता है। उसको अपने आगे पीछे

के कथन का रचमात्र भी बोध नही था। आश्चर्य इतना है कि मुनि आत्मानद भी इस बुद्धिशून्य मूलभरी कथा को सत्य मानकर प्रमाण रूप में लिख गये।

अब जरा कल्पित कथा पर भी ध्यान दीजिये। शिवभूति का अपनी माता की फटकार मिलने पर वैराग्य हो गया। वह रात्रि के समय ही उपाश्रय मे साधुओ के पास पहुँचा और अपने साधु बनने की प्रार्थना की। साधुओ ने उसको दीक्षा देने का निषेध कर दिया। (रात्रि को महाव्रती साधु बोलते नही हैं फिर उसको निषेध कैसे किया ?) तब शिवभूति अपने आप लोच करके साधु हो गया। जब वह केशलोच करके साधु बन गया, तब उन आचार्यों ने भी उसे दीक्षा दे दी। फिर आचार्य वहाँ से चले गये। राजा ने उस शिवभूति साधु को रत्नकबल दिया, उसने ले लिया। कुछ समय पीछे जब आचार्यों ने फिर उस नगर में आकर शिवभूति के पास रत्नकबल देखा तो उन्होंने पहले तो उस रत्नकबल को ग्रहण न करने का उपदेश दिया। जब शिवभूति ने उनका कहना न माना, तो आचार्यों ने गुप्त रूप से उसका कबल ले लिया और उसके टुकडे करके रजोहरण (ओघा-पीछी) के निशीथिये बिना दिये। फिर किसी समय उन आचार्यों ने उत्कृष्ट जिनकल्पी साधुओ का स्वरूप बतलाया तब शिवभूति साधु आचार्यो के निषेध करने पर भी समस्त वस्त्र, बर्तन, बिस्तर, कबल, लाठी आदि परिग्रह को छोडकर नग्न दिगम्बर मुनि (उत्कृष्ट जिन कल्पी) हो गया।

यहाँ पर प्रथम तो यह बात विचार करने की है कि रात के समय साधु बोलते नही। ध्यान, सामायिक आदि मे लगे रहते है। वचन गुप्ति (मान) धारण करते है **फिर उन्होंने शिवभूति को साधु दीक्षा देने का निषेध कैसे किया ? यदि सचमुच निषेध किया ही तो उन श्वेताबरी आचार्यों को सिद्धात प्रतिकूल स्वच्छन्द विहारी मानना चाहिये।**

दूसरे- शिवभूति को साधु की दीक्षा देने के लिए उन आचार्यो ने प्रथम इन्कार (निषेध) क्यो किया ? और थोडी देर पीछे ही उसको साधुदीक्षा क्यो द दी ?

तीसरे- शिवभूति ने रत्न कबल लेकर श्वेताम्बरीय सिद्धान्त के अनुसार अन्याय कौन सा किया जिसको न रखने के लिए आचार्यो ने उसको कहा, क्योकि श्वेताम्बरी ग्रथो मे सर्वत्र लिखा है कि महाव्रत धारण करते समय तीर्थकर भी सौधर्म इन्द्र के दिये हुए दिव्य, बहुमुल्य देवदूष्य वस्त्र को अपने पास रखते हैं। शिवभूति तो उन तीर्थकरो की अपेक्षा नीचे दर्जे का साधु था तथा उसका रत्न कबल भी तीर्थकरो के देवदूष्य वस्त्र से बहुत थोडे मूल्य वाला वस्त्र था।

चौथे- आचायो ने शिवभूति के बिना पूछे उसका रत्न कबल क्यो लिया ? क्या दूसरे की वस्तु बिना पूछे ग्रहण करना चोरी पाप नही है ? जिसके कि साधु लोग बिल्कुल त्यागी होते हैं। उसमें भी आचार्य तो साधुओं का प्रायश्चित देने वाले होते है। फिर भला उन्हे दूसरे का बहुमूल्य वस्तु बिना पूछे उठाकर चोरी का पाप करना कहाँ तक उचित है।

पाँचवे- जब शिवभूति से रत्नकबल ही छुडवाना था तो उस कबल को दूर क्यो नही फेंक दिया, टुकडे करके निशीथिये क्यो बना दिये ? क्या निशीथिये बना देने से रत्न कबल का बहुमूल्यपना न रहा ? तथा साधु को निशीथिये रत्न कबल के बनाकर अपने पास रखने की आज्ञा भी कहाँ है ?

छठे– उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु का स्वरूप सुनकर जब शिवभूति अपने वस्त्र, पात्र छोडकर नग्न रूप धारण कर उत्कृष्ट जिनकल्पी साधु हो गया, तब उसने अन्याय कौन सा किया। जिससे कि श्वेताम्बरीय ग्रथकार उसको मिथ्यादृष्टि कहकर अपनी बुद्धिमानी प्रगट करते हैं। शिवभूति ने सबसे ऊँचे दर्जे का जिनकल्पी साधु बनकर साधुचर्या का उन्नत आदर्श ही ससार को दिखलाया जो कि आप लोगो के कहे अनुसार जबूस्वामी के मुक्त हुए पीछे कठिन तपस्या के कारण भले ही बद हो गया था। **उत्तम धर्मानुकूल कार्य करने पर मिथ्या दृष्टि कहना श्वेताम्बर ग्रथकारों का बुद्धि से बैर करना है।**

सातवें– शिवभूति ने नवीन पथ ही क्या चलाया ? नग्न दिगम्बर जैन साधु आप के कल्पसूत्र आदि ग्रथों के कहे अनुसार भगवान् ऋषभदेव के जमाने से होते चले आये हैं तथा कल्पित कथाकार के लेखानुसार जबूस्वामी तक वस्त्र रहित (नग्न) जिनकल्पी साधु होते रहे हैं। फिर शिवभूति के जिनकल्पी साधु बनने की बात को कौन बुद्धिमान पुरुष नवीन कह सकता है? नवीन पथ वह ही कहलाता है जिसको पहले किसी ने न चलाया होवे।

आठवें– कल्पित कथाकार ने विक्रम सवत् की दूसरी शताब्दी में (१३८ वें वर्ष मे) दिगम्बर पथ की उत्पत्ति बतलाया है, किन्तु समयसार, षट्पाहुड, रयणसार, नियमसार आदि आध्यात्मिक ग्रथों के रचयिता श्री कुदकुदाचार्य प्रथम शताब्दी (४९ वें वर्ष में) हुए हैं जो कि शिलालेखो आदि प्रमाणों से प्रमाणित हैं। कुदकुदाचार्य नग्न दिगम्बर साधु ही थे यह सारा ससार समझता है। फिर दिगम्बर पथ दूसरी शताब्दी में उत्पन्न हुआ कैसे कहा जा सकता है। दूसरी शताब्दी में भी कल्पित कथाकार द्वारा बतलाये १३८ वें वर्ष वाले समय के पहले १२५ वें वर्ष में गन्धहस्तिमहाभाष्य, रत्नकरड श्रावकाचार, स्वयम्भूस्तोत्र आदि अनुपम ग्रथ रत्नों के निर्माता ससार प्रख्यात आचार्य श्री समन्तभद्र हुए हैं जिनके विषय में श्वेताम्बर ग्रथकार श्री हेमचन्द्राचार्य अपने सिद्ध हैमशब्दानुशासन नामक व्याकरण ग्रथ के द्वितीय सूत्र की व्याख्या में स्वयम्भूस्तोत्र के "नयास्तव स्यात्पदसत्यलाछिता" इत्यादि श्लोक का उल्लेख करते हैं तथा श्री मलयगिरिसूरि अपने आवश्यक सूत्र की टीका में –"आद्यस्तुतिकार" शब्द से उल्लेख करते हैं। ये समन्तभद्राचार्य दिगम्बर साधु ही थे। जब वे वि स १२५ में हुए तब दिगम्बर पथ की उत्पत्ति विक्रम स १३८ में बतलाना कितनी भारी मोटी अनभिज्ञता है।

नौवें –(विक्रम सवत् प्रचलित होने से पहले जो प्राचीन अजैन ग्रथकार हुए हैं उन्होंने अपने ग्रथों में जैन साधुओ का स्वरूप नग्न, दिगम्बर रूप में ही उल्लेख किया है, श्वेताम्बर रूप में कही नही बतलाया।) इन प्रमाणों को हम आगे प्रकट करेंगे। फिर दिगम्बर पथ की उत्पत्ति विक्रम सवत् की दूसरी शताब्दी कैसे कही जा सकती है ?

इस कारण दिगम्बर पथ की उत्पत्ति के विषय में जो कथा श्वेताम्बरी ग्रथकारो ने लिखी है वह असत्य तो है ही किन्तु उलटी उनकी हँसी कराने वाली भी तथा उनके अभिपाय पर पानी फेरने [illegible] है।

संघभेद का असली कारण
श्री भद्रबाहु की कथा

भगवान् श्री ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर स्वामी तक जो जैन धर्म एक धारा के रूप में चला आया वही जैन धर्म भगवान् महावीर के मुक्त हुए पीछे दिगम्बर, श्वेताम्बर रूप में विभक्त कैसे हो गया इसकी कथा भी बडी करुणाजनक तथा दु ख उत्पादक है। असह्य विपत्ति शिर के ऊपर आ जाने पर धीर वीर मनुष्य का हृदय भी धार्मिक पथ से किस प्रकार विचलित हो जाता है, स्वार्थी मनुष्य अपने स्वार्थ पोषण के लिए ससार का पतन कर डालने को भी अनुचित नही समझते, इसका पूर्ण रगीन चित्र इस कथा से प्रगट होता है। कथा इस प्रकार है

आज से २५१९ वर्ष पहले अतिम तीर्थंकर श्री १००८ महावीर भगवान् ने मोक्ष प्राप्त की है। तदनतर ६२ वर्षों में गौतमस्वामी, सुधर्मा स्वामी और जबू स्वामी ये तीन केवलज्ञानी हुए। इन तीन केवल ज्ञानियों के पीछे १०० वर्ष के समय में श्री विष्णु मुनि, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली यानी पूर्ण श्रुतज्ञानी हुए। इनमें से अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु के समय में जो कि वीर निर्वाण सवत् १६२ अथवा विक्रम सवत् से ३०७ वर्ष पहले का है, १२ वर्ष का भयानक दुर्भिक्ष (अकाल) पड़ा था। उसी दुर्भिक्ष के समय बहुत से जैन साधु मुनिचारित्र से भ्रष्ट हो गये और दुर्भिक्ष समाप्त हो जाने पर उनमें से कुछ साधु प्रायश्चित लेकर फिर शुद्ध नही हुए। हठ करके उन्होंने अपना भ्रष्ट स्वरूप ही रक्खा। वस उन्ही भ्रष्ट साधुओ ने श्वेताम्बर मत को जन्म दिया। खुलासा विवरण इस प्रकार है।

इस भारत वर्ष के पौंड्रवर्द्धन देश में कोटपर नगर था। उस नगर मे सोमशर्मा नामक एक अच्छा विद्वान् ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्री सोमश्री थी। उस सोमश्री के उदर से एक अनुपम, होनहार, बुद्धिमान बालक का जन्म हुआ। उस बालक की भद्र (मनोहर) शरीर आकृति देखकर लोगों ने उस बालक का नाम भद्रबाहु रक्खा। बातचीत करने, खेल खेलने, उठने-बैठने आदि व्यवहारों से वह अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय लोगों को देने लगा।

एक समय श्री गोवर्द्धन नामक श्रुतकेवली (समस्त द्वादशाग श्रुतज्ञान के पारगामी) गिरनार क्षेत्र की यात्रा करके अपने सघ सहित लौट रहे थे। मार्ग में कोटपुर नगर पडा। इस नगर के बाहर भद्रबाहु अन्य लडकों के साथ खेल रहा था। उस समय खेल यह हो रहा था कि कौन लडका कितनी गोलियो को एक दूसरे के ऊपर चढा सकता है ? इस खेल के समय ही श्री गोवर्द्धन आचार्य भी वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने देखा कि किसी लडके ने चार गोली एक दूसरे के ऊपर चढाई तो किसी ने पाँच गोलियाँ चढाई। आठ गोलियों से अधिक कोई भी बालक गोलियो को एक दूसरे के ऊपर खडा न कर सका।

किन्तु जब भद्रबाहु की बारी आई तब भद्रबाहु ने कुशलता से एक दूसरे के ऊपर रखते हुए चौदह गोलियाँ चढाकर ठहरा दी। जिसको देखकर खेलने वाले सभी लडको को तथा देखने वाले श्री गोवर्द्धन आचार्य के सघवाले सब मुनियों को बडा आश्चर्य हुआ।

गोवर्द्धन स्वामी आठ अग निमित्तों के ज्ञाता थे यानी-आठ प्रकार के निमित्तों को देखकर आगामी होने वाली शुभ-अशुभ बात को जान लेते थे। उन्होने भद्रबाहु की खेलने की चतुराई का

निमित्त देखकर तथा उसके शरीर के शुभ लक्षण जानकर निश्चय किया कि यह बालक ग्यारह अग, चौदह पूर्वो का ज्ञाता श्रुतकेवली होगा। जिस समय उन्होने उसका नाम पूछा तब तो उनको पूर्ण निश्चय हो गया कि श्री महावीर भगवान् ने जो भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली का होना बतलाया है सो वह श्रुतकेवली यह बालक ही होगा।

ऐसा निर्णय करके श्री गोवर्द्धन स्वामी ने भद्रबाहु से कहा कि हे महाभाग! चलो, तुम हमको अपने घरपर ले चलो। भद्रबाहु श्री गोवर्द्धन स्वामी को अपने घर पर ले गया। वहॉ पर भद्रबाहु के माता-पिता ने श्री गोवर्द्धन स्वामी को, उच्चे आसन पर बिठाकर बहुत सत्कार किया। तब श्री गोवर्धन आचार्य ने उनसे कहा कि तुम्हारा भद्रबाहु एक अच्छा होनहार बालक है। यह समस्त विद्याओं का पारगामी अनुपम विद्वान् होगा सो तुम इसको पढाने के लिए मुझको दे दो। मैं इसको समस्त शास्त्र पढाऊगा।

भद्रबाहु के माता-पिता ने प्रसन्न मुख से कहा कि महाराज ! यह बालक आपका ही है। आपको पूर्ण अधिकार है कि आप इसे अपने मन के अनुसार अपने पास रखकर चाहे जो अध्ययन करावें। हमको इस विषय में बोलने का कुछ अधिकार नही। ऐसा कहकर उन दोनों ने भद्रबाहु को प्यार करके आशीर्वाद देकर श्री गोवर्द्धन आचार्य के साथ रवाना कर दिया।

गोवर्द्धन स्वामी के पास रहकर भद्रबाहु समस्त शास्त्रो का अध्ययन करने लगा। गुरु ने परोपकारिणी बुद्धि से भद्रबाहु को अच्छी तरह पढाया और भद्रबाहु ने भी गुरु के विनय, आज्ञापालन आदि गुणों से गुरु के हृदय को प्रसन्न करते हुए थोडे से समय में समस्त शास्त्र पढ लिए। ज्ञानावरण कर्म के प्रबल क्षयोपशम को प्राप्त कर तथा गुरु गोवर्द्धन का अनुग्रह पूर्ण प्रसाद पाकर भद्रबाहु ने सिद्धात, न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, छन्द आदि सब विषय तथा ग्यारह अग, चौदह पूर्व, समस्त अनुयोग पढकर धारण कर लिए।

समस्त विद्याओ में पारगामी हो जाने पर भद्रबाहु ने अपने गुरु श्री गोवर्द्धन स्वामी से अपने माता-पिता के पास जाने के लिए विनयपूर्वक आज्ञा मॉगी। गोवर्द्धन स्वामी ने आशीर्वाद देकर भद्रबाहु को घर जाने की आज्ञा दे दी।

भद्रबाहु अपने को अनुपम विद्वान् जानकर जब अपने घर पहुचे तो उनके माता-पिता उनको देखकर बहुत प्रसन्न हुए। भद्रबाहु की प्रखर विद्वता की प्रशसा सर्वत्र होने लगी।

एक दिन भद्रबाहु अपने नगर के राजा पद्मधर की राज सभा में पधारे। राजा ने भद्रबाहु का आदरपूर्वक स्वागत करते हुए उच्चासन दिया। राज सभा मे ओर भी अनेक अभिमानी विद्वान् विद्यमान थे। उन्होंने भद्रबाहु की विद्वत्ता परखने के लिए भद्रबाहु के साथ कुछ छेड-छाड की। फिर क्या था, भद्रबाहु ने बात की बात में समस्त अभिमानी विद्वानो को अपनी गभीर वाग्मिता से जीत लिया। उस समय स्याद्वाद सिद्धात तथा जैन धर्म का राज सभा के समस्त सभासदों के ऊपर बहुत भारी प्रभाव पडा। राजा पद्मधरने जैन धर्म स्वीकार कर लिया। इस भारी विजय के कारण भद्रबाहु का यश दूर- दूर तक फैल गया।

अपने माता-पिता के पास घर में रहते हुए कुछ दिन बीत गये। एक दिन भद्रबाहु को ससार की नि सार दशा देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ। वे घर को विकट जाल अथवा कारावास (जेलघर) समझने लगे। कुटुब परिवार का प्रेम उन्हे विष समान मालूम होने लगा। सासारिक पदार्थ उन्हें

विषफल के समान दीखने लगे। इस कारण उन्होने घर-परिवार को छोडकर साधु बनकर वन मे रहने का निश्चय किया।

इस विचार को प्रगट करते हुये जब भद्रबाहु ने अपने माता-पिता से मुनि बनने के लिए आज्ञा माँगली तब उनके माता-पिता ने गृहस्थाश्रम का सब प्रकार लोभ दिखलाते हुए वैराग्य मे भद्रबाहु का चित्त फेरना चाहा। किन्तु भद्रबाहु सच्चे तत्वज्ञानी थे। ससार के भोगो की निष्फलता तथा साधु जीवन का महत्त्व उन के हृदय पटलपर अच्छी प्रकार अकित हो चुका था। इस कारण वे गृहस्थाश्रम के लोभ में तनिक भी नही फँसे। पुत्र का दृढ निश्चय देख कर भद्रबाहु के माता-पिता ने भद्रबाहु को साधु बनने की अनुमति दे दी।

श्री भद्रबाहु स्वामी अपने माता-पिता की आज्ञा पाकर मुनिदीक्षा ग्रहण करने के लिए अपने विद्यागुरु श्री गोवर्द्धन स्वामी के समीप गये। वहाँ पहुँच उनके चरण कमलो मे मस्तक रखकर भद्रबाहु ने गद्गद् स्वर में प्रार्थना की कि पूज्य गुरो ! जिस प्रकार आपने मुझको अनुग्रहपूर्ण हृदय से ज्ञान प्रदान किया है उसी प्रकार अब मुझको निर्वाण दीक्षा देकर चारित्रप्रदान भी कीजिये। मैं सासारिक विषय भोगों से भयभीत हूँ। मुझे विषयभोग विषभोजन के समान ओर कुटुम्ब परिजन विषभरे नाग के समान दृष्टिगोचर होते हैं। इनसे आप मेरी रक्षा कीजिये।

श्री गोवर्द्धन स्वामी ने प्रसन्न मुख से आशीर्वाद देते हुए कहा वत्स ! तुमने बहुत अच्छा विचार किया है। तत्व ज्ञान का अभिप्राय ही यह है कि जिस पदार्थ को अपना स्वार्थनाशक समझे उसका साथ छोडने मे तनिक भी देर न करे। तपस्या करके आत्मा को शुद्ध बनाना यह ही मनुष्य का सच्चा स्वार्थ है। इस परमार्थ को सिद्ध करने के लिए जो तुमने निश्चय किया है वह बहुत अच्छा है।

ऐसा कह कर गोवर्धन स्वामी ने भद्रबाहु को विधिपूर्वक असयम, परिग्रह का त्याग कराकर साधु दीक्षा दी।भद्रबाहु दीक्षित होकर साधुचर्या पालन करते हुए अपना जीवन सफल समझने लगे।

जैसे रत्न स्वय सुदर पदार्थ है किन्तु सुवर्ण में जडकर उसकी कान्ति ओर भी अधिक मनोमोहिनी हो जाती है, इसी प्रकार भद्रबाहु स्वामी का अगाध ज्ञान स्वय प्रकाशमान गुण था।अब वह मुनिचारित्र के सयोग से और भी अधिक सुदर दीखने लगा। भद्रबाहु स्वामी को सर्वगुण सम्पन्न देखकर गोवर्द्धन स्वामी ने उन्हें एक दिन शुभ मुहूर्त मे मुनिसघ का आचार्य बना दिया, आचार्य बनकर भद्रबाहु मुनि सघ की रक्षा करने लगे।

कुछ दिनो पीछे गोवर्धनाचार्य ने अपना मृत्यु समय निकट आया जानकर चार आराधनाओ की आराधना कर समाधि धारण की और अतिम समय समस्त आहार पान का त्याग करके इस मानव शरीर को छोडकर स्वर्गों में दिव्य शरीर धारण किया।

श्री गोवर्द्धन आचार्य के स्वर्गारोहण करने के पीछे भद्रबाहु आचार्य अपने मुनिसघ सहित देशान्तरों में विहार करने लगे। विहार करते हुए भद्रबाहु स्वामी मालव देश के उज्जयिनी (उज्जैन) नगर के निकट उद्यान में आकर ठहरे। उस समय भारतवर्ष का एकछत्र राज्य करने वाला सम्राट् **चन्द्रगुप्त** उज्जयिनी में ही निवास करता था। उसको रात्रि के अतिम पहर में सोते हुए १६ सोलह स्वप्न दिखलाई दिये। १- कल्प वृक्ष की शाखा टूट गई है। २- सूर्य अस्त होता हुआ देखा।

३–चन्द्रमा के मडल में बहुत से छेद देखे। ४– बारह फण वाला सर्प दिखलाई दिया। ५– देव का विमान पीछे लौटता हुआ देखा। ६–, अपवित्र स्थान में (धूल कूडे–करकट में) फूला हुआ कमल देखा। ७–भूत–प्रेतों को नाचते–कूदते देखा। ८– खद्योत (पटवीजना–जुगनू) का प्रकाश देखा। ९– एक किनारे पर थोडे से जल का भरा हुआ और बीच में सूखा ऐसा तालाब देखा। १०– सोने के थाल में कुत्ते को खीर खाते हुए देखा। ११– हाथी के ऊपर बदर को सवार देखा। १२– समुद्र को अपने किनारों की मर्यादा तोडते देखा। १३– छोटे–छोटे बछडो से खिंचता हुआ रथ देखा,। १४– ऊट के ऊपर चढा हुआ राजपुत्र देखा। १५– धूल से ढके हुए रत्नो का ढेर देखा।तथा १६– काले हाथियों का आपस में युद्ध देखा।

इन अशुभ स्वप्नो को देखकर चन्द्रगुप्त को कोई भारी अनिष्ट होने की आशका होने लगी। इस कारण उसका चिंतातुर हृदय उन अशुभ स्वप्नो का फल जानने के लिए व्यग्र हो उठा। प्रात काल होते ही नित्य नियम समाप्त करके जैसे ही राजसभा में पहुँचकर राजसिहासन पर बैठा कि उद्यान के वनपालने उनके सामने अनेक प्रकार के फल फूल भेट करके निवेदन किया कि महाराज। उद्यान में श्रुत केवली श्री भद्रबाहु आचार्य अपने सघ सहित पधारे हैं।

यह शुभ समाचार सुनकर चन्द्रगुप्त को हर्ष हुआ। उसने विचार किया कि आज मेरी चिंता श्री भद्रबाहु के दर्शन से दूर हो जायगी। यह विचार कर उसने हर्षित होकर वनपाल को अच्छा पारितोषक दिया और नगर में आनन्द की भेरी बजवायी। नगरनिवासी जनता ने श्री भद्रबाहु आचार्य का आगमन जानकर हर्ष मनाया।

सम्राट् चन्द्रगुप्त भद्रबाहु आचार्य के समीप वन्दना करने के लिए अपने मन्त्रिमडल, मित्र, परिकर, कुटुम्ब, परिजन सहित बडे समारोह से चला। नगर की जनता भी उसके पीछे पीछे चली।

उद्यान मे पहुँचकर चन्द्रगुप्त ने बहुत विनय भाव से भद्रबाहु स्वामी के चरणों में नतमस्तक होकर प्रणाम किया। फिर यथास्थान बैठ जाने पर चन्द्रगुप्त ने हाथ जोडकर भद्रबाहु स्वामी के सन्मुख रात्रि को देखे हुए १६ अशुभ स्वप्न कह सुनाये और उनका फल जानने की इच्छा प्रगट की।

भद्रबाहु स्वामी ने कहा कि वत्स, १६ अशुभ स्वप्न पचमकाल में होनेवाली घोर अवनति के बतलाने वाले हैं। उनका फल मैं क्रम से कहता हूँ सो तू सावधान होकर सुन।

पहले स्वप्न का फल यह है कि इस कलिकाल में अब पूर्ण श्रुतज्ञान अस्त हो जाने वाला है अर्थात् अब आगे कोई भी द्वादशाङ्ग का वेत्ता श्रुतकेवली नही होगा।

दूसरे स्वप्न का फल है कि–अब आगे कोई भी राजा लोग जैनधर्म धारण कर सयम ग्रहण नहीं करेंगे। तीसरा स्वप्न बतलाता है कि–जैन मत के भीतर भी अनेक भेद हो जावेगे। चौथे स्वप्न का फल है कि अब बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष (अकाल) होगा। पॉचवॉ स्वप्न कहता है कि– इस कलिकाल मे कल्पवासी आदि देव, विद्याधर, चारणमुनि नही आवेगे। छठे स्वप्न का फल यह है कि–उत्तम कुलवाले क्षत्रिय आदि कुलीन मनुष्य कलिकाल में जैन धर्म ग्रहण नही करेंगे। जैन धर्म पर नीचकुल वालो की रुचि उत्पन्न होगी। सातवें स्वप्न का फल है कि इस कलियुग में भूत पिशाचादि कुदेवों की श्रद्धा जनता में बढेगी। आठवॉ स्वप्न कहता है कि कलिकाल की विकराल प्रगति से जैनधर्म का प्रकाश बहुत मद हो जायगा। नौवें स्वप्न का फल यह है कि जिन

अयोध्या आदि स्थानों पर तीर्थंकरो के जन्म आदि कल्याणक हुए हैं वहाँ पर जैनधर्म का नाश होगा किन्तु दक्षिण देश में जैन धर्म की सत्ता बनी रहेगी। दशवें स्वप्न का फल है कि धनसम्पत्ति का उपभोग करने वाले नीच जाति के मनुष्य होंगे। हाथी पर चढा हुआ बदर देखा उसका फल यह है कि राज्य करने वाले नीच लोग होंगे। क्षत्रिय राज्यहीन होगे। बारहवे स्वप्न का कहना है कि–प्रजापालक राजा लोग नीतिमार्ग छोडकर अनीतिमार्ग पर चलेंगे। तेरहवें स्वप्न का फल है कि कलिकाल में तपश्चरण करने के भाव मनुष्यो को अपनी छोटी अवस्था में ही होगे। वृद्ध दशावाले लोग सयम नही ग्रहण करेंगे। ऊट पर चढा हुआ राजपुत्र देखने का फल यह है कि राजा लोग अहिंसा धर्म छोडकर हिसक बनेंगे। धूल से ढके हुए रत्नो के देखने का फल यह है कि साधु लोग भी परस्पर एक दूसरे की निदा करेंगे। अतिम स्वप्न का फल यह है कि बादल ठीक समय पर वर्षा नही किया करेंगे। यानी अतिवृष्टि, अनावृष्टि प्राय हुआ करेगी।

सम्राट् चन्द्रगुप्त अपने १६ दु स्वप्नों के ऐसे अशुभ फल होते जानकर ससार से भयभीत हो गया। उसने शरीर, धन, कुटुम्ब, राज्य–शासन आदि की असारता समझकर साधु बनकर तपस्या करना ही उत्तम समझा। ऐसे प्रबल वैराग्य भाव से प्रेरित होकर राजसिहासन पर बैठ राज्य करना जजाल मालूम हुआ। इस कारण उसने अपने पुत्र सिहसेन को जिसका कि दूसरा नाम बिन्दुमार था, राजसिंहासन पर बैठाया और उसको राज्यशासन के समस्त अधिकार देकर आप श्री भद्रबाहु आचार्य से मुनिदीक्षा लेकर साधु बन गया। दीक्षा ग्रहण करते समय भद्रबाहु आचार्य ने उसका चन्द्रगुप्त नाम बदलकर **प्रभाचन्द्र** रख दिया।

एक दिन भद्रबाहु आचार्य गोचरी के लिए नगर में गये वहॉ पर जिनदास सेठने उनका आह्वान किया। तदनुसार जब आचार्य घर के भीतर भोजन करने घुसे तब वहॉ पर एक छोटे से बालक ने भद्रबाहु को घर मे आते देखकर कहा कि '**जाओ जाओ,**' भद्रबाहु स्वामी ने उससे पूछा कि कितने समय के लिए जावे ? उस अबोध बालक ने कहा १२ बारह वर्ष के लिए। यह सुनकर भद्रबाहु आचार्य अतराय समझ कर विना आहार ग्रहण किये ही वहॉ से वन मे पीछे चले गये।

वहाँ पर पहुँचकर श्री भद्रबाहु आचार्य ने अपने समस्त मुनिसघ को पास में बुलाया और उन सबसे कहा कि अब इधर मालवदेश में १२ वर्ष का भयानक दुर्भिक्ष पडने वाला है जिसमें लोगो को अन्न का कण मिलना भी दुर्लभ हो जायगा। उस भयानक समय में पात्रदान आदि शुभकार्य बद हो जावेंगे। उस समय इस देश में मुनिसघ का विहार असभव हो जावेगा। अनएव जब तक यहाँ दुर्भिक्ष रहे तब तक कर्णाटक आदि दक्षिण देशो मे विहार करना चाहिये। भद्रबाहु स्वामी की आज्ञा समस्त मुनि सघ ने स्वीकार की।

जब यह बात उज्जैन के श्रावकों ने सुनी तब वे सब मिलकर सघ के अधिपति श्री भद्रबाहु स्वामी के पास आये और आकर प्रार्थना करने लगे कि महाराज! आप मालव देश में ही विहार कीजिये, दक्षिण देश की ओर न जाइये।

भद्रबाहु स्वामी ने कहा कि श्रावक लोगो ! तुम्हारा कहना ठीक है, किन्तु यहॉ पर १२ वर्ष तक घोर दुष्काल रहेगा जिसमें लोगो को एक दाना भी खाने को न मिलेगा। उस भयानक समय में इस देश के भीतर मुनिधर्म का पालना असभव हो जायगा।

छोडी। तदन्तर वृक्षों की छाल खाना आरम्भ किया, वह भी सब खा डाली। घास आदि जहाँ जो कुछ दीख पडा क्षुधापीडित लोगों ने खा पी डाला।

उसके पीछे खाने के लिए कुछ भी वस्तु न मिलने पर सडको पर, मकानो के साम्ने भूखे लोग भूख से रोने-पीटने चिल्लाने लगे। माता-पिताओ ने क्षुधापीडित होकर ऐसी निर्दयता धारण की कि वे अपने-अपने छोटे-छोटे बच्चो को छोडकर अपनी क्षुधा मिटाने के लिए इधर-उधर भटकने लगे। फिर कुछ न पाकर जमीन पर पडकर प्राण देने लगे। सैकडो मनुष्य तडफ-तडफ कर, छटपटाते हुए, विलख-विलख कर प्राण देने लगे। उनकी प्यास मिटाने के लिए उनको पानी देने भी कोई नही मिलता था।

ऐसे विकट समय में श्री रामल्य, स्थूलभद्र तथा स्थूलाचार्य के मुनि-सघ के लिए बहुत भारी कठिनता उत्पन्न हो गई। वे उस समय भद्रबाहु स्वामी के वचन का स्मरण करने लगे।

एक दिन सघ के साधु भोजन करके जब वन मे वापिस जा रहे थे उस समय एक साधु पीछे रह गये। क्षुधापीडित निर्दय मनुष्यों ने उन को पकड लिया और उनका शरीर चीर डाला। चीर कर उनके शरीर का कलेवर खा गये। ऐसा अनर्थ सुनकर उज्जैन में हा हा कार मच गया। ऐसे अनर्थो को रोक देने के लिए उज्जैन के समस्त श्रावक आचार्यों के निकट जाकर प्रार्थना करने लगे कि महाराज! यह समय बडा भयानक है। इस समय आपका भोजन करके वन मे जाना बहुत भयाकुल है। इस समय आप मुनिधर्म की रक्षा के लिए कृपा करके नगर मे पधारिये। वहाँ आपको एकान्त स्थानों में ठहरने से मुनिचर्या में कोई अडचन न आवेगी।

श्रावकों का निवेदन उचित समझ कर तीनो आचार्यों ने वन छोड कर नगर मे रहना स्वीकार कर लिया। श्रावक लोग उनको नगर में बहुत उत्सव के साथ ले आये और नगर के अनेक मकानों में ठहरा दिया।

नगर में आकर मुनिसघ को, वन में लौटने के समय क्षुधापीडित रङ्क लोगो से जो बाधा होती थी सो तो अवश्य मिट गई। किन्तु दूसरी बाधा यह आ खडी हुई कि जब वे आहार लेने श्रावको के घर जाते तभी भूखे दीन दरिद्र लोग भोजन पाने की आशा से उन मुनियो के साथ हो जाते थे। जब उनको किसी प्रकार से दूर हटाते थे तो वे दीन करुणा-जनक स्वर से विलाप करते थे जिससे मुनि अन्तराय समझकर बिना आहार किये लौट जाते थे।

अतरायका दूसरा कारण यह भी होता था कि श्रावक लोग दरिद्र लोगों को घर में घुस आने के भय से दिन भर घर का द्वार बद रखते थे। मुनि जब आहार के लिए उनके घर पर जाते थे, दरवाजा बद देखकर लौट जाते थे। इस आपत्ति को दूर करने के लिये श्रावक लोगो ने आचार्यों के समीप पहुँचकर विनयपूर्वक प्रार्थना की कि महातमन् यह समय बहुत भारी सकट का है। इस समय मुनिधर्म की रक्षा के लिए आपको इस प्रकार निराहार रहना ठीक नही। दिन मे घर पर आकर भोजन लेना असभव हो रहा है। इस कारण इस विपत्ति काल में आप हमारी यह प्रार्थना स्वीकार करें कि रात्रि के समय भोजन पात्रों में ले, जा आकर दिन में खा लिया करें। ऐसा किये बिना काम नही चल सकता।

आचार्यों ने पहले तो यह बात अनुचित समझ कर स्वीकार नही की किन्तु अत में कुछ और उचित उपाय न देखकर दुष्काल के रहने तक यह बात भी स्वीकार कर ली। तदनुसार रामल्य

आदि आचार्यों की आज्ञानुसार प्रत्येक मुनि को आहार पान लाने के लिए काठ के पात्र मिल गये। उन पात्रों को लेकर प्रत्येक मुनि रात्रि के समय श्रावकों के घर जाता और वहाँ से भोजन लेकर अपने स्थान पर आकर दूसरे दिन खा लिया करता।

रात्रि के समय श्रावकों के घर आते-जाते समय सडक-गलियों के कुत्ते मुनियों की ओर भौंकते और उन्हें काटने दौडते। खाली हाथों वाले अहिंसा महाव्रतधारी साधुओ को यह भी बहुत बाधा खडी हो गई। यदि कुत्तों को भगाने के लिए वे कपडो में बधे पात्रों की पोटली से काम लेते तो भोजन खराब होता था। अन्य भी किसी प्रकार कुत्तों से बचने का उपाय उनके पास नहीं था। इस कारण उनके परिणामों में व्याकुलता उत्पन्न होने लगी।

इस बाधा को दूर करने के लिए सपस्त श्रावकों ने आचार्य महाराज से सविनय प्रार्थना की कि महाराज ! नगर में रहते हुए कुत्तों की बाधा से बचने के लिए एक उपाय केवल यह है कि सब साधु महाराज अपने-अपने पास एक-एक लाठी अवश्य रक्खें। उस लाठी के भय से कुत्ता, चोर, बदमाश आपको बाधा नहीं पहुँचा सकेंगे।

दुष्काल की विकराल दशा को देखकर आचार्यों ने श्रावकों का यह कहना भी स्वीकार कर लिया। फिर उस दिन से प्रत्येक साधु अपने पास एक-एक लाठी रखने लगा जिससे कि डरकर कुत्तों ने भी साधुओ को आते-जाते काटना बद कर दिया।

एक बार रात्रि के समय एक क्षीण शरीर वाला मुनि लाठी, पात्र लिए यशोभद्र सेठ के घर भोजन लेने गया। तब उसकी गर्भवती स्त्री धनश्री उस मुनि का नग्न काला भयकर शरीर देखकर डर गई। वह एक दम इतनी डर गई कि उसको गर्भपात हो गया। जिससे उस घर में हाहाकार मच गया। साधु भी अन्तराय समझकर अपने स्थान को बिना भोजन लिए लौट गये।

दूसरे दिन आचार्यों के निकट श्रावकों ने आकर यशोभद्र सेठके घर सेठानी के गर्भपात का समाचार सुनाया और विनयपूर्वक निवेदन किया कि गुरुमहाराज ! आप स्वय समझते हैं कि ऐसे भयानक समय में मुनिधर्म की रक्षा करना बहुत आवश्यक है। उसकी रक्षा के लिए आपने जैसे हमारी प्रार्थना सुनकर नगर में रहना, लाठी पात्रों का रखना आदि स्वीकार कर लिया है। उसी प्रकार कृपा करके एक चादर तथा एक कबल शरीर को ढकने के लिए रखना भी अवश्य स्वीकार कर लीजिये। अन्यथा काम चलना बडा कठिन है। साधु के नग्न शरीर के कारण ही यशोभद्र की सेठानी का भयभीत होकर गर्भपात हो गया। जिस समय दुर्भिक्ष समाप्त हो जाय उस समय आप यह सब उपाधि त्याग कर शुद्ध मुनिवेष धारण कर लेना।

आचार्यों ने यह विचार किया कि दुर्भिक्ष का अत होने पर हमारे इन दोषो का भी अत हो जायेगा। हम प्रायश्चित लेकर पुन शुद्ध हो जावेंगे। यदि हम इस समय कपडे न पहनें तो हमारा रहना बहुत कठिन है। यदि हम तथा हमारे सघ के मुनि न रहे तो जैन धर्म के प्रचार में बहुत बाधा आवेगी। अत. इस समय वस्त्र धारण करना भी आवश्यक है। यह विचार कर उन्होंने श्रावकों की बात स्वीकार कर ली और मुनियों को आज्ञा दी कि प्रत्येक मुनि चादर तथा कबल पहने ओढे।

आचार्यों की आज्ञानुसार तब से प्रत्येक साधु कपडे भी पहनने ओढने लगे।

इस प्रकार एक-एक आपत्ति को दूर करने के लिए वस्त्र, पात्र, लाठी रखना, श्रावकों के घर से भोजन लाकर अपने स्थान पर खाना, रात्रि में आना-जाना, नगर में रहना इत्यादि अनेक

अनुचित बातें जो कि मुनिधर्म के प्रतिकूल थी, इन रामल्य स्थूलभद्र, स्थूलाचार्य ने तथा उनके सघ में रहने वाले साधुओ ने स्वीकार करली।

दुर्भिक्ष ने बारह वर्ष के विकट बहुत बडे चक्कर को काटकर अपनी समाप्ति की। इस चक्कर में कितने मनुष्य, पशु, पक्षी किस बुरी दशा मे छटपटाते हुए प्राण छोड गये इसको सर्वज्ञदेव के सिवाय और कोई नही जानता।

बारह वर्ष तक चोल पाण्ड्य (दक्षिण-कर्णाटक) देशो मे विहार करते हुए विशाखाचार्य उत्तरी भारतवर्ष में दुर्भिक्षका अत समझकर अपने समस्त मुनिसघसहित मालव देश की ओर चल पडे। मार्ग में जहाँ श्रवण बेलगुल के समीप कटवप्र पर्वत पर भद्रबाहु स्वामी और उनके अनन्य भक्त प्रभाचन्द्र मुनि को (पूर्वनाम-चन्द्रगुप्त) छोडा था, आकर ठहरे। यहाँ पर प्रभाचन्द्र मुनि से भद्रबाहु स्वामी के समाधि मरण का समाचार पूछा। फिर प्रभाचन्द्र मुनि को भी अपने साथ लेकर मालवा देश के लिए विशाखाचार्य ने प्रयाण किया। तथा वे चलते चलते मार्ग मे जेन धर्म का प्रचार करते हुए क्रमसे मालव देश में आ पहुँचे।

समस्त सघसहित विशाखाचार्य को मालव देश मे आया हुआ जानकर रामल्य स्थूलभद्र स्थूलाचार्य ने (इनमें स्थूलाचार्य सबसे वृद्ध थे) एक मुनि को भेज कर विशाखाचार्य के पास यह सदेशा भेजा कि आप उज्जैन पधार कर हम सब लोगो को दर्शन दीजिये। हम आपके दर्शनो की प्रतीक्षा कर रहे हैं।

संदेश लाने वाले मुनि को कपडे पहने हुए साथ मे भोजन पात्र रक्खे हुए तथा हाथ मे लाठी लिए हुए देखकर विशाखाचार्य के हृदय मे बहुत दु ख हुआ। उन्होने उस मुनि से कहा कि परिग्रह त्याग महाव्रत स्वीकार करते हुए तुम लोगो ने ससार वृद्धि का कारण रागभाव का उत्पादक यह दड पात्र वस्त्र आदि परिग्रह क्यो स्वीकार कर लिया है? क्या जैन साधु का ऐसा स्वरूप होता है?

सदेश लाने वाले साधु ने नीची आखे करके दुर्भिक्षका सारा वृत्तात और प्रबल बाधाओ को हटाने के लिए लाठी, पात्र, कपडे आदि रखने की कथा विशाखाचार्य को कह सुनाई।

विशाखाचार्य ने यह कह कर उसको विदा किया कि तुम लोगो ने दुर्भिक्ष के समय देश मे रहकर ऐसा उन्मार्ग चलाया यह ठीक नही किया। खैर, अब छेदोपस्थापना प्रायश्चित्त लेकर इस प्रतिकूल मार्ग को छोडकर फिर उसी पहले निर्ग्रंथ नग्न मुनिवेश को तथा निर्दोष मुनि चारित्रको धारण करो।

उस मुनि ने स्थूलाचार्य अपर नाम शान्ति आचार्य के पास जाकर विशाखाचार्य की कही हुई समस्त बातें कह सुनाई। विशाखाचार्य का सदेश सुनकर स्थूलाचार्य को अपनी भूल मालूम हुई। उन्होंने समस्त मुनियों को अपने पास बुलाकर विशाखाचार्य का सदेश कहा और मधुर शब्दों में समझाया कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए आप लोगो ने साधुचर्या स्वीकार करके महाव्रत धारण किये हैं। इन महाव्रतों में तथा मुनिचारित्र में दुर्भिक्ष के कारण जो दोष उत्पन्न हो गये हें उन दोषो को दूर करते हुए प्रायश्चित्त ग्रहण करके शुद्ध होना आवशक है। ऐसा किये बिना तुम्हारी कठिन तपस्या और यह मुनिचर्या निष्फल है। जिन-आज्ञा के विरुद्ध आचरण पालने से मिथ्यात्व भाव हृदय में प्रवेश करता है। जिस प्रकार सफेद वस्त्र पर जरा सा धब्बा भी सब किसी को दीखता है उसी प्रकार

हम लोगों की चर्या के दोष सारे ससार को दृष्टिगोचर हैं। इस निमित्त से ससार में जैनधर्म का बहुत उपहास होगा।

स्थूलाचार्य का (अपरनाम शान्ति आचार्य का) यह उपदेश अनेक भद्र साधुओ को हितकर मालूम हुआ इस कारण उन्होंने अपने मलिन चारित्र का परिशोध करते हुए वस्त्र लाठी, पात्र आदि उपाधि छोडकर पहले सरीखा नग्न, निर्ग्रंथ वेश धारण कर लिया।

किन्तु कुछ साधुओ को स्थूलाचार्य का यह उपदेश ऐसा अप्रिय अनुभव हुआ जैसे वेश्या व्यसनवाले पुरुष को व्यभिचार की निन्दा और ब्रह्मचर्य की प्रशसा सुनकर बुरा मालूम होता। उन्होंने स्थूलाचार्य से कहा कि पूज्यवर ! आपका कथन सत्य है किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल भावको अपने अनुकूल देखकर प्रवृत्ति योग्य है। यह कलिकाल बडा विकराल काल है। इस भयानक समय में मनुष्यों का शरीर हीन सहनन वाला होने से निर्बल होता है। नग्न रहकर लज्जा, सर्दी-गर्मी आदि विकट बाधाओ को जीतना बहुत बलवान शरीर का काम है। हम लोग इस निर्बल शरीर को लेकर नग्न किस प्रकार रह सकते हैं?

स्थूलाचार्य ने कहा कि यदि तुम लोग नग्न रहकर परीषह नहीं सह सकते हो तो बहुत उत्तम बात यह होगी कि मुनिचारित्र छोडकर ग्यारहवीं प्रतिमा का श्रावकचारित्र धारण करो जिससे तुम्हारा उत्साह, इच्छा भी न गिरने पावे और जैनसाधुओ का भी ससार में उपहास न होने पावे। मार्ग एक ही ग्रहण करो। या तो मुनि चारित्र पालना स्वीकार हो तो ये लाठी, पात्र, वस्त्र छोडकर नग्न निर्ग्रंथ वेश धारण करो। अथवा यदि वस्त्र नहीं छोडना चाहते हो तो ऊँची श्रेणी का गृहस्थ आचरण पालना स्वीकार करो। महाव्रतधारी जैन मुनि नाम रखकर गृहस्थों कीसी क्रियाएँ रखना सर्वथा अनुचित है।

स्थूलाचार्य का यह उत्तर सुनकर मुनियों ने फिर कहा कि नग्न निर्ग्रंथ वेश धारण करने की तो हमारे शरीर तथा आत्मा में शक्ति नही और गृहस्थ चारित्र इसलिए नही पालना चाहते हैं कि फिर हमारा अपमान होगा। ससार हमारी हीन दशा देखकर हँसी उडावेगा। फिर हमको कोई भी महाव्रतधारी मुनि न कहेगा और इसी कारण हमारा फिर इतना आदरसत्कार, सम्मान भी नहीं होगा।

तब स्थूलाचार्य ने उत्तर दिया कि यदि तुम लोग गृहस्थ चारित्र पालना नहीं चाहते और अपने मुनि चारित्र को भी निर्दोष नहीं करना चाहते तो इसका अभिप्राय यह है कि यह भ्रष्ट साधुवेश तुम केवल ससार को धोखा देने के लिए ही धारण करते हो। तुम्हारे हृदय में सच्चा वैराग्य भाव नहीं है। इस कारण कहना होगा कि तुम इस मुनिवेश से केवल उदरपूर्ति करना चाहते हो, लोगों में बडप्पन प्राप्त करना चाहते हो। आत्मकल्याण का भाव तुम्हारे हृदय में रचमात्र भी नहीं है।

स्थूलाचार्य के ऐसे खरे वचन सुनकर उन साधुओ में से २-१ साधु को बहुत क्रोध हो आया। वह स्थूलाचार्य की वृद्धदशा, आचार्य पदवी का तथा पूज्यता का कुछ भी खयाल न करके उत्तेजित होकर बोल उठे कि यह तो बुढ्ढा हो गया है। इसकी बुद्धि भी बुढ्ढी हो गई है। अब इसको हित-अहित का विचार करने की जरा भी शक्ति नही रही। इसी कारण यह ऐसा अड-बड बोल रहा है। इसकी बातें सुनना पाप है तथा इसका देखना भी अशुभ है। यह बुढ्ढा जब तक रहेगा तब तक हम लोगों को शान्ति प्राप्त नहीं होगी।

ऐसा कहते हुए एक क्रूरचित्त साधु ने जो कि स्थूलाचार्य का ही शिष्य था लाठी के दश पाँच अच्छे प्रहार स्थूलाचार्य (अपरनाम शान्ति आचार्य) के शिर पर कर दिये जिसको कि उनका दुर्बल वृद्ध शरीर न सह सका और उनका प्राणपक्षी असार शरीर को छोडकर उड गया।

स्थूलाचार्य का जीव आर्तध्यान से मरा इस कारण व्यन्तरदेवका शरीर पाया। उस व्यन्तरने अपने पूर्व भवकी अवस्था जानकर उस भ्रष्ट साधु-सघ में उपद्रव करना आरम्भ कर दिया। उसने उन साधुओ से कहा कि जब तक तुम लोग नग्न निर्ग्रंथ वेश धारण नही करोगे तब तक यह उपद्रव करना नहीं रोकूँगा। तब उन साधुओ ने दीनता के साथ कहा कि हम बलहीन हैं। नग्न निर्ग्रंथ वेश धारण करने में हम असमर्थ हैं। हमने बहुत अपराध किया है जो आपको अज्ञानता वश पहले भवमें (स्थूलाचार्य के भवमें) कष्ट दिया है उसको क्षमा कीजिये। हम आपकी पूजा भक्ति करेंगे।

ऐसा कहकर उन्होंने उस व्यन्तरदेवकी स्थापना करके पूजन किया। इस पर व्यन्तर देवने भी अपना उपद्रव बद कर दिया।

तदनन्तर उन भ्रष्ट जैन साधुओ ने अनेक धनिक सेठों, राजपुत्र, पुत्रियों को मन्त्र, यत्रादिका प्रभाव दिखलाकर अपना भक्त बना लिया। उन धनिक सेठों तथा राजपुत्रों के कारण अन्य साधारण जनता की भक्ति भी उन साधुओ पर होने लगी। इस कारण महाव्रत का वे साधु उस रूप में भी सम्मान पाने लगे। सम्मान पाने से उन्होंने अपने भ्रष्ट साधुवेशका प्रचार करना आरम्भ किया। तदनुसार बहुत से मनुष्यों को जैन मुनि की दीक्षा देकर अपने सरीखा दड पात्र वस्त्रधारी बना दिया। लोगों ने भी मुनिचर्या का सरल मार्ग देखकर मुनि बनना सहर्ष स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार वे दुर्भिक्ष के समय भ्रष्ट साधु अपना सघ बनाकर शिथिलाचार फैलाने लगे। उनके शिष्य उनसे भी अधिक शिथिलाचारका पक्ष पकडकर भ्रम फैलाने लगे। इस प्रकार वह जैनसाधुओ का भ्रष्ट स्वरूप उनके शिष्य प्रतिशिष्यों द्वारा भी खूब प्रचार में लाया गया। उधर विशाखाचार्य के सघ के तथा उनके उपदेश से प्रायश्चित लेकर शुद्ध होने वाले स्थूलाचार्य के सघ के साधु (मुनि) अपने प्राचीन सत्य मार्ग पर दृढ रहे और उनके शिष्य प्रतिशिष्य नग्न निर्ग्रंथ वेशका प्रचार करते रहे।

इस प्रकार की कार्यवाही ३-४ शताब्दियों तक चलती रही। उसके पीछे विक्रम सवत् १३६ में गुजरात के वल्लभीपुर नगर में उन्होंने एकत्र होकर अपना सगठन किया। वहाँ पर उन्होंने स्त्रीमुक्ति, गृहस्थमुक्ति अन्यलिंगमुक्ति, सग्रथमुक्ति, महावीरस्वामी का गर्भपरिवर्तन आदि कल्पित सिद्धात स्थिर किये। वे साधु सफेद चादर ओढते थे इस कारण उन्होने अपने सघ का नाम 'श्वेताम्बर' यानी सफेद कपडेवाला रक्खा। और जो साधु विशाखाचार्य की शिष्य परम्परा में नग्न निर्ग्रंथ वेशधारी थे उनका नाम 'दिगम्बर' (दिक् अम्बर) रक्खा, जिसका कि अर्थ दिशारूपी वस्त्र धारण करने वाले अर्थात् नग्न है। इसी दिन से एक जैन सम्प्रदाय के दिगम्बर, श्वेताम्बर ऐसे दो विभाग हो गये। इस सम्प्रदाय भेद हो जाने के बहुत दिन पीछे अनुमानत वीर सवत् ९०० के समय वल्लभीपुर नगर में देवर्द्धिगण नामक श्वेताम्बर आचार्य ने आचारागसूत्र आदि अनेक ग्रथों की प्राकृत भाषा में रचना की। ग्रथों की इस प्राकृत भाषा का नाम उन्होंने अर्द्धमागधी भाषा रक्खा। इन ग्रथों में उन्होंने अपने अनेक कल्पित सिद्धान्त तथा शिथिलाचार पोषक सिद्धान्त रख दिये जिनका कुछ उल्लेख हमने पीछे कर दिया है।

****

स्थानकवासी संप्रदाय

इस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय जैन समाज के भीतर भद्रबाहु स्वामी के पीछे बारह वर्ष के दुर्भिक्षका निमित्त पाकर एक नवीन भ्रष्ट रूप लेकर उठ खड़ा हुआ। उस समय की विकट परिस्थिति का सामना करते हुए श्वेताम्बर सघ के मूल जन्मदाता साधुओ ने जो वस्त्र, पात्र, लाठी आदि परिग्रह पदार्थ स्वीकार किये थे उन्हीं की प्रवृत्ति आज तक बराबर चली आ रही है। विशेषता केवल इतनी है कि अब श्वेताम्बर साधुओ में और भी अधिक शिथिलता आ गई है। तदनुसार उनका परिग्रह भी पहले से अधिक बढ गया है। आज से ३००-४०० वर्ष पहले श्वेताम्बर सघ से निकले हुए स्थानकवासी (ढूढिया) साधुओ ने लाठी रखना छोड दिया है। साथ ही जिन-मदिर, जिन-प्रतिमा पूजन की भी प्रवृत्ति छोड दी है।

भद्रबाहु स्वामी तथा चन्द्रगुप्त राजा के समय बारह वर्ष का दुर्भिक्ष मालवदेश में पड़ा था और उस समय वे अपने मुनिसंघसहित दक्षिण देश में गये थे, इसकी साक्षी श्रवणबेलगुल के एक शिलालेख से मिलती है। यह शिलालेख श्रवणबेलगुल में चन्द्रगिरि पर्वत के ऊपर चन्द्रगुप्तवस्ती के मदिर के सामने एक १५ फीट ७ इच ऊचे तथा ४ फीट ७ इच चौडे शिलाखंड पर पुरानी कनडी लिपि में खुदा हुआ है। इस शिलालेखका वीर स २६६ (विक्रम सवत् से २०३ वर्ष पहले) सम्राट् चन्द्रगुप्त के पौत्र सिंहसेन द्वितीयनाम बिन्दुसार के पुत्र महाराज भास्कर अपरनाम अशोक ने (बौद्ध धर्म ग्रहण करने के पूर्व ३० वर्ष की आयु से प्रथम) उस समय लिखवाया था जब कि वह अपने पितामह मुनि प्रभाचन्द्र (पूर्व नाम चन्द्रगुप्त) के दीर्घकालीन निवास से तथा भद्रबाहु स्वामी के संन्यास मरण करने से पवित्र इस पर्वत प्रदेश पर आया था। वहाँ उसने अपने पितामह चन्द्रगुप्त के नाम से मदिर बनवाये जो कि अभी तक 'चन्द्रगुप्त वस्ती' के नाम से प्रसिद्ध है, तथा श्रवणबेलगुल नगर बसाया। सम्राट् अशोक अपने राज्याभिषेक से १३ वें वर्ष तक जैनधर्मानुयायी रहा था तत्पश्चात् उसने बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। अतएव विक्रम सवत् से १९३ वर्ष पहले तक के अनेक शिलालेख अशोक के लिखवाये हुए जैन-धर्म सम्बन्धी प्राप्त होते हैं।

वह श्रवणबेलगुल का शिलालेख इस प्रकार है-

जितं भगवता श्रीमद्धर्मतीर्थविधायिना।
वर्द्धमानेन सम्प्राप्तसिद्धिसौख्यामृतात्मना।।१।।
लोकालोकद्वयाधारवस्तु स्थास्नु चरिष्णु च।
सच्चिदालोकशक्ति स्वा व्यश्नुते यस्य केवला।।२।
जगत्यचिन्त्यमाहात्म्यपूजातिशयमीयुष ।
तीर्थकृन्नामपुण्यौघमहार्हन्त्यमुपेयुष ।।३।।
तदनु श्रीविशलेयञ्जयत्यद्य जगद्धितम् ।
तस्य शासनमाव्याज प्रवादिमतशासनम् ।।४।।

अथ खलु सकलजगदुदयकरणोदितातिशयगुणास्पदीभूतपरम- जिनशासन सरस्समभिवर्द्धितभव्यजनकमल विकशनवितिमिरगुणकिरण सहस्त्रमहोति महावीरसवितरि परिनिर्वृत्ते भगवत्परमर्षिगौतमगणधर-साक्षाच्छिष्यलोहार्यजम्बु-विष्णुदेव-अपराजित गोवर्द्धन-भद्रबाहु-प्रोष्ठिल-क्षत्रियकार्यजयन नामसिद्धार्थषेणबुद्धिलादिगुरुपरम्परीण माभ्यागतमहापुरुष सन्ततिसमवद्योतान्वय भद्रबाहुस्वामिना उज्जयिन्या अष्टाङ्गमहानिमित्ततत्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादशसम्वत्सर कालवैषम्यमुपलभ्य कथिते सर्वसङ्घ उत्तरपथात् दक्षिणापथ प्रस्थित आर्षेणैव जनपद अनेकग्रामशतसख्यमुदित जनधनकनकशस्यगोमहिषाजाविकलसमाकीर्णम् प्राप्तवान् अत आचार्य प्रभाचन्द्रेणामा-विनतललामभूतेथास्मिन् कटवप्रनामकोपलक्षिते विविधतरुवरकुसु-मदलावलिविकलनशवल विपुलस जलजलदनिवहनी लोपलतले बराह-द्वीपिव्याघ्रर्क्षतरक्षुव्याल मृगकुलो पचितो पत्यका कन्दरदरीमहगुहाग-हनभोगवतिसमुत्तुङ्गशृ गे शिखरिणि जीवितिशेषम् अल्पतरकाल अवबुध्याध्वन सुचकित तप समाधिम् आराधयितुम् आपृच्छ्य निरवशेषण सघम् विसृज्य शिष्येणैकेन पृथुलकास्तीर्णतलासु शिलासु शीतलासु स्वदेहम् सन्न्यस्याराधितवान् क्रमेण सप्तशत ऋषीणाम् आराधितम् इति। जयतु जिनशासन इति।

अर्थ– अन्तरग, बहिरग लक्ष्मी से विभूषित, धर्म मार्ग के विधाता, मुक्तिपद पाने वाले श्री महावीर भगवान् नित्य अनन्त सुखस्वरूप उन्नत पद को प्राप्त हुए हैं।

जगत् मे सुर, असुर, मनुष्य, इद्रादि द्वारा पूजित अचित्य महिमा के धारक तथा तीर्थकर नामक उच्च अर्हत पद को प्राप्त होने वाले महावीर स्वामी का केवलज्ञान, लोक अलोकवर्ती समस्त चर-अचर पदार्थों को प्रकाशित कर रहा है।

उन महावीर स्वामी के पीछे यह नगरी लक्ष्मी शोभा से शोभायमान थी। इस नगरी में आज भी उन महावीर स्वामी का जगत्हितकारी, वादियो के मतों पर शासन करने वाला सच्चा शासन विद्यमान है। यानी–इस नगर मे जैनधर्म का अच्छा प्रभाव है।

समस्त जगत् के उदय करने वाले अनुपम गुणो से विभूषित, जैनशासन को उन्नत करने वाले, भव्य जन समुदाय को विकसित करने वाले, अज्ञान अधकार को दूर करने वाले श्रीमहावीर भगवान् रूपी सूर्य के मुक्ति प्राप्त कर लेने पर भगवान् के परम ऋषि गौतम गणधर के साक्षात शिष्य लोहाचार्य, जम्बूस्वामी, विष्णुदेव, अपराजित, गोवर्द्धन, भद्रबाहु, विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रियाचार्य, जयनाम सिद्धार्थ, धृतषेण, बुद्धिल आदि गुरुपरम्परा क्रम से चली आई महापुरुषों की सन्तान में अष्टाङ्ग महानिमित्तज्ञान से भूत भविष्यत् वर्तमान के होने वाले शुभ-अशुभ कार्यों के ज्ञाता भद्रबाहु आचार्य हुए। उन भद्रबाहु स्वामी ने उज्जयिनी में निमित्तज्ञान से यहाँ पर बारह वर्ष का घोर दुर्भिक्ष पडेगा" ऐसा जानकर उन्होने अपने मुनिसघ से दक्षिण देश की ओर प्रस्थान करने को कहा। तदनुसार मुनिसघ उत्तरदेश से दक्षिण देश को चल दिया। सघ के साथ भद्रबाहु स्वामी धन, जन, धान्य, सुवर्ण, गाय, भैंस आदि पदार्थों से भरे हुए अनेक ग्राम, नगरों में होते हुए पृथ्वी तलके आभूषण रूप इस कटवप्र नामक पर्वत पर आये। मुनि प्रभाचन्द्र (चन्द्रगुप्त) भी साथ में थे।

अनेक प्रकार के वृक्ष, फल, फूल से शोभायमान, सजल बादल समूहों से सुशोभित, सिंह, बाघ, सुअर, रीछ, अजगर, हरिण आदि जगली जानवरों से भरे हुए, गहन गुफाओ और उन्नत शिखरों से शोभायमान इस कटवप्र पर्वत पर अपना अल्प जीवन समय जानकर, समाधिसहित शरीर त्याग करने के लिए समस्त सघ को विदा करके एक शिष्य के साथ भद्रबाहु स्वामी ने विस्तीर्ण शिलाओ पर समाधि मरण किया। सघ के ७०० ऋषियों ने भी समय-समय पर यहाँ चार आराधनाओ का आराधन किया है। जैनधर्म जयवत होवे।

****

श्री भद्रबाहुस्वामी और सम्राट् चन्द्रगुप्त के विषय में इतिहास सामग्री

प्रिय पाठक महानुभावो ! यद्यपि श्रवण बेलगुल के प्रथम शिलालेख से यह स्पष्ट हो गया है कि "अतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी को उज्जयिनी (मालवा) में बारह वर्ष के दुष्काल की भीषणता निमित्त ज्ञान से मालूम हुई थी और उससे मुनिचारित्र को निष्कलक रखने के लिए वे अपने सघसहित जिसमें नवदीक्षित परमगुरुभक्त मुनि प्रभाचन्द्र पूर्व नाम सम्राट् चन्द्रगुप्त भी थे, दक्षिण देश को गये थे। वहाँ पर अपना मृत्यु समय निकट जानकर कटवप्र पर्वत पर जिसको कि आजकल चन्द्रगिरि भी कहते हैं अपनी सेवा के लिए चन्द्रगुप्त को अपने पास रखकर श्री भद्रबाहु स्वामी ने सन्यासमरण किया था।" किंतु कुछ महाशय इस बात की सत्यता में सन्देह करते हैं। उनके विचार में अतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी और सम्राट् चन्द्रगुप्त का समय एक नहीं बैठता। इतिहास की आड लेकर वे दोनों का समय भिन्न-भिन्न ठहराते हैं।

हम उनके इस सन्देह को यहाँ पर दूर कर देना आवश्यक समझते हैं। इस विषय में जो महाशय शंकितचित्त हैं उनको पहले श्रवण-बेलगुल (चन्द्रगिरि) के अन्य शिलालेखों का अवलोकन कर लेना चाहिये। ऐसा करने से उनका सन्देह बिलकुल दूर हो जायेगा। देखिये

शिलालेख नं.२
नागराक्षर में प्रतिलिप

श्री भद्रबाहु सचन्द्रगुप्त मुनीन्द्र युग्मादी नोप्पोवल भद्रभाग इदाधर्म अन्दुवलि केवद इनिपलकुलो विद्रुमधरे शान्तिसेन मुनीशनाक्कि सचेलगो राआद्रिमेल अशनादि विट्टु पुनर्भवाकिर गी।

यानी-शान्तिसेन की पत्नी यह कहती हुई पहाड पर चली गई कि श्री भद्रबाहु तथा महामुनि चन्द्रगुप्त के अनुकूल चलना ही परम सद्धर्म है। बल्कि वह भोजनादि छोडकर अनेक परीषहों को सहन कर अमर पद को प्राप्त हुई।

इस शिलालेख से सिद्ध होता है कि श्री भद्रबाहु स्वामी के शिष्य चन्द्रगुप्त मुनिदीक्षा से दीक्षित होकर चन्द्रगिरि पर्वत पर श्री भद्रबाहुस्वामी के साथ रहे थे।

शिलालेख नं. ३

श्री भद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुत ।
श्रुतकेवलिनाथेषु चरम परमो मुनि ।
चन्द्रप्रकाशोज्वलसान्द्रकीर्ति ।
श्रीचन्द्रगुप्तोजनि तस्य शिष्य ।
यस्य प्रभावाद्वनदेवताभि-
राराधित' स्वस्य गणो मुनीनाम् ।।

भावार्थ – सर्व प्रकार से कल्याण कारक, श्रुतकेवलियों में अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु परम मुनि हुए। उनके शिष्य चन्द्रगुप्त हुए जिनका यश चन्द्रसमान उज्ज्वल है और जिनके प्रभाव से वन देवता ने मुनियों की आराधना की थी।

इस शिलालेख से यह बात प्रमाणित होती है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त जिन भद्रबाहु मुनीश्वर के शिष्य थे वे श्री भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली ही थे, दूसरे भद्रबाहु नहीं थे।

शिलालेख नं. ४

वर्ण्य कथन्तु महिमा भण भद्रबाहो
मोहोरुमल्लमदमर्दनवृत्तवाहो ।
यच्छिष्यताप्तसुकृतेन च चन्द्रगुप्त
सुश्रूषते स्म सुचिर वनदेवताभि ।

अर्थ- भला कहो तो सही कि मोहरूपी महामल्ल के मद को चूर्ण करने वाले श्री भद्रबाहु स्वामी की महिमा कौन कह सकता है जिन के शिष्यत्व के पुण्यप्रभाव से वनदेवताओ ने चन्द्रगुप्त की बहुत दिनों तक सेवा की।

शिलालेख नं. ५

तदन्वये शुद्धमतिप्रतीते समग्रशीलामलरत्नजाले।
अभूद्यतीन्द्रो भुवि भद्रबाहु पय पयोधाविव पूर्णचन्द्र ।।
भद्रबाहुरग्रिमस्समग्रबुद्धिसम्पदा
शुद्धसिद्धशासन सुशब्दबन्धसुन्दरम् ।
इद्धवृत्तिरत्र बद्धकर्मभित्तपोद्ध
ऋद्धिवर्द्धितप्रकीर्तिरुद्धधीर्महर्द्धिक ।।
यो भद्रबाहु श्रुतकेवलीना
मुनीश्वराणामिह पश्चिमोपि।
अपश्चिमोभूद्विदुषा विनेता

सर्वश्रुतार्थप्रतिपादनेन।।

यदीयशिष्योजनि चन्द्रगुप्त

समग्रशीलानतदेववृन्द्ध ।

विवेशयत्तीव्रतपःप्रभावात् ।

प्रभूतकीर्तिभुंवनान्तराणि।।

भावार्थ- जिसमें समस्त शीलरूपी रत्नसमूह भरे हुए हैं और जो शुद्धबुद्धि से प्रख्यात है उस वश में समुद्र में चन्द्रमासमान श्री भद्रबाहु स्वामी हुए।१।

समस्त बुद्धिशालियों में श्री भद्रबाहु स्वामी अग्रेसर थे। शुद्ध सिद्ध शासन और सुदर प्रबन्ध से शोभासहित बढी हुई है व्रत की सिद्धि जिनकी तथा कर्मनाशक तपस्या से भरी हुई है कीर्ति जिनकी ऐसे ऋद्धिधारक श्री भद्रबाहु स्वामी थे।२।

जो भद्रबाहु स्वामी श्रुतकेवलियों में अन्तिम थे किंतु अखिल शास्त्रों का प्रतिपादन करने से समस्त विद्वानों में प्रथम थे।३।

जिनके शिष्य चन्द्रगुप्त ने अपने शील से बडे-बडे देवों को नम्रीभूत बना दिया था। जिन चन्द्रगुप्त के घोर तपश्चरण के प्रभाव से उनकी कीर्ति समस्त लोको में व्याप्त हो गई है।४।

इन शिलालेखों से यह स्पष्ट सिद्ध हों गया कि सम्राट् चन्द्रगुप्त अतिम श्रुतकेवली के शिष्य होकर मुनि हुए थे और उनके साथ चन्द्रगिरि पर्वत पर उन्होंने तपस्या की थी। पूर्व अवस्था में चन्द्रगुप्त एक अच्छे प्रसिद्ध शूरवीर सम्राट् थे इस कारण शिलालेखो में भी उनका नाम प्रभाचन्द्र (मुनिदीक्षा के समय का नाम) न लेकर अधिकाश चन्द्रगुप्त ही लिया गया है। उनके नाम के ऊपर ही कटवप्र पर्वत का नाम चन्द्रगिरि रख दिया गया एव उनके पौत्र सम्राट् अशोक द्वारा निर्माण कराये गये इस पर्वत के जैन मदिरों का नाम "चन्द्र गुप्तवस्ती" प्रसिद्ध हुआ।

इसके सिवाय गौतम क्षेत्र के ऊपर भाग में बहने वाली कावेरी नदी के पश्चिम भाग में जो रामपुर ग्राम है उसके अधिपति सिंगरी गौडा के खेत में जो दो शिलालेख मिले हैं वे इस प्रकार हैं।

शिलालेख ६

श्री राज्य विजय सम्वत्सर सत्यवाक्य परमानदिगलु आलुत्त नाल्किनेय वर्षात् मार्गशीर्ष मासद पेरतले दिवासभागे स्वस्ति समस्तविद्यालक्ष्मीप्रधाननिवासप्रभव प्रणत सकल सामन्त समूह भद्रबाहु चन्द्रगुप्त मुनिपति चरणलाञ्छनाञ्चित विशालसिरकलवप्पु गिरिसनाथ वेलगुलाधिपति गणधा श्रीवर मतिसागर पण्डितभट्टार वेसदोल अन्नयनु देव कुमारनु घोरनु इलदुर आरण्णे वाणपल्लिय कोण्ड श्री के सिंग तले नेरिपुल कट्टन कट्ट सुडर के कोट्टस्थिति क्रमवएन्तुव यन्दोदे बडर नियनीर वयगीय गिड वरिस पेत्तेन्दि ऐरदनेय वरिसमेड अलविमुरने चवरिस दन्दिगे यडलवीयेलाकलाक यल्ल इल्द युल्लु सलगु।

अर्थ- समस्त लक्ष्मी तथा सरस्वती का निवास स्थान और समस्त सामन्तों द्वारा नमस्कृत श्री भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त महामुनि के चरणों से मडित कटवप्र पर्वत सदा विजयशील रहे।

सत्य वाक्य परमानदी महाराज के राज्य के चौथे वर्ष में मार्गशीर्ष शुक्लाष्टमी को श्री मतिसागर पडित भट्टार की आज्ञानुसार अन्नय्या, देवकुमार ओर घोर इन तीनो ने बेन्पल्ली के खरीददार केशी के लिए तेल्लुर में सेतु निर्माण के बदले में निम्न लिखित दान दिया है।

सब ग्रामनिवासियों ने खेती के लिए इस सेतु से जल लेने का प्रयोग किया। प्रथम वर्ष में बिना कुछ दिये ही जल का उपयोग करना दूसरे वर्ष में कुछ देकर उपयोग कर। और तीसरे वर्ष में जो कुछ दिया जायगा वह निश्चित रूप १६- से निर्धारित कर समझा जाय।

शिलालेख ७

(९ वीं शताब्दी)

भद्रमस्तु जिन शासनाय। अनवरत अखिलसुरासुर नरपति मौलिमाला चरणारविन्द युगल सकल श्री राज्य युवराज्य भद्रबाहु चन्द्रगुप्तमुनिपतिमुद्रणाड्कित विशाल मान जगल ललामायित श्री कलवप्पु तीर्थसनाथ वेलगुलनिवासि श्रव (म) णसघ स्याद्वादाधार भूतरप्पाश्री मत्स्वस्ति सत्यवाक्योड्गुणि वर्मा धर्म महाराजाधिराजकु बलाल पुरवरेश्वर नन्दि गिरिनाथ स्वाति समस्त भुवनविनुतगड्गकुलगगननिर्मलतारापतिजलधि जलविपुलविलयमे खलाकलापालङ्कृतैलाधिपत्य लक्ष्मी स्वयम्वृत पतिवद्य अगणितगुणगणभूषणभूषित विभूति श्री मत्परमानदिगलु येरेयप्पसर इलुचगि परमनदि गल कलावसाद आय्यरप्पा परपिड्गे कुमारसेन भट्टारपदे स्थितिविलय अक्किय सोल्लुगेय विट्टिउनट्टपर मन यल्लाकलकम् सर्ववाधा परिहर आगे विदिसिदार इदनलिड अडोन कोडन पशुव परवर केरेय अर्भेय वर्नासियुन अलिड पञ्च महापातक।

देवस्व तु विष घोर न विष विषमुच्यते।
विषमेकाकिन हन्ति देवस्व पुत्रपौत्रक।।

यह शिलालेख क्यातनहल्ली ग्राम के दक्षिण भाग में जो बस्ती है वहाँ पर है।

तात्पर्य- जैन धर्म का कल्याण हो। समस्त देव राक्षस तथा राजा लोगो के मस्तक झुकाने से मुकुटमणि की चमक से प्रकाशमय चरणकमलवाले श्री भद्रबाहु स्वामी को नमस्कार करो। मोक्षराज्य के युवराज, स्याद्वाद के सरक्षक, वेलगुलस्थ श्रमण सघ के अधिपति अपने चरण कमलसे जगद्भूषण कटवप्र पर्वत को पवित्र करने वाले श्रीमान् भद्रबाहु स्वामी और चन्द्रगुप्त मुनि हमारा सरक्षण करें। गड्गराजकुलाकाश के निष्कलक चन्द्रमा और कुवलयपुर तथा नन्दगिरि के स्वामी श्री सत्यवाकोड्गुणि वर्मा धर्ममहाराजाधिराज की स्तुति समस्त ससार ने की है। समुद्र मेखला से परिवेष्टित तथा पृथ्वी के स्वयम्वरित पति सकलगुण विभूषित श्री परमानदि एयेरप्पसरप्पाने जिनेन्द्र भवन के लिए श्री कुमारसेन भट्टारक को निम्नलिखित दान दिया है।

एक ग्राम स्वच्छ चावल बेगार घी इन दान दी हुई वस्तुओ के अपहरण करने वालों को हिंसा और पचमहापाप का पातक लगेगा।

केवल विष ही विष नहीं होता है किन्तु देवधन को भी घोर विष समझना चाहिये क्योंकि विष तो भक्षण करने वाले केवल एक प्राणी को मारता है किन्तु देवधन सारे परिवार का नाश कर देता है।

इन शिलालेखों से भी हमारी पूर्वोक्त बात पुष्ट हो गई। इस कारण तात्पर्य यह निकला कि अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी के समय मालवा आदि उत्तर देशों में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष अवश्य पडा था। उसके प्रारम्भ होने से पहले ही भद्रबाहु स्वामी अपने मुनिसघ सहित दक्षिण देश को रवाना हो गये थे। वहाँ कटवप्र पर्वत के समीप निमित्त ज्ञान से उनको अपना मृत्यु समय निकट मालूम हुआ इसलिए अपने पास केवल नव दीक्षित चन्द्रगुप्त अपरनाम प्रभाचन्द्र को अपने पास रखकर कटवप्र पर्वत पर समाधिमरण धारण कर ठहर गये और समस्त मुनि सघ को चोलपाण्ड्य देश की तरफ भेज दिया।

शास्त्रीय-प्रमाण

अब हम इस विषय में पुरातन ग्रथों का प्रमाण उपस्थित करते हैं जिससे कि पाठक महानुभावों को उक्त कथा की सत्यता और भी दृढ रूप से मालूम हो जावे।

राजबली कथा- नामक कर्नाटक भाषा में एक अच्छा प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रथ है जो कि देवचन्द्र ने सवत् १८०० में लिखा है। उस ग्रथ में ग्रथ लेखक ने स्पष्ट लिखा है कि-

"सम्राट् चन्द्रगुप्त अतिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु से मुनिव्रत की दीक्षा लेकर मुनि हुआ था। मुनि दीक्षा देते समय श्री भद्रबाहु स्वामी ने उसका नाम "प्रभाचन्द्र" रक्खा था। बारह वर्ष के दुष्काल के समय वह भद्रबाहु के साथ दक्षिण देश आया था और वहाँ पर भद्रबाहु के समाधिमरण करने के समय उनकी वैयावृत्य के साथ कटवप्र (कलवप्पू) पर्वत पर रहा था।"

श्री हरिषेणाचार्यकृत "वृहत्कथा कोष" नामक ग्रथ में भी जो कि सवत् ९३१ में बना है श्री भद्रबाहु स्वामी और सम्राट् चन्द्रगुप्त के विषय में उपर्युक्त लेख के अनुसार ही उल्लेख है।

श्री रत्नानद्याचार्य ने स १४५० में जो भद्रबाहु चरित्र नामक ग्रथ बनाया है उसमें लिखा है-

चन्द्रावदातसत्कीर्तिचन्द्रवन्मोदकर्तृणाम् ।
चन्द्रगुप्तिनृपस्तत्राचकञ्चारुगुणोदय ॥७।

द्वितीय परिच्छेद

राजंस्त्वदीयपुण्येन भद्रबाहु गणाग्रणी ।
आजगाम तदुद्याने मुनिसन्दोहसंयुत ।।२१।।

तृतीय परिच्छेद

चन्द्रगुप्तिस्तदावादीद्विनयान्नवदीक्षित
द्वादशाब्दं गुरोः पादौ पर्युपासेतिभक्तित ।।२।।
भवसप्तपरित्यक्तो भद्रबाहुर्महामुनि ।
अशनाय पिपासोत्थजिगाय श्रममुल्वणम् ।।३७।।
समाधिना परित्यज्य देहं गेहं रुजा मुनि।
नाकिलोकपरिप्राप्तो देव देवी नमस्कृत ।।३८।।
चन्द्रगुप्तिर्मुनिस्तत्र चञ्चच्चारित्रभूषणम् ।
आलिख्य चरणौ चारु गुरो. संसेवते सदा।।४०।।

भावार्थ- चन्द्र समान उज्ज्वल कीर्तिधारक, चन्द्रमातुल्य आनन्द कर[illegible] से विभूषित महाराज चन्द्रगुप्त उज्जयनी में हुए।

हे राजन् । आपके पुण्य बल से मुनिसघ के नेता अपने सघ सहित नगर के बाहर उद्यान में आये हैं।

तब नवदीक्षित चन्द्रगुप्त मुनि विनय से बोले कि मैं बारह वर्ष से अपने गुरु श्री भद्रबाहु स्वामी के चरण कमलों की उपासना करता हूँ।

तदनन्तर सात भय छोडकर महामुनि भद्रबाहु स्वामी ने बलवती क्षुधा और पिपासा को रोका।

श्री भद्रबाहुस्वामी रोगों के घर इस शरीर को समाधिपूर्वक छोडकर देव व देवियों से नमस्कृत स्वर्गलोक में पहुँच गये।

दीप्तिमान मुनिचारित्र से विभूषित चन्द्रगुप्त मुनि वहाँ पर अपने गुरु श्री भद्रबाहु स्वामी के चरणों को लिखकर उनकी सेवा करने लगे।

इसके आगे इसी ग्रंथ में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति का वर्णन पीछे लिखे अनुसार किया है।

इस प्रकार पुरातन ग्रथों से भी दिगम्बर सप्रदाय के अनुसार ही श्वेताम्बर मत को उत्पत्ति का वृत्तान्त मिलता है।

विदेशी इतिहासवेत्ताओं की सम्मति

मिस्टर बी, लुईस राइस महाशय ऐपग्राफिका कर्नाटिका में लिखते हैं कि-

चन्द्रगुप्त नि सन्देह जैन था और श्री भद्रबाहु स्वामी का समकालीन तथा उनका शिष्य था।

इन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन में लिखा हुआ है कि "सम्राट् चन्द्रगुप्त ने बी सी २९० में (ईस्वीय सन् से २९० वर्ष पहले) ससार से विरक्त होकर मैसूर प्रात के श्रवणवेलगुलमें जिन दीक्षा से दीक्षित होकर तपस्या की और तपस्या करते हुए स्वर्ग को पधारे।

इस प्रकार इस विषय में जितनी भी खोज की जावे ऐतिहासिक सामग्री हमारे कथन को ही पुष्ट करती है। इस कारण निष्पक्ष पुरातत्व खोजी महानुभावों को स्वीकार करना पडेगा कि श्री भद्रबाहु स्वामी तथा सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में बारह वर्ष का घोर दुष्काल पडा था उसके निमित्त से जो जैन साधु उत्तरप्रात में रहे वे विकराल काल के निमित्त से वस्त्र, पात्र, लाठी धारी हो गये और जो साधु श्री भद्रबाहु स्वामी के साथ दक्षिण देश को चले गये वे पहले के समान नग्न दृढ रहे। अर्थात् बारह वर्ष के दुष्काल ने सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय में जैनमत में श्वेताम्बर नामक एक नवीन पथ तैयार कर दिया।

इस प्रकार विक्रम सवत् से भी लगभग २०३ वर्ष पहले लिखे गये इस लेख से भी यह बात सत्य प्रमाणित होती है कि श्री भद्रबाहु स्वामी के समय में भारत वर्ष के उत्तर प्रान्त में १२ वर्ष का घोर दुष्काल पडा था और इस समय भद्रबाहु स्वामी अपने मुनिसघ को साथ लेकर दक्षिण देशों में विहार कर गये थे।

इसके सिवाय "दिगम्बर मत विक्रम स १३८ से प्रचलित नही हुआ बल्कि विक्रम सवत् से भी पहले विद्यमान था" इस बात को सिद्ध करने के लिए अनेक पुष्ट सत्य प्रमाण विद्यमान हैं। देखिये, ज्योतिष शास्त्र के प्रख्यात विद्वान् बराहमिहिर राजा विक्रमादित्य की (जिनके कि

स्मारक रूप में विक्रम सवत् उनकी मृत्यु होने के पीछे चला है।) राज सभा के नौ रत्नों में से एक रत्न थे। जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से भी सिद्ध होता है–

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकु–
वेतालभट्टघटखर्परकालिदासः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते.सभाया
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।।

इन ही वराहमिहिरने अपने प्रतिष्ठा काण्ड में एक स्थान पर यह लिखा है कि–

विष्णोर्भागवता मयाश्च सवितुर्विप्रा विदुर्ब्राह्मणा,
मातृणामिति मातृमंडलविद. शम्भो. समस्माद्विज.।
शाक्या सर्वहिताय शान्तमनसो नग्ना जिनाना विदु
र्ये य देवमुपाश्रिता स्वविधिना ते तस्य कुर्यु' क्रियाम् ।।

अर्थात्–वैष्णव लोग विष्णु की, मय लोग (सूर्योपजीवी) विप्र लोग ब्राह्मण क्रिया की, मातृ मडल की जानकार ब्रह्माणी, इन्द्राणी आदि माताओ की उपासना करें। बौद्धलोग बुद्ध की उपासना करें। और नग्न लोग (दिगम्बर साधु) जिन भगवान् का पूजन करें। अभिप्राय यह है जो जिस देव के उपासक हैं वे विधिपूर्वक उसकी उपासना करें।

वराहमिहिर के इस लेख से सिद्ध होता है कि दिगम्बर साधु राजा विक्रमादित्य के जीवनकाल में भी विद्यमान थे इस कारण श्वेतावरी ग्रथों ने जो विक्रम सवत् के १३७ वर्ष पीछे दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति बतलाई है वह असत्य है।

तथा– महाभारत जो कि ऋषि वेदव्यास ने विक्रम सवत् से सैकडों वर्ष पहले लिखा है उसमें एक स्थान पर ऐसा उल्लेख है–

"साधयामस्तावदित्युक्त्वा प्रतिष्ठतोत्तङ्कस्ते कु डले गृहीत्वा सोपस्यदथ पथि नग्न क्षपणकमागच्छन्त मुहुमुहुर्दृश्यमानमदृश्यमान च।"

अर्थात– उत्तङ्क नामक कोई विद्यार्थी कु डल लेकर चल दिया उसने रास्ते में कुछ दीखते हुए, कुछ न दीखते हुए नग्न मुनि को देखा।

महाभारत का यह उल्लेख भी सिद्ध करता है कि जैन साधुओ का दिगम्बर रूप ही प्राचीन काल से चला आ रहा है। पहले श्वेत वस्त्रधारी जैन साधु नहीं होते थे।

कुसुमाजलि ग्रथ के रचयिता उदयनाचार्य अपने ग्रथ के १६ वें पृष्ठ में पर लिखते हैं कि–

"निरावरणा इति दिगम्बरा "

अर्थात्– वस्त्र रहित यानी नग्न रूप दिगम्बर होते हैं।

न्यायमजरी ग्रथ के ग्रथकार जयन्त भट्ट ग्रथ के १६७ वें पृष्ठ में लिखते हैं–

क्रिया तु विचित्रा प्रत्यागम भवतु नाम। भस्मजटापरिग्रहो दडकमडलुग्रहण वा रक्तपटधारणं वा दिगंबरता वावलम्ब्यता कोऽत्रविरोध ।

अर्थात्- क्रिया अनेक प्रकार की होती है। शरीर से भष्म लगाना, शिर पर जटा रखना अथवा दड कमडलु का रखना या लाल कपड़े का पहनना अथवा दिगम्बरपने का (नगनरूप) अवलब ग्रहण करो, इसमे क्या विरोध है।

इस प्रकार इन ग्रथों में भी दिगम्बर मत की प्राचीनता का उल्लेख है।

तैतरीय आरण्यक के १० वें प्रपिटक के ६३ वें अनुवाक में लिखा है-

"कथा कौपीनोत्तरासगादीना त्यागिनो यथाजातरूपधरा निर्ग्रंथा निष्परिग्रहा ।" इति सवर्तश्रुति ।

अर्थात- (कथा, (ठडक दूर करने का कपडा) कौपीन (लगोट) उत्तरासग (चादर) आदि वस्त्रों के त्यागी, उत्पन्न हुए बच्चे के समान नग्न रूप धारण करने वाले, समस्त परिग्रह से रहित निर्ग्रंथ साधु होते हैं।)

सायणाचार्य का यह लेख भी विक्रम सवत् से बहुत पहले का है। इस लेख से भी दिगम्बर मत की प्राचीनता सिद्ध होती है क्योंकि इस वाक्य में साधु का जो स्वरूप बतलाया है वह दिगम्बर मुनिका ही नग्न, वस्त्र, परिग्रह रहित वेश बतलाया गया है।

इस प्रकार चाहे जिस प्राचीन ग्रथ का अवलोकन किया जाय उसमें यदि जैन साधु का उल्लेख आया होगा तो उसका स्वरूप नग्न दिगम्बर वेश में ही बतलाया गया होगा। श्वेताबर, पीताबर (सफेद पीले कपडे पहनने वाले) रूप में कहीं भी जैन साधु का उल्लेख नही मिलता है। इस कारण सिद्ध होता है कि श्वेताबर मत भद्रबाहु स्वामी के स्वर्गवास हुए पीछे दुर्भिक्ष के कारण भ्रष्ट होने से प्रचलित हुआ है और उसका प्रचार विक्रम सवत् की दूसरी शताब्दी से चल पडा है।

(सम्राट् चन्द्रगुप्त के पौत्र महाराज बिन्दुसार के पुत्र सम्राट् अशोक जो कि विक्रम सवत् से २०० वर्ष पहले हुआ है उसने राजसिंहासन पर बैठने के बाद २३ वर्ष तक जैन धर्म का परिपालन किया था ऐसा उसके कई शिलालेखों से सिद्ध होता है। उसके पीछे उसने बौद्धधर्म स्वीकार किया था। बौद्धधर्म स्वीकार करने के पीछे-

अशोक अवदान नामक बौद्ध ग्रथ में यों लिखा है कि

"राजा अशोक ने नग्न साधुओ को पौंड्रवर्द्धन में इसलिए मरवा डाला कि उन्होंने बौद्धों की पूजा में झगड़ा किया था।"

बौद्धशास्त्र के इस लेख से भी यह सिद्ध होता है कि विक्रम सवत् से पहले दिगम्बर जैन साधुओ का ही विहार भारत वर्ष में था।)

सम्राट् अशोक के पीछे ईसवी सवत् से १५७ वर्ष पहले (पुरातत्ववेत्ता श्री केशवलाल हर्वेदराय ध्रुव के मतानुसार ईसवी सवत् से २०० वर्ष पहले) कलिंग देश का अधिपति राजा खारवेल अपरनाम भिक्षुराज तथा महामेघवाहन बहुत शूरवीर, धर्मवीर, दानवीर प्रतापी राजा हुआ है। इसने मगध देश पर चढाई करके युद्ध द्वारा विजय प्राप्त् की थी। यह जैन धर्म का अनुयायी था। इसने राजगृह नगर में भगवान् ऋषभदेव की प्रतिमा की प्रतिष्ठा कराई थी। इस राजा खारवेल के समय में भी दिगम्बर जैन मत का अस्तित्व था जो कि खडगिरि उदयगिरि की गुफाओं में अकित तथा विराजित नग्न जैन प्रतिमाओ से सिद्ध होता है। ये गुफाएँ राजा खारवेल के समय में

तथा बहुत सी गुफाएँ ठससे भी पहले समय की बनी हुई हैं। इन गुफाओ में दिगम्बर जैन मुनियों का निवास होता था ऐसा वहाँ के शिलालेखों व अंकित मूर्तियों से सिद्ध होता है।

इन ही गुफाओ में से एक हाथी गुफा है। उसमें राजा खारवेल का शिलालेख है जो कि प्राकृत भाषा में १७ पक्तियों में खुदा हुआ है। वह इस प्रकार है–

१– नमो अरहन्तानं नमो सवसिधान वेरेन महाराजेन महामेघवाहनेन चेतराजवसवधेन पसथ सुभलखने (न) चतुरन्तलठानगुनोपतेन कलिङ्गाधिपतिना सिरिखारवेलेन–

अर्थात्– (अर्हन्तों को नमस्कार, सर्वसिद्धों को नमस्कार। वीर महाराज महामेघवाहन, चैत्रराजवशवर्द्धन, प्रशस्त (शुभ) लक्षण वाले कलिङ्गदेश के अधिपति श्री खारवेलने–

२– पन्दरसवसानि सिरि कुमारसरीरवता कीडिताकुमारकीडका ततो लेखरूपगणनाववहारविधिविसारदेन सवविजावदातेन नववसानि योवराज पसासित संपुणचतुविसतिवसो च दानवधमेन सेसयोवनाभिविजयवत्तिये

अर्थात्– पद्रह वर्ष कुमार शरीर में कुमारक्रीडा में बिताए फिर लेखन विद्या, गणितविद्या तथा अन्य व्यवहार विद्या में विशारद (कुशल) होकर एव (युवराज के योग्य) समस्त विद्याओ में कौशल प्राप्त करके नौ वर्ष तक युवराज पद पर रहा। पूर्ण चौबीस वर्ष के हो जाने पर दान धर्मवाला (खारवेल) यौवन के विजय, वृत्ति के लिए (राज्य शासन के लिए)

३– कलिंगराजवसपुरिसयुगे महाराजाभिसेचन पापुनाति मिसितमतो च पधमवसे वातविहितगोपुरपाकारनिवेसनं पाटिसखारयति कलिंग नगरिं खिबीर च सितल तडाग पाडियो च बधापयति सबुयान पतिसठापन च कारयति। पनतीसाहिं सतसहसेहि पकातिये रजयति।

यानी– कलिङ्ग देश के राजवश के पुरुषयुगमें राज्याभिषेक से पवित्र हुआ। राज्याभिषेक के पीछे पहले वर्ष में तूफान से टूटे हुए नगरद्वार कोट तथा महल की मरम्मत कराई। कलिग नगर की छावनी, शीतल तालाब के किनारे (घाट) बनवाए तथा पैंतीस लाख से (राज मुद्राओ से, सिक्कों से) बाग बनवाए। (इस प्रकार) प्रजा को प्रसन्न किया।

४– दितिये च वसे अमितमिता सातकणि पछिमदिस हयगजनररधबहुल दंड पठापयति कुसवान खतिय च सहायवता पत्त मसिकनगर।

अर्थात्– दूसरे वर्ष रक्षा करने के लिए शतकर्णी के पास हाथी, घोडे, मनुष्य, रथों से भरी हुई सेना पश्चिम दिशा को भेजी तथा कौशाम्बी के समीप (प्रयाग के पास) क्षत्रियों की सहायता से मसिक नगर को प्राप्त किया।)

५– ततिये च पुन वसे गन्धर्ववेददबुधो दपनतगीतवादित सदसनाहि उसवसभाजकारापनाहि च कीडापयति नगरी।

इथ चवुथे वसे विजाधराधिवास अहत पुव कलिङ्गपुबराजनमतित धमकूटस .(पृ) जित च निखितछत–

अर्थात्– तीसरे वर्ष गधर्व विद्या (गानविद्या) में प्रवीण (खारवेल) राजा ने गीत नृत्य वादित्र आदि द्वारा बहुत उत्सव कराकर नगर में क्रीडा कराई। चौथे वर्ष विद्याधरो से सेवित तथा कलिग के पूर्व राजपुरुषो के वदनीक धर्मकूट की पूजा की। तथा चढाये हुए छत्र–

६– भिंगारेहि तिरतनसपतयो सवरठिकभो जकेसादेवे दस यपति। पचमे च दानिवसे नदराजतिवससत ओघाटित तनसुली यटावाठी पनाडिनगर पवेस. राजसेय सदसणतो सवकरावण अनुगह अनेकानि सतसहसानि विसजति पोरजानपद।

भृ गारो से सर्व राष्ट्र के सरदारों को मानो रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) की श्रद्धा प्रदर्शित की। पाँचवें वर्ष नदराजा का त्रिवर्ष सत्र (तीन वर्ष तक चलने वाली दान शाला अथवा तालाब) उद्घाटित किया। तनसुलिया के मार्ग से एक नहर नगर में प्रवेश कराई। राज ऐश्वर्य दिखलाने के लिए उत्सव किया। नगर गॉव निवासिनी जनता पर लाखों उपकार किये।

७–८ सतम च वस पसासतोच .सवोतुकुंल ..अठमे च वसे. घातापयिता राजगहनप पीडापयति एतिन च कमपदानपनादेनसवत सेनवाहने विपमुचितु मधुर अपयातो।

अर्थात् –आठवें वर्ष में मार द्वारा राजगृही के राजा को पीडा पहुँचाई। इसके (खारवेलके) चरण प्रवेश के शब्द से वह (राजगृही का राजा) अपनी सेना, सवारी को छोडकर मथुरा भाग गया।

९– नवमे च पवरको कपरुखो हयगजरथसह यतसव ध्ररावसध . यसवागहन च कारयितु बमणानं दढिसार ददाति अरजाह्य (निवा) स महाविजयपासाद कारयति अठतिससतसहसेहि।

यानी– नौवें वर्ष एक वहुत सुदर अरहत भगवान् का निवास महाविजय नामक मदिर ३८ लाख मुद्राओ से (रुपयों से) बनवाया और कल्पवृक्ष घोडे-हाथी रथो के साथ तथा हावसयों जिसका ग्रहण कराने में ब्राह्मणो को बहुत ऋद्धि दी।

१०–११– दसमे च वसे .भारधवसपठान कारापयति डयतान च मनोरधानि उपलभता .ल पुवराजनिवेसित पाथुड गदभनगले नकासयति जनपद भावन च तेरसवससताक दमामरदेहसघात।

भावार्थ– दशवें वर्ष में .. (खारवेल राजा) भारत वर्ष की यात्रा को निकला। बनवाया जो तैयार थे उनके मनोरथ को जानकर गर्दभ नगर में पूर्व राजाओ से नियत किये हुए मार्ग के कर को (महसूल को) और जनपद भावना को (?) जो तेरह सौ वर्ष से था दूर किया।

१२– वारसम च व (स) हस हिवितासयन्तो उतराथराजानो मगधान च विपुल भयजनेतो हथिसगड्गाय पाययति मगध च राजान बहुपटिसासिता पादे वन्दापयति नन्दराजनितस अगजिनस गहरतन पडिहारहिअ मगध वसिवु नयरि, विजाधरु लेखिल वरानि सिहरानि नेवेसयति सतवसदान परिहारेन अभूतमकरिय च हथीनादानपरिहार... आहरापयति इधं सतस . सिनोवसि करोति।

अर्थात्– बारहवें वर्ष में उत्तर मार्ग के राजाओ को दुख देने वाले मगध के लोगो को बहुत भय उत्पन्न कराकर हाथियों को गड्गा का पानी पिलाया और मगध के राजा को कडा दड देकर अपने

पैरों नवाया। नन्दराजा से ली हुई प्रथम जिन (भगवान् ऋषभदेव) मगध में एक नगर बसाकर विद्याधरों से उकेरे हुए आकाश को छूने वाले शिखर हैं जिसमें (मदिर में) उसको स्थापित किया। सात वर्ष के त्याग का दान कर तथा अद्‌भुत अपूर्व पहले ऐसा कभी नही किया ऐसा) हाथियों का दान किया। लिवाया इस प्रकार सौ रहने वालो को वश किया।)

१३- तरेस मे वसे सुपवत विजयिचको केमारी पवते अरहतोप (निवासे) वींहिकाय निसिदियाय यपज के ..कालेरिखिता .(स) कतसमायो सुविहितान च सवदिसान (यानिन) तापसा (न ?) .सहताने (?) अरहन्तनिपिदियासमीपे पभारे वर कारुसमथ (थ) पतिहि अनेक योजनाहि. . पटाल के चेतके चबेडुरियगमे थभे पतिठापयति। पनतरिय सठि वससते राजमुरियकाले बोछिने च चोयठ अगसप्ति कुतरिय चुपादयति खेमराजा वधराजा स निखुराजाइ (न) म राजा पसन्तो सनतो अनुभवतो (क) लाणानि गणविसेस कूसलो सवपासण्डपूजको. तानसङ्कार को (अ) पतिहत चकिवाहनबलो चकधरो गुतचको पसन्तचको राजसिवसकुलविनिगतो महाविजयी राजा खारवेलसिरि।

(यानी-तेरहवें वर्ष में अपने विजयी राज चक्र को बढाया। कुमारी पर्वत (खडगिरि) के ऊपर अर्हन्त मदिर के बाहर निषद्या में (नशिया में) कालेरक्ष्य सर्व दिशाओ के महाविद्वानों और तपस्वी साधुओ का समुदाय एकत्र किया था। अर्हन्त की निषद्या के पास पर्वत के शिखर ऊपर समर्थ कारीगरों के हांथो से पातालक, चेतक और वैडूर्यगर्भ में स्तम्भ स्थापित कराये। मौर्य राज्यकाल के १६५ एक सौ पैंसठवें वर्ष में क्षेमराज का पुत्र वृद्धिराज उसका पुत्र भिक्षुराज नाम का राजा शासन करता हुआ। (उसने यह) कराया। विशेष गुणो में कुशल सर्व पाषण्ड पूजक सस्कार कराने वाला जिसका वाहन और सेना अजेय है चक्र का धारक है तथा निष्कटक राज्य का भोक्ता है राजर्षि वश में उत्पन्न हुआ है ऐसा महाविजयी राजा खारवेलश्री।)

यह सब कोई जानता है कि खडगिरि उदयगिरि लगभग २५०० वर्षों से दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र है। इस तीर्थक्षेत्र की विद्यमान गुफाओ से तथा अनेक शिला लेखो से प्रमाणित होता है कि यहाँ पर दिगम्बर जैन साधुओ का निवास प्राचीन समय में बहुत अच्छी सख्या में रहा है।

उपर्युक्त २१०० वर्षों के इस प्राचीन शिलालेख से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि भगवान् महावीर स्वामी का प्रभाव मगध, कलिंग (उडीसा) देशो मे भी बहुत अच्छा रहा है।

(मगध देश के शासक राजा आज से २४०० चौबीस सौ वर्ष पहले कलिग देश पर विजय पाकर वहाँ से भगवान् ऋषभदेव की मनोहर पूज्य प्रतिमा को ले आये थे जो कि राजा खारवेल ने ३०० तीन सौ वर्ष पीछे मगध के शासक नरपति पुष्य मित्र पर विजय पाकर फिर प्राप्त कर ली। इससे सिद्ध होता है कि २४०० वर्ष पहले के मगध और कलिगदेश के राजकुटुब दिगम्बर जैन धर्मानुयायी थे।)

मगध देश का प्राचीन राजवश (नदवश) दिगबर जैन धर्मानुयायी ही था यह बात सस्कृत नाटक **मुद्राराक्षस** से जो कि बहुत प्राचीन अजैन नाटक है, सिद्ध होता है। उसमें लिखा है कि नंदराज और उसके मन्त्री राक्षस को विश्वास में फसाने के लिए चाणक्य ने एक दूत को **जीवसिद्धि** नाम रखकर क्षपणक (दिगम्बर मुनि) बनाकर भेजा था। उस जीवसिद्धि के उपदेश को उस नदराज और राक्षस मन्त्री ने बहुत भक्ति पूर्वक श्रवण किया था।

तथैव भगवान् महावीर स्वामी के समय से अनेक शताब्दियो तक बगाल देश में भी दिगम्बर जैन धर्म का प्रभाव बहुत अच्छा रहा है। इस बात की साक्षी आज दिन भी वहाँ के स्थान-स्थान पर बने हुए अति प्राचीन भग्न दिगम्बर जैन मदिर तथा मनोहर दिगम्बर अर्हन्त प्रतिबिम्ब दे रहे हैं। इन प्रतिमाओ में अधिकतर दो हजार वर्षों से प्राचीन प्रतिमाएँ हैं ऐसा ऐतिहासिक विद्वानों का मत है।

(प्राच्यविद्यामहार्णव, क्विव कोष के रचयिता श्रीयुत नगेन्द्रनाथ वसु लिखित (सन् १९१३ में) आरकीलोजिकल सर्वे में उल्लेख है कि **वरसई** के पास कोसली के खडित स्थानो में भगवान् पार्श्वनाथ का एक प्रतिबिम्ब कुसुम्ब क्षत्रिय राजाओ के समय का दो हजार वर्ष पुराना है। इस प्रतिमा के दोनो ओर चार अन्य मूर्तियाँ हैं जिनमें से दो खड्गासन और दो पद्मासन हैं।)

(इसी प्रकार किचिड्ग और आदिपुर में भी कुसुम्ब क्षत्रिय राजाओ के समय की दो हजार वर्ष पुरानी प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। आदिपुर कुसुम्ब राजाओ की राजधानी थी। बगला देश की ये तथा अन्य सभी अर्हन्त मूर्तियाँ दिगम्बर नग्न ही हैं। उन पर लगोट, कृत्रिम चक्षु , मुकुट कुन्डल आदि का चिन्ह नही है। अधिकतर मनोहर अखडित पूज्य प्रतिमाओ पर सवत् आदि का लेख नही है। इससे सिद्ध होता है कि वे प्रतिमाएँ अवश्य ही दो हजार वर्ष पुरानी हैं क्योकि सवत् की प्रथा विक्रमादित्य राजा के समय से चली है जिसको कि आज (२०४९) वर्ष हुए हैं। विक्रम सवत् चालू हो जाने के पीछे जितनी भी प्रतिमाएँ निर्मित हुई है उन सब ही पर सवत् उल्लिखित हैं।

बगाल देश के वर्द्धमान, वीरभूम, सिंहभूमी, मानभूम आदि नगरो के नामों से प्रमाणित होता है कि इस देश में भी महावीर स्वामी का अच्छा प्रभाव रहा है क्योकि इन नगरो के नाम भगवान् महावीर स्वामी के अपरनाम वर्द्धमान, वीर आदि के अनुकरण रूप है। सिह महावीर स्वामी का खास चिह्न है।

इन सब प्रमाणो से सिद्ध होता है कि दिगम्बर मत उस समय से विद्यमान है जब कि श्वेताम्बर मत का नाम भी विद्यमान नही था , किंतु जैन धर्म का समूचा रूप दिगम्बरीय आकार में ही था।

अब हम कुछ अजैन ग्रथो के प्रमाण और उपस्थित करते हें जो कि दिगम्बर मत की प्राचीनता को सिद्ध करते हैं।

दो हजार वर्ष पहले होने वाले राजा विक्रमादित्य की राजसभा के ९ नो रत्नो में से एक प्रसिद्ध रत्न ज्योतिराचार्य वराहमिहिर अर्हन्त प्रतिमा का आकार वराहमिहिर सहिता में इस प्रकार लिखता है।

आजानुलम्बबाहु श्रीवत्साक प्रशान्तमूर्तिश्च।
दिग्वासास्तरुणो रूपाश्च कार्योऽर्हता देव ।।

अध्याय ५८ श्लोक ४५

अर्थात्- घुटनों तक लम्बी भुजाओ वाली, छाती के बीच मे श्रीवत्स के चिह्न वाली, शान्त मूर्ति नग्न, तरुण अवस्था वाली, सुन्दर ऐसी जैनियो के आराध्य देव की मूर्ति बनानी चाहिये।

वाल्मीकि ऋषिप्रणीत रामायण बालकाड के १४ वे सर्ग का २२ वॉ श्लोक ऐसे लिखा है-

ब्राह्मणा भुञ्जते नित्य नाथवन्तश्च भुञ्जते।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्च चापि भुञ्जते।।

अर्थात्– राजा दशरथ के यज्ञ में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय भोजन करते थे। तापसी (शैवसाधु) भोजन करते थे और श्रमण (नग्न दिगम्बर साधु) भी भोजन करते थे।

रामायण की भूषणटीका में श्रमण शब्द का अर्थ यों लिखा है–

"श्रमणा दिगबरा श्रमणा वातवसना इति निघटु '

अर्थात्– श्रमण, दिगम्बर (दिशारूपी वस्त्र पहनने वाले नग्न) अथवा वातवसन (वायुरूपी कपडे धारण करने वाले यानी नग्न) साधु होते हैं।

यह रामायण दो हजार वर्ष से भी अति प्राचीन ग्रथ बतलाया गया है। इस कारण इसके उपर्युक्त श्लोक से सिद्ध होता है कि कम से कम वाल्मीकि ऋषि के समय में भी दिगम्बर जैन साधु पाये जाते थे।

भगवत के ५ वें स्कन्ध के ५ वें अध्याय के २८ वें श्लोक में लिखा है–

एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशायनार्थ परमसुहद् भगवानृषमोपदेशोपशमशीलानामुपरतकर्मणा महामुनीना भक्तिवैराग्यलक्षण पारमहस्यधर्ममुपशिक्षमाण स्वतनयशतज्येष्ठ परम भागवत भगवज्जनपरायण भरत धरणिपालनायाभिषिच्य स्वय भवनरवोर्वरितशरीरमात्रपरिग्रह उन्मत्त इव गगनपरिधान प्रकीर्ण केश आत्मन्यारोपिताहवनीयो ब्रह्मावर्तात् प्रवव्राज।

अर्थात्– इस प्रकार अपने विनीत पुत्रो को लोगो पर प्रभाव रखने के लिए समझाकर, समस्त जनता के परमप्रिय भगवान् ऋषभदेव शान्त स्वभावी, सासारिक कार्यों से विरक्त महामुनियों को भक्तिवैराग्यवाले परमहसो के धर्म की शिक्षा देते हुए, भाग्यशाली, महापुरुषों की सेवा में तत्पर ऐसे सबसे बडे पुत्र भरत को पृथ्वी पालन के लिए राजतिलक करके शरीरमात्र परिग्रह के धारक, उन्मत के समान नग्न दिगम्बर वेश धारण किये, जिनके केश बिखरे हुए हैं ऐसे भगवान् ऋषभ देव व्रह्मावर्त से (विठूर देश से) सन्यास लेकर चले गये।

यह भागवत ग्रथ भी बहुत प्राचीन है। यह भी दिगम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता सिद्ध करता है।

अब हम कुछ बौद्ध ग्रथो के प्रमाण भी यहाँ उपस्थित करते हैं जो कि हमको श्रीयुत वा कामता प्रसाद जी जैन लिखित **"महावीर भगवान् और महात्मा बुद्ध"** नामक पुस्तक से प्राप्त हुए **हैं**। इन प्रमाणो से स्पष्ट सिद्ध होगा कि श्री महावीर स्वामी की छद्मस्थ अवस्था मे भी पार्श्वनाथ भगवान् के उपदेश का अनुकरण करने वाले मुनि नग्न दिगम्बर वेशधारी ही थे।

"डायोलाग ऑफ बुद्ध" नामक पुस्तक के 'कस्सप सिहनादसुत्त' में अनेक प्रकार के साधुओ की क्रियाओ का वर्णन आया है उसमे जैन साधुओ के अनुरूप ऐसा लिखा है–

"वह नग्न विचरता है, भोजन खडे होकर करता है, वह अपने हाथ चाटकर साफ कर लेता है, वह दिन में एक बार भोजन करता है" इत्यादि।

इस कथन से दिगम्बर मुनि का आचरण सिद्ध होता है।

आर्यसूर की जातककथाओ में से घटकथा में एक स्थान पर मदिरापान के दोष दिखलाते हुए यो लिखा है–

"इसके (मदिरा के) पीने से लज्जावान भी लज्जा खो बैठते हैं और वम्त्रो के कष्टो और बन्धनों से अलग होकर निर्ग्रन्थो की तरह नग्न होकर वे जन समूह से पूर्ण ऐमे राजमार्गों पर चलते हैं।"

इस लेख से एक तो जैन साधु का नग्न वेश प्राचीन सिद्ध हुआ दूसरे "निर्ग्रथ" नग्न दिगम्बर को ही कहते है यह भी सिद्ध हुआ।

दिव्यावदान ग्रंथ में एक स्थान पर लिखा है–

"कथ स बुद्धिमान् भवति पुरुषो व्यञ्जनावित ।
लोकस्य पश्यतो योऽय ग्रामे चरति नग्नक –"

अर्थात्– (वह (निर्ग्रन्थ जैन साधु) अज्ञानी पुरुष बुद्धिमान कैमे कहा जा सकता है जो देखने वाले लोगो के समुदाय में नग्न घूमता है।)

यहाँ पर जैन मुनियो की नग्न दशा की निन्दा की गई है, परन्तु इससे यह सिद्ध होता है कि जैन साधुओ का नग्न रूप प्राचीन समय से चला आता है।

धम्मपदकथा नामक ग्रथ के विशाखाबत्थू प्रकरण मे दूसरे भाग के ३८४ पृष्ठ पर विशाखा नामक एक सेठ पुत्री की कथा दी है जिसका कि पिता बौद्ध धर्मावलम्बी था और श्वसुरघर जैन धर्मावलम्बी था तथा वह स्वय बौद्ध साधुओ में भक्तिभाव रखती थी।

श्रावस्ती नगर में अपने श्वसुर (मिगार सेठ) के घर पहुँचने पर विशाखा को एक दिन ऐसा अवसर मिला कि उसके श्वसुरने अपने घर ५०० निर्ग्रथ साधुओ को भोजनार्थ आमन्त्रित किया। तदनन्तर उस सेठ ने विशाखा से उन साधुओ के चरणो पर प्रणाम करने को कहा। विशाखा निर्ग्रंथ साधुओ का नग्न रूप देखकर भाग आई और उसने कहा कि ऐसे निर्लज्ज नग्न पुरुष साधु नही हो सकते। जब नग्न निर्ग्रथोने यह जाना कि बुद्ध मिगार सेठ के घर मे मौजूद हैं तब उन्होने उसके घर को घेर लिया।विशाखाने अपने श्वसुर से बुद्ध का सत्कार करने को कहा। नग्न निर्ग्रन्थोने सेठ को वहाँ जाने से रोका।

सुमागधा अवादान मे लिखा हे कि–

अनाथपिण्डक की पुत्री के घर में बहुत से नग्न साधु एकत्रित हुए इत्यादि।

इस प्रकार पिटकत्रयादि अनेक प्राचीन बौद्धशास्त्रों मे निर्ग्रन्थ जैन साधुओ के नग्न वेश का उल्लेख है। महात्मा बुद्ध के समय में भी जब तक कि भगवान् महावीर स्वामी को केवल ज्ञान नही हुआ था अतएव वे धर्मोपदेश भी नहीं देते थे। (क्योकि तीर्थंकर सर्वज्ञ होने के पहले उपदेश नहीं देते हैं ऐसा नियम है) नग्न जैन साधु पाये जाते थे। इससे यह स्वत सिद्ध हो जाता है कि श्री पार्श्वनाथ भगवान् के उपदेश प्राप्त उनकी शिष्यपरम्परा के साधु भी नग्न ही होते थे। इस कारण श्वेताबरीय ग्रथो का यह कथन असत्य तथा निराधार प्रमाणित होता है कि श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर की शिष्यपरम्परा के महाव्रत्तधारी साधु वस्त्र पहनते थे।

वारॅनफ साहिब का मत है कि जैन साधु ही नग्न होते थे और बुद्ध नग्नता को आवश्यक नही समझते थे।

श्री सम्मेदशिखर तीर्थक्षेत्र के इजकशन केस का फैसला देते हुए राची कोर्ट के प्रतिभाशाली प्रख्यात सब जज्ज श्रीयुत फणीन्द्रलाल जी सेन लिखते हैं कि–

"श्वेताम्बरो का कहना है कि दिगम्बर आम्नाय श्वेताम्बरो के पीछे हुई है परन्तु There is authoritative pronouncement that the Digamber must have existed from long before the Swetambari sect was formed

अर्थात्– (इस बात के बहुत दृढ प्रमाण हैं कि **श्वेताम्बरी जेनियो के पहले दिगम्बर जैनी बहुत पहले से मौजूद थे।**)

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिया के ११ वें ऐडीशन के १२७ वे पृष्ठ पर लिखा है कि श्वेताम्बर लोग ६ठी शताब्दी से पाये गये हैं। दिगम्बरी वही प्राचीन निर्ग्रथ हैं जिनका वर्णन बौद्ध की पाली पिटको में आया है।

(वेदान्त सूत्र के शाङ्करभाष्य में द्वितीय अध्याय, दूसरा पाद ३३ वें सूत्र "नैकस्मिन्नसभवात्" की टीका मे यो लिखा है–

"निरस्त सुगतसमय **विवसनसमय** इदानी निरस्यते। सप्त चेपापदार्था सम्मता जीवाजीवास्त्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षा नाम।"

यानी– बौद्ध मत का खडन किया अब वस्त्र रहित दिगम्बरो का मत खडित किया जाता है। इनके सिद्धान्त में जीव ओर अजीव आस्रव बन्ध सवर निर्जरा और मोक्ष ये सात पदार्थ है।

इस प्रकार इस ग्रथ में भी जेन धर्म को दिगम्बरो के नाम से सम्बोधन किया गया है।)

सर विलियम हटर साहब लिखित "दी इन्डियन ऐम्पायर" (भारत राज्य) पुस्तक के २०६ वें पृष्ठ पर लिखा है।

"दक्षिणी वौद्धों के शास्त्रो में भी नग्न जेन दिगम्बरो के ओर भले प्रकार बौद्धो के बीच में सम्वाद होने की एक बात लिखी है।"

"जैनमित्र" के भाद्रपद कृष्णा द्वितीया वीर स २४३५ के (१० वा वर्ष १९–२० वा अक) १० वें पृष्ठ पर मिस्टर वी ल, विसराइस सी आई ई के लेखका सार भाग यो प्रकाशित हुआ है–

"समय के फेर से दिगम्बर जैनियो मे से एक विभाग उठ खडा हुआ जो इस प्रकार के कट्टर साधुपने से विरुद्ध पडा। इस विभाग ने अपना नाम "श्वेताम्वर" रक्खा। यह बात सत्य मालूम होती है **कि अत्यत शिथिल श्वेताम्बरियो से कट्टर दिगम्बरी पहले के है।**"

जर्मनी के प्रख्यात विद्वान् प्रोफेसर हर्मन जैकोबीने श्वताम्बरीय ग्रथ उत्तराध्ययन का अग्रेजी अनुवाद किया है उसमें दूसरे व्याख्यान के १३ वे पृष्ठ पर उन्होने लिखा है कि–

"जब एक नग्न साधु जमीन पर पडेगा उसके शरीर को कष्ट होगा।"

इसके आगे उन्होने सातवे व्याख्यान के २९६ वे (२१) वें पृष्ठ पर यो लिखा है–

"वह जो कपडे धोता है ओर सहारता हे नग्न मुनि होने से बहुत दूर है।"

इस प्रकार एक निष्पक्ष दार्शनिक तत्ववेत्ता विद्वान् भी श्वेताबरीय ग्रथ द्वारा नग्न दिगम्बर साधु के महत्व का स्पष्ट उल्लेख करता है। श्रीयुत नारायण स्वामी ऐयर् बी ए एल एल बी संयुक्त मन्त्री थियोसोफिकल सोसायटी अडयार मदरासने बबई में ता, २० से २७ जून सन् १९१७ में **"हिंदूसाधु" के विषय पर व्याख्यान दिये थे उनमे से उन्होने एक व्याख्यान मे जो कहा था उसका हिंदी अनुवाद यह है कि –**

"दिगम्बरपना साधु की सर्वोच्च अवस्था है। साधु उच्च दशा पर पहुचने के लिए आकाश के समान नग्न हो।"

मिस्टर ई वेस्टलेक एफ आर ए आई फोर्डिग ब्रजने लदन के डेलीन्यूज मे १८ अप्रैल सन् १९१३ मे लिखा है कि–

"इस विषय पर अभ्यास करने से मै कह सकता हूँ कि जे एफ विस्किनसन साहिब का यह कथन कि जो जातियॉ वस्त्र नही पहनती उनका सच्चरित्र सर्व से ऊचा होता है यात्रियों के द्वारा पूर्ण प्रमाणित है। यह सच है कि वस्त्र पहनना कला कोशल ओर उच्च दरजे की सभ्यता मे माना जाता है। परन्तु इससे स्वास्थ्य और सच्चरित्र इतनी नीची दशा के रहते है कि कोई भी वस्त्रधारी सभ्यजन उच्चतर दशा पर पहुँचने की आशा नही कर सकता।"

इन्डियन सेन्टिनेरी (जुलाई १९००) पुस्तक न ३० में अलब्रेट वेवर द्वारा लिखित "भारत मे धार्मिक इतिहास" नामक लेख में लिखा है कि–

"दिगम्बर लोग बहुत प्राचीन मालूम होते है क्योकि न केवल ऋग्वेद सहिता में इनका वर्णन "मुनय वातवसना" अर्थात पवन हो हैं वस्त्र जिनके इस तरह आया है अपितु सिक्दर के समय में जो हिंदुस्थान के जैन सूफियो का प्रसिद्ध इतिहास है उससे भी यही प्रगट होता है।"

रेव जे स्टेवेन्सन डी डी प्रेसीडेन्ट रॉयल एशियाटिक सोसायटी ने ता २० अक्टूबर सन् १८५३ को एक लेख पढा था जो कि सोसायटी के जर्नल जनवरी १८५५ में छपा है। इस लेख मे बौद्धो के ग्रथों में आये हुए "तितिथय" (तीर्थक) शब्द का तथा यूनानी ग्रथो में आये हुए जैन सूफी शब्द का अर्थ क्या है ? इन दोनो शब्दो का अर्थ "दिगम्बर जैन" ही है अथवा और कुछ ? इस बात पर विवेचन करते हुए आप एक स्थान पर लिखते हैं कि वे तीर्थक तथा जैनसूफी दिगम्बर जैन ही थे।

आपके मूल लेख का अनुवाद यह है–

"इन तीर्थको में दो बडी विशेष बाते पाई जाती हैं तथा जो जैनियो के सबसे प्राचीन ग्रथो और प्राचीन इतिहास से ठीक–ठीक मिलती हैं। वे ये हैं कि एक तो उनमें दिगम्बर मुनियो का होना और दूसरे पशुमाँस का सर्वथा निषेध। इन दोनो में से कोई बात भी प्राचीन काल के ब्राह्मणो और बौद्धों मे नही पाई जाती है।"

जैन सूफियो के विषय में आपने यह लिखा है–

"क्योंकि दिगम्बर समाज प्राचीन समय से अब तक बराबर चला जा रहा है। (लेख मे इसकी पुष्टि के अन्य कारण भी वतलाये हैं) इससे में यह ही तात्पर्य निकालता हूँ कि (पश्चिमीय भारत में जहाँ जैन धर्म अब भी फैला हुआ है जो जैन सूफी यूनानियो को मिले थे वे जैन थे, न तो वे ब्राह्मण थे और न बौद्ध। तथा तक्षशिला के पास सिकन्दर को इन्ही दिगम्बरियो का एक सघ मिला था जिन दिगम्बरियो मे से एक **कालानस** नामधारी फारस देश तक सिकन्दर के साथ गया था।"

डॉक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम ए प्रिसिपल सस्कृत कालेज कलकत्ता लिखते है कि–

"जैनधर्म बौद्धधर्म से प्राचीन है। निर्ग्रन्थो तथा नाथपुत्र का वर्णन बौद्धो के सबसे प्राचीन पालीग्रथ **त्रिपिटक** में आया है जो सन् ईसवी से ५०० वर्ष पहले का है। सन् ईसवी के १०० वर्ष पहले एक संस्कृत मे ग्रथ महायान नाम का बना है उसमें खास दिगम्बर शब्द भी आया है।"

इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका जिल्द २५ ग्यारहवीं बार (सन १९११ में) प्रकाशित उसमें इस प्रकार उल्लेख है–

"जैनियो में दो बडे भेद है एक दिगम्बर दूसरा श्वेताम्बर। श्वेताम्बर थोडे काल से शायद बहुत करके ईसा की ५ वी शताब्दी से प्रगट हुआ है। दिगम्बर निश्चय से लगभग वे ही निर्ग्रन्थ हैं जिनका वर्णन बौद्धो की पाली पिटकोमें (पिटकत्रय ग्रथ में) आया है। इस कारण ये लोग (दिगम्बर) ईसा से ६०० वर्ष पहले के तो होने ही चाहिये।

राजा अशोक के स्तम्भो में भी निर्ग्रन्थो का उल्लेख हैं (शिलालेख न २०) श्री महावीर जी औ र उनके प्राचीन मानने वालों में **नग्नभ्रमण करने की एक बहुत बाहरी विशेषता थी जिससे शब्द "दिगम्बर"** है। इस क्रिया के (नग्न भ्रमण करने के) विरुद्ध गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को खासतौर से चिताया था। तथा प्रसिद्ध यूनानी शब्द जैन सूफी में इसका (दिगम्बर का) वर्णन है। मेगस्थनीज ने (जो राजा चन्द्रगुप्त के समय सन ईस्वी से ३२० वर्ष पहले भारत वर्ष में आया था।) इस शब्द का व्यवहार किया है। यह शब्द (दिगम्बर शब्द) बहुत योग्यता के साथ निर्ग्रन्थों को ही प्रगट करता है"।

ख– पुरातन बौद्ध, सनातनी, यूनानी आदि अजैन ग्रथो में जहाँ कही भी जैन साधुओ का तथा पूज्य अर्हन्त प्रतिमाओ का वर्णन आया है वहाँ पर नग्न दिगम्बर रूप का ही उल्लेख है।

ग– प्रख्यात भारतीय तथा यूरोपीय ऐतिहासिक विद्वान् दिगम्बर सम्प्रदाय को श्वेताम्बर सम्प्रदाय से पुरातन बतलाते हैं।

४– केवल ज्ञान प्रगट हो जाने पर अर्हन्त भगवान् को भूख नही लगती। अनन्तसुख, अनन्त बल प्रगट हो जाने से किसी भी प्रकार की शारीरिक तथा मानसिक पीडा नही होती। इस कारण प्रमादजनक कवलाहार वे नही करते है।

५– केवल ज्ञानी अनन्त सुख सम्पन्न होते है इस कारण उनके ऊपर मनुष्य, देव, पशु, आदि के द्वारा किसी भी प्रकार उपद्रव होकर उनको, दु ख प्राप्त नही हो सकता।

६– अर्हन्त भगवान् की प्रतिष्ठित प्रतिमा पर मुकुट, कु डल, हार, आदि आभूषण तथा चमकीले वस्त्र पहनाना जैन सिद्धात के विरुद्ध है– अर्हन्त भगवान् का अवर्णवाद है, क्योकि अर्हंतदेव पूर्ण वीतराग होते है तथा उनकी प्रतिमा बनवाकर दर्शन, पूजन, स्तवन आदि करने का उद्देश्य भी वीतरागता प्राप्त करना है।

७– मुक्ति प्राप्त करने का साधन उत्तम साधु बनकर तपस्या करना है। ऐसा करने से ही यथाख्यात चारित्र, उत्तम शुक्ल ध्यान प्राप्त होता है। उत्तम साधु (जिनकल्पी मुनि) वस्त्र रहित नग्न ही होता है और साधु के नग्न वेश के निमित्त से ही मुक्ति प्राप्त होती है। अतएव अनेक दोष जनक वस्त्रो को धारण करने वाली स्त्रियॉं मुक्ति प्राप्त नही कर सकती क्योकि उनके शरीर के अगोपागों की रचना इस प्रकार होती है कि वे नग्न होकर तपस्या नही कर सकती हैं और न उनमे घोर निश्चल तपश्चरण करने की उत्तम शक्ति होती है। इस कारण स्त्री को मुक्ति कहना असत्य बात है।

८– जैन सिद्धात के अनुसार (श्वेताबरीय सिद्धात शास्त्रो के अनुसार भी) तीर्थकर पद पुरुष को ही प्राप्त होता है। इस कारण स्त्री को तीर्थकर पदधारिणी कहना भी असत्य है।

९– जैन धर्म स्वीकार किये बिना मनुष्य को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नही हो सकता और जैन सिद्धात के अनुसार आचार धारण किये बिना सम्यक्चारित्र नही हो सकता इसलिए अजैन मार्ग का अनुसरण करते हुए (अन्यलिङ्ग धारण करते हुए) मनुष्य को मुक्ति प्राप्त नही हो सकती।

१०– मुक्ति प्राप्त करने के लिए परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग करना अनिवार्य है। गृहस्थ परिग्रह का पूर्णरूप से त्याग कर नही सकता इस कारण गृहस्थाश्रम से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होना असभव है।

११– तीन मास से भी आठ दिन कम का कच्चा शरीर पिण्ड एक माता के गर्भाशय से निकाल कर अन्य माता के उदर में रख देना असभव है क्योकि ऐसा करने से नाभितन्तु टूट जाते हैं और गर्भस्थ जीव की मृत्यु हो जाती है। इस कारण महावीर स्वामी के गर्भ को देवानदा ब्राह्मणी के उदर से निकाल कर त्रिशला देवी के गर्भाशय में पहुँचाने की और वहाँ पर वृद्धि होने की बात सर्वथा असत्य है।

१२– श्वेताम्बरीय शास्त्रो में अछेरे बताये गये हैं जिनका कि वास्तविक अर्थ "**आश्चर्य कारक बातें**" होता है। उन अछेरो में से १– केवली भगवान् पर उपसर्ग २–ब्यासी दिन के गर्भ का अपहरण, ३– स्त्री तीर्थकर, ४– सूर्य चन्द्र का अपने विमानो सहित उतर कर मध्यलोक में आना, ५– हरिवश की उत्पत्ति और ६– चमरेन्द्र का उत्पात ये अछेरे प्रकृति विरुद्ध, जैन सिद्धान्त विरुद्ध, असभावित कल्पनाओ के रूप में है, इस कारण सर्वथा असत्य है।